लेखक की अन्य रचनाएँ

Economic Planning : Principles & Problems

The British Economy

The American Economy

The Russian Economy (*in Press*)

संयुक्त राज्य अमरीका का आर्थिक विकास (प्रेस में)

ग्रेट ब्रिटेन का आर्थिक विकास

B. C. TANDON

बी० सी० टण्डन



१९६५

चैतन्य पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद

पाँच रुपया

प्रकाशक : चैतन्य पब्लिशिंग हाउस, ५-ए, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद—२
मुद्रक : अरुण कुमार राय, टेकनिकल प्रेस प्रा० लि०,
इलाहाबाद

प्राक्कथन

ग्रेट ब्रिटेन योरोप का एक महान देश है जिसके अन्तर्गत इंगलैंड, स्काटलैंड, तथा वेल्स आते हैं। उसका विस्तार अन्य देशों की अपेक्षा ७१वां है तथा क्षेत्रफल में विश्व का यह केवल ०·१८ प्रतिशत है। जनसंख्या की दृष्टि से इसका स्थान १०वां है और विश्व की केवल दो प्रतिशत जनसंख्या इस देश में निवास करती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इसका स्थान दूसरा है और विश्व के कुल व्यापार का १/१० भाग केवल इसी के द्वारा संचालित है। विश्व की प्रमुख पदार्थों के निर्यात का अकेला १/५ भाग आयात करता है तथा जहाज, इंजन, गाड़ी, बिजली के विभिन्न सामान, रासायनिक पदार्थ तथा यन्त्र आदि का यह प्रमुख निर्यातक है। यह एक ऐसा देश है जहाँ ८० प्रतिशत लोग शहर तथा नगरों में रहते हैं और केवल ४ प्रतिशत व्यक्ति खेती पर जीविकोपार्जन करते हैं—एक ऐसी सम्पन्न व्यवस्था जिसकी तुलना अन्य देशों से साधारणत: नहीं की जा सकती। अनेक अन्य लक्षण भी इस अर्थव्यवस्था में ऐसे हैं जिनके कारणवश इसका स्थान अत्यन्त प्रतिष्ठा-जनक है। यह स्टर्लिंग क्षेत्र का नायक है, जिस क्षेत्र में विश्व की एक-चौथाई जनसंख्या रहती है तथा कुल व्यापार का २/५ भाग केवल ब्रिटेन की स्टर्लिंग मुद्रा में ही होता है।

ऐसी दशा में अर्धविकसित तथा उन्नतिशील देशों में आर्थिक नियोजन प्रणाली के अन्तर्गत निर्माण कार्य के लिए ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रस्तुत पुस्तक में आदि काल से लेकर आधुनिक समय तक के आर्थिक विकास का वर्णन किया गया है। कृषि तथा औद्योगिक क्रान्ति; यातायात, व्यापार और संवादवहन में उत्थान; राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निर्माण में विदेशी व्यापार का असाधारण स्थान; कालान्तर में कल्याणकारी व्यवस्था की रचना तथा पूँजीवाद व्यवस्था के अन्य लक्षणों में सुधार आदि ऐसे पहलू हैं जो अत्यन्त रोचक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन अनेक वर्षों से संकटमय परिस्थितियों में उलझा हुआ है। उसकी औद्योगिक नीति में निदेशन की कमी पाई गई है। कुल निवेश शक्ति तथा प्रति-इकाई निवेश दर भी कम है। यहाँ आज भी ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ विनियोग बहुत कम है और साथ ही साथ ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ विनियोग आवश्यकता से अधिक हैं। उपभोग पदार्थों के मूल्य अन्य मूल्यों की अपेक्षा कम हैं, जिससे

उद्योग तथा सामान्य उद्यम को हानि है। सुरक्षा व्यय अत्यधिक है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विनियम संकट अनेक ओर से कठिनाइयां उत्पन्न कर रहा है। श्रमिक संघ के ढांचे और उनके कार्यों के सम्बन्ध में गंभीर आलोचना की जाती है तथा प्रबन्धक भी कम दोषी नहीं माने गए हैं। आज ब्रिटेन में अनेक क्षेत्रों में सुधार की आवश्यकता है और नई श्रम सरकार को गतिहीनता तथा निष्क्रियता जैसी प्रवृत्तियों को तोड़ने का कार्य असाधारण सा लग रहा है।

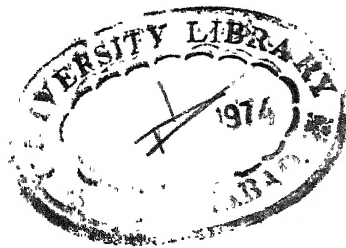
बहुत से प्रगतिशील तथा निर्धन देशों की दृष्टि इस समय ब्रिटेन की ओर है क्योंकि उसकी समाजवादी अथवा कल्याणकारी व्यवस्था एक ऐसी नवीन विचारधारा है, जिसको अपनाने का प्रलोभन भी है और जिससे भय भी है। भय इस बात का है कि उसकी अपनी व्यवस्था संकुचित तथा स्थैतिक न हो जाए और प्रलोभन यह है कि समाजवाद लोकतंत्रीय ढंग से चल सके। प्रत्येक देश आज यह जानना चाहता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन की अग्रगण्यता का स्थान बीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन की निष्क्रियता ने क्यों और कैसे ले लिया। इन सभी पहलुओं का अध्ययन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

मैं अपने विभाग के अध्यक्ष तथा प्रोफेसर डा० अमर नारायण अग्रवाल का विशेष रूप से आभारी हूँ जिनसे पठन-पाठन कार्य में मुझे सदा प्रेरणा मिली है। सत्य पूछा जाय तो उन्हीं के सुझाव पर हिन्दी में भी मैंने ब्रिटेन के आर्थिक विकास को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

वाणिज्य तथा व्यवसायिक प्रशासन विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय
२०-८-६५

बी० सी० टण्डन

विषय-सूची।



अध्याय १

मध्यकालीन अर्थव्यवस्थ

जागीरदारी कृषि-पद्धति

मध्यकाल में इंगलैण्ड मुख्यतः कृषि प्रधान देश था। भूमि सम्बन्धी व्यवस्था जागीरदारी (manorial) शैली की थी और आर्थिक दृष्टि से ग्रामीण कृषक समुदाय, जागीरदारी समाज का अन्तरंग अंग था। इस ग्रामीण कृषक समाज को "मैनर" (manor) कहते थे। आरम्भ में मैनर शब्द साधारणतया घर के लिये प्रयुक्त होता था परन्तु बाद में इस शब्द का उपयोग ऐसी बड़ी जागीर के लिए किया जाने लगा जहाँ परतन्त्र श्रमिक अपने मालिक के लाभ के लिए खेती करते थे।

इस प्रकार मैनर एक बड़ी जागीर थी जो साधारणतः गाँव के समान थी। मैनर आर्थिक और सामाजिक संगठन की इकाई थी। मध्यकाल में सम्पूर्ण भूमि किसी न किसी मैनर के अन्तर्गत थी और बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक जब तक कि वाणिज्य, उद्योग तथा शहरों का अधिक महत्व नहीं हो गया, सारी आबादी मैनोरियल संगठन के अन्तर्गत बसी थी। हर जागीर का एक भू-स्वामी हुआ करता था परन्तु यह आवश्यक नहीं था कि प्रत्येक भूस्वामी किसी न किसी जागीर का 'स्वामी' हो। वास्तव में तो राजा के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के पास भूमि का पूर्ण स्वामित्व नहीं था। इस अर्थ में भू-स्वामी तो भूमि का केवल धारक (holder) या लगानदार (tenant) था। परन्तु यह लगानदारी आजकल की लगानदारी से भिन्न थी। राजा से जो भूमि भू-स्वामी हस्तगत करते थे उसको आसानी से छीना नहीं जा सकता था, जब तक कि वे राज्यद्रोह में दोषी प्रमाणित न हो जायँ। इसलिए समस्त व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए भू-स्वामी उस भूमि या जागीर का स्वामी था जिस पर आश्रित कृषक समुदाय कृषि करता था। भू-स्वामी को राजा की ओर से भूमि अनुदान के रूप में मिलती थी। कभी कभी वे भूमि खरीद भी लेते थे परन्तु प्रायः वे भूमि या तो अनुदान के रूप में अथवा अन्य किसी प्रकार से हड़प लेते थे। राजा पुरस्कार (commendation) स्वरूप भूमि भू-स्वामी को देते थे। यह पुरस्कार भूस्वामी को उस स्थिति में प्राप्त होता था जब वह राजा को सैनिक सेवा या अन्य किसी प्रकार की सुविधा पहुँचाते थे। वास्तव में लगानदार (tenant) परतन्त्र व्यक्ति या खेतिहर श्रमिक (serf) ही थे जिनको

भूमि उनके बाप-दादाओं से मिली थी। वे स्थायी रूप से भूस्वामी के ऋण से दबे रहते थे। प्रायः भूस्वामी की कृपा तथा सुरक्षा का आश्वासन पाकर भी लोग उनकी भूमि पर बस जाते थे।

राजा स्वयं भी कुछ जागीरों का भूस्वामी था अर्थात् प्रत्यक्ष-रूप से कुछ जागीरों पर राजा का अधिकार था। ऐसी भूमि को राजा की भूमि या भूसम्पत्ति कहते थे। राजा की भूसम्पत्ति घटती बढ़ती रहती थी। यह उस स्थिति में बढ़ जाती थी जब कोई भूस्वामी बिना उत्तराधिकारी छोड़े मर जाता या राजद्रोही प्रमाणित हो जाता था। इसके विपरीत, जब राजा अपने किसी कृपापात्र व्यक्ति को भूमि अनुदान के रूप में देता तो उसकी भूसम्पत्ति कम हो जाती थी।

कुछ भूस्वामियों के पास सारे देश में बिखरी हुई कई जागीरें थीं। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी भूस्वामी थे जिनके पास केवल एक या दो गाँव थे। कुछ जागीरें गिरजाघरों के पास भी थीं। ऐसी भूमि के भूस्वामी पादरी या गिरजाघरों से सम्बन्धित अधिकारी हुआ करते थे। एक समय ऐसा भी था जब ऐसी जागीरों की संख्या काफी बढ़ गई थी, क्योंकि लोग गिरजाघरों को भूमि दान में अधिक देने लगे थे।

भूमि का वर्गीकरण. जागीरों में दो प्रकार की भूमि थी। पहली भूस्वामी की निकट की भूमि थी, जो डेमीन (demesne) कहलाती थी, और दूसरी जो चारों ओर दूर-दूर तक फैली थी, विलेनियम (villeinagium) कही जाती थी। इस दूसरी प्रकार की भूमि को आसामी किसानों (dependent cultivators) या खेतिहर श्रमिकों (serfs) के बीच बांटी जाती थी। कानूनी रूप से जोतों (होल्डिंग) पर उनका अधिकार नहीं था। प्रथा के अनुसार भूमि उनके पास थी और उनकी भूमि पर वास्तव में भूस्वामी का ही केवल अधिकार रहता था।

जागीर की भूमि विभिन्न कार्यों में प्रयुक्त होती थी और उपयोगिता की दृष्टि से सम्पूर्ण भूमि (अ) कृषियोग्य भूमि, (ब) चरागाह, और (स) बंजर भूमि में बँटी थी। लोगों का प्रमुख आर्थिक धंधा कृषि था; अतः कृषियोग्य भूमि बड़ी महत्वपूर्ण थी। साधारणतः जागीर में दो या तीन कृषि-योग्य क्षेत्र थे। प्रत्येक कृषि-योग्य क्षेत्र को चौड़ी-चौड़ी पट्टियों (belts) या फरलांग (furlongs) में बांट दिया जाता था। चौड़ी पट्टियों को संकरे खेतों में पुनर्विभाजित कर दिया जाता था। इन संकरे खेतों को 'स्ट्रिप्स' कहते थे। पट्टियों की लम्वाई साधारणतः उतनी होती थी जिसे खेतिहर श्रमिकों की एक टोली एक बार में जोत ले। मुलायम मिट्टी वाली पट्टियों की लम्बाई अधिक होती थी, क्योंकि ऐसी भूमि में जुताई आसानी से जल्दी हो सकती थी। विभिन्न जागीरों में पट्टियों का क्षेत्रफल अलग-अलग होता था, परन्तु एक ही जागीर में समान क्षेत्रफल की पट्टियाँ हुआ करती थी। पट्टियों का

क्षेत्रफल चौथाई एकड़ से एक एकड़ तक हो सकता था। कृषि योग्य भूमि में किसी प्रकार का घेरा नहीं रहता था। एक पट्टी को दूसरे से अलग रखने के लिए बीच में छोटे छोटे कंकड़ पत्थर रख दिये जाते थे। बीच में थोड़ी बिना जुती भूमि छोड़ने की भी प्रथा थी। इस प्रकार, अनेक पट्टियों द्वारा निर्मित कृषि योग्य-भूमि बेडौल टुकड़ों का गोरखधन्धा सा लगता था।

जागीर की कुछ पट्टियां भूस्वामी के आधिपत्य में थीं और शेष खेतिहर किसानों को दे दी जाती थीं। हर व्यक्ति के खेत जागीर के समस्त कृषियोग्य क्षेत्र में बिखरे रहते थे। इस प्रथा के कई कारण थे जिनमें वितरण की समानता प्रमुख है। भिन्न-भिन्न उर्वरता वाले क्षेत्रों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाजन इसलिए आवश्यक था जिससे हर प्रकार की भूमि हर व्यक्ति को मिल जाय और अच्छी भूमि पर अधिक कृपापात्र या भाग्यशाली लोगों का अधिकार न हो जाय। जागीर के प्रत्येक कृषि-योग्य भूमि क्षेत्र में से एक भाग का अधिकारी होने से खेतिहर श्रमिकों को वितरण की समानता पर विश्वास रहता था। भूमि समान रूप से अच्छी न होने के कारण यदि एक व्यक्ति के पास एक ही स्थान पर भूमि हो तो यह सम्भावना रहती थी कि उसके पास अन्य व्यक्तियों से अच्छी भूमि मिल जाय। यह भी सम्भव था कि उसकी भूमि उसके घर के पास अधिक सुविधाजनक स्थान पर हो और दूसरों की भूमि उनके घर से एक-दो मील दूर पर हो। साम्योचित वितरण की दृष्टि से यह पद्धति अधिक उपयोगी प्रमाणित हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में भूमि का बंटवारा पर्ची (lots) निकाल कर किया गया था।

प्रत्येक जागीर में घास का मैदान या चरागाह भी रहता था जिसे चारे के लिए आरक्षित (reserved) रखा जाता था। इस भूमि पर चराई नहीं की जा सकती थी। इस उत्पत्ति के अतिरिक्त शीतकाल में पशुओं के लिए कोई अन्य सहारा न था। गांव के प्रत्येक व्यक्ति को उसके जानवरों की संख्या के अनुपात से चारा प्राप्त होता था। चरागाह भी पट्टियों में बंटा था जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने हिस्से का चारा काट सके। पट्टियों का पुनर्वितरण भी किया जाता था। चारा कटने के बाद चरागाहों में तथा फसल कटने के बाद खेतों में पशुओं को चराया जा सकता था।

खेतों और चरागाहों के अतिरिक्त जागीरों की अन्य भूमि ऊसर या बंजर कहलाती थी। ऊसर या बंजर भूमि से यह तात्पर्य नहीं है कि यह भूमि बिलकुल बेकार थी। इस पर ग्राम के हर व्यक्ति का समान रूप से अधिकार था। इसका एक भाग अधिकतर सार्वजनिक चरागाहों के रूप में काम आता था। जागीर का हर व्यक्ति अपने पशु यहाँ चरा सकता था। कुछ ऐसी भूमि भी थी जहाँ से ईंधन तथा इमारती लकड़ी इकट्ठी की जाती थी।

कृषि की विधि. मूल रूप से कृषि विधि सर्वत्र समान थी। बिना बाड़ के खेत की कृषि प्रणाली (Open-field system) कृषि की प्रमुख विशेषता थी। इससे यह तात्पर्य है कि खेतों में किसी प्रकार का स्थायी या टिकाऊ बाड़ या घेरा नहीं रहता था। अपनी भूमि दूसरों से अलग करने के लिए लोग अस्थायी तथा काम चलाऊ बाड़ या घेरा लगा देते थे। खेतों की सीमा निर्दिष्ट करने के लिए स्थायी झाड़ियाँ नहीं लगाई जाती थीं वरन् बीच में अनजोती भूमि या अन्य अस्थायी रोक रहती थी। फसल कटने के बाद बाड़ हटा दिये जाते थे जिससे पशु स्वच्छन्दता से चराई कर सकें। इस तरह मध्यकालीन कृषि प्रणाली का आशय बिना बाड़ या बिना घेरे की खेती से है।

दो या तीन खेत पद्धति (Two or three field system) जागीरदारी कृषि पद्धति की दूसरी विषेशता थी। फसलों के हेर-फेर (rotation of crops) के वैज्ञानिक तरीकों का अभाव होने के कारण एक ऐसी पद्धति की आवश्यकता थी जिससे कि खेतों को किसी वर्ष बिना फसल उगाये छोड़ा जा सके। यह कार्य दो या तीन खेत पद्धति के द्वारा सम्भव होता था। दो खेत पद्धति में खेतों को दो भागों में बांट दिया जाता था जिसमें से एक भाग को परती (fallow) छोड़ा जाता था। परती छोड़े गये खेत में पशु चराए जा सकते थे। तीन खेत की पद्धति में खेत को तीन भाग में बांट दिया जाता था। खेत का एक-तिहाई भाग हर साल परती छोड़ दिया जाता था। दूसरे भाग में साधारणतया गेहूँ या रायी (rye) या अन्य प्रमुख फसल बोई जाती थी। तीसरे भाग में जई (oats), जौ, मटर या अन्य फसलें उगाई जाती थीं। इस प्रकार प्रत्येक भाग को तीन वर्ष में एक बार परती अवश्य छोड़ा जाता था और एक एक करके तीनों भाग पूर्ववत उर्वर हो उठते थे। खेत का एक-तिहाई या आधा भाग परती छोड़ने की प्रथा काफी क्षतिपूर्ण थी। वैज्ञानिक खादों के प्रयोग के बारे में लोगों को जानकारी नहीं थी। पुराने तथा रूढ़िगत तरीकों से खेती होने के कारण उपज बहुत कम थी। कृषि विधियों को उत्कृष्ट बनाने के लिए न तो कोई सुविधा थी और न तो लोगों में इस बात की आकांक्षा ही जागृत होती थी कि वे खेत में उन्नत विधियों को अपनाएँ।

बिना घेरे के खेतों की प्रणाली में सहकारी तथा व्यक्तिगत ढंग से खेती का संयुक्त रूप प्रचलित था। जागीरों में व्यवहार तथा परम्परा के अनुसार खेती होती थी और पड़ोसियों की भांति किसान एक ही प्रकार की फसलों को साथ-साथ बोते और काटते थे। कृषि-यंत्र, हल, बैल, और घोड़ों आदि पर सम्पूर्ण ग्राम का समान रूप से अधिकार था। कभी-कभी कई ग्रामों के किसान मिल-जुल कर कृषि-यंत्रों का उपयोग

करते थे। शायद ही कोई किसान व्यक्तिगत कृषि यंत्र रख पाता था। उनके पशु भी सार्वजनिक चरागाहों तथा बंजर भूमि में चराई करते थे। फसल कट जाने के बाद तो समस्त कृषि-योग्य भूमि में पशुओं को चराया जा सकता था। इस प्रकार खेती-बाड़ी के तरीकों, कृषि-यंत्रों, चराई के लिए चरागाहों तथा बंजर भूमि के सार्वजनिक उपयोग में सहकारिता के लक्षण दिखलाई पड़ते थे।

जागीरदारी कृषि पद्धति की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि कृषि योग्य भूमि को संकरी पट्टियों में विभाजित करके खेतिहर श्रमिकों को दे दिया जाता था। प्रत्येक व्यक्ति को जागीर के हर क्षेत्र में भूमि मिलती थी। प्रायः एक ही क्षेत्र के अलग-अलग स्थानों पर पट्टियाँ दी जाती थीं। आरम्भ में पट्टियों का वितरण प्रति वर्ष या किसी नियत तिथि पर किया जाता था। परन्तु बाद में भूमि वितरण का यह तरीका बंद कर दिया गया।

जागीरवासियों का वर्गीकरण. मध्यकाल में आंग्ल समाज (English society) निम्नलिखित वर्गों में विभक्त था: (१) भूस्वामी, (२) स्वतंत्र किसान (free tenant), (३) आसामी (villein), (४) कुटीरवासी (cottars or bordars), (५) दास (slave), तथा (६) अन्य। परन्तु मोटे तौर से तत्कालीन आंग्ल समाज के उपरोक्त निवासियों को दो भागों में बांटा जा सकता है: (१) स्वतंत्र निवासी, (२) परतन्त्र निवासी। स्वतंत्र निवासियों के अन्तर्गत भूस्वामी, मुख्तार (bailiff), गांव के पादरी इत्यादि आते थे। मुख्तार भूस्वामी के प्रतिनिधि की हैसियत से जागीर का काम-काज देखते थे। वास्तव में परतंत्र निवासी ही आर्थिक महत्व के थे क्योंकि वे जागीर का सारा मेहनत-मजदूरी का काम करते थे। आसामी (villein), कुटीरवासी (cottars or bordars) तथा दास (slave) इस श्रेणी में आते थे। कानूनी दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं था। परन्तु उनमें आर्थिक असमानता थी। आसामियों की आर्थिक स्थिति कुटीर-वासियों से अच्छी समझी जाती थी। दास लोगों की स्थिति सबसे खराब थी। इनकी संख्या अधिक नहीं थी और बारहवीं शताब्दी के मध्य तक तो दास प्रथा का अंत ही हो चुका था। तत्कालीन ग्रामीण समाज में कार्य की दृष्टि से आसामी तथा कुटीरवासियों का स्थान महत्वपूर्ण था। उनका स्थान जागीरदारी संगठन के आधार-स्तम्भ के रूप में था, क्योंकि वे भूस्वामियों की भूमि पर भी खेती-बाड़ी करते थे। भूस्वामियों को छोड़कर अन्य लोगों के साथ उनका सम्बन्ध स्वेच्छापूर्ण था। तात्पर्य यह कि वे पूर्ण रूप से परतंत्र नहीं थे। कानूनी रूप से वे भूमि के प्रति कर्त्तव्यबद्ध थे और बिना भूस्वामी की अनुमति के भूमि छोड़कर कहीं नहीं जा सकते थे। भूस्वामी के नियंत्रण में ही उन्हें रहना पड़ता था।

साधारणतः आसामी के पास तीस एकड़ भूमि तथा दो बैल रहते थे। बैलों को सार्वजनिक चरागाहों में चरने का अधिकार था। भूमि के बदले उन्हें भूस्वामी को जिन्स (payment in kind) अथवा कोई सामग्री भेंट करनी पड़ती थी। प्रथागत सेवाओं के रूप में उनका प्रमुख दायित्व भूस्वामी के प्रति था। उनकी भूमि पर आसामी को सप्ताह में दो या तीन दिन कार्य करना पड़ता था। दिनों की संख्या विभिन्न जागीरों में भिन्न-भिन्न थी। अधिकतर सप्ताह में तीन दिन काम करने का रिवाज था। राजा की जागीर में सप्ताह में केवल दो दिन कार्य करने की प्रथा थी। यह निश्चित नहीं था कि आसामियों से किस प्रकार का काम लिया जायगा। उन्हें हर प्रकार का काम करना पड़ता था जैसे जोतना, बोना, फसल काटना, गाड़ी हाँकना, लकड़ी काटना और इकट्ठा करना, भेंड़ों को नहलाना-धुलाना, बाड़ या इमारतों की मरम्मत करना या कृषि सम्बन्धी अन्य कार्य। जुताई करने के लिए उन्हें अपने बैलों को ले जाना पड़ता था। यह आवश्यक नहीं था कि आसामी दिन भर भूस्वामी के ही खेत पर काम करते रहें। उन्हे अनुमति थी कि वे आधे दिन, चौथाई दिन या जैसे भी सुविधा हो, काम कर सकते थे। परन्तु यह आवश्यक था कि कुल मिला कर सप्ताह में दो या तीन दिन का कार्य, जैसा नियत हो, कर दें। आसामी को स्वतंत्रता थी कि वह इस कार्य में अपने वदले किसी अन्य व्यक्ति को भी भेज सकते थे। उदाहरणार्थ, अपने स्थान पर वह अपने पुत्र या मजदूर को भी प्रतिनिधि के रूप में भेज सकता था। व्यस्त मौसमों में जैसे बीज बोने तथा फसल काटने के समय आसामियों को सप्ताह में दो-तीन दिन से अधिक काम करना पड़ता था। अतिरिक्त दिनों पर किये गये काम को उपहार कार्य (boon work) कहा जाता था। व्यस्त दिनों में काम करने के लिए आसामी को स्वयं उपस्थित होना पड़ता था क्योंकि जागीर के निवासी उन दिनों स्वयं अपने कार्य में व्यस्त रहते थे और भूस्वामी के अनुशासन का पालन करना अनिवार्य था। उपहार कार्य करने वालों के लिए भोजन का प्रबन्ध भूस्वामी की ओर से होता था। उपहार-कार्य के अतरिक्त भी आसामियों को किसी समय गाड़ी हाँकने के लिए बुलाया जा सकता था पर ऐसे दिनों की संख्या निश्चित थी। विभिन्न जागीरों में आसामियों की वाध्यता सम्बन्धी प्रथा भिन्न-भिन्न थी।

आसामी लोगों के लिए कुछ अन्य विवशताएं तथा बाध्यताएं भी थीं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। पिता की सम्पति उत्तराधिकार के रूप में ग्रहण करने पर आसामी को अपना सबसे अच्छा पशु भूस्वामी को भेंट स्वरूप देना पड़ता था। पिता की सम्पत्ति का विभाजन नहीं होता था। यह प्रथा भूस्वामी के हित में थी। जब कभी आसामी अपना घोड़ा या बैल बेचता था तो उसे अर्थदण्ड देना पड़ता था। विना अनुमति के आसामी जागीर छोड़ कर कहीं नहीं जा सकता था। भागे

हुए आसामियों को पकड़ कर बुलवाया जाता था और उन्हें यथोचित दण्ड दिया जाता था। अपना अनाज उन्हें भूस्वामी की चक्की पर पिसवाना पड़ता था। बिना भूस्वामी की आज्ञा के न तो वे और न उनके बेटे पढ़ लिख सकते थे। पादरी बनने के इच्छुक लोग ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। बिना अनुमति आसामी के पुत्र शहर में शिल्प या कारीगरी का काम नहीं सीख सकते थे। उन्हें या उनके पुत्रों को गांव के बाहर रहने की अनुमति मिलने पर, उन्हें वार्षिक शुल्क देना पड़ता था। पुत्री के विवाह पर आसामी लोगों को जुर्माना देना पड़ता था। कभी-कभी पुत्र के विवाह पर भी उन्हें जुर्माना देना पड़ता था। राजा के न्यायालय में वह भूस्वामी पर मुकदमा नहीं चला सकता था। इसके विपक्ष में भूस्वामी अपनी इच्छानुसार उन्हें दण्ड दिलवा सकते थे तथा कर वसूल कर सकते थे। भूस्वामी को केवल मौत की सजा देने का अधिकार नहीं था।

संख्या तथा महत्व को ध्यान में रखते हुए, कुटीरवासियों का स्थान आसामियों के बाद था। उनकी आर्थिक स्थिति आसामियों की भांति थी परन्तु उनके पास अपेक्षाकृत कम भूमि थी इसलिए भूस्वामी के प्रति उनकी बाध्यताएँ कम थीं। साधारणतया उन्हें सप्ताह में केवल एक दिन काम करना पड़ता था। उनके पास बैल या अन्य कोई पशु नहीं हुआ करते थे इसलिए भूस्वामी की भूमि पर जुताई का काम उन्हें नहीं करना पड़ता था। परतंत्र लोगों की संख्या धीरे-धीरे बिलकुल समाप्त हो गई क्योंकि एक तो अज्ञानता के कारण वे अधिक संख्या में मृत्यु के शिकार हो जाते थे और दूसरे उनकी पदोन्नति कुटीरवासियों की श्रेणी में कर दी जाती थी। पदोन्नति इसलिए की जाती थी कि दास लोगों से कुटीरवासी अधिक कार्यकुशल समझे जाते थे। और उनके रहने के प्रबन्ध में भी कम व्यय होता था। भले ही मानवहित की दृष्टि से दोनों का समान महत्व था। कम कृषि-योग्य भूमि होने तथा भूस्वामी के प्रति सीमित उत्तरदायित्व होने के कारण उनके पास काफी खाली समय रहता था। इसलिए गाँव के अन्य स्वतंत्र लोग भी उनसे खाली समय में मेहनत मजदूरी का काम ले सकते थे। इस प्रकार उस समय पारिश्रमिक पर काम लेने का भी रिवाज उत्पन्न हो चला था। कुटीरवासी कुशल तथा अर्धकुशल कारीगरों के रूप में भी काम करते थे, जैसे मिस्त्रीगीरी, बढ़ईगीरी, लुहारी आदि।

वैसे तो परतंत्र व्यक्तियों के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करना कठिन था परन्तु सर्वथा असम्भव नहीं था। भूस्वामी बहुत कठिनाई से उनको स्वतंत्रता प्रदान करने के लिए तैयार होते थे। स्वतंत्रता अधिकतर धन देकर खरीदी जा सकती थी। कानून या प्रथा के अनुसार परतंत्र व्यक्तियों की सारी सम्पत्ति पर भूस्वामी का अधिकार रहता था। इसलिए यह भी सम्भव था कि भूस्वामी किसी परतंत्र व्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त

करने के लिए समस्त संचित सम्पत्ति जब्त कर लें और स्वतंत्रता देने से इन्कार कर दें। यद्यपि ऐसा कम होता था पर इस सम्भावना को कम करने के लिए परतंत्र व्यक्ति संचित वचत (savings) किसी स्वतंत्र-हैसियत के व्यक्ति या गांव के पादरी के पास जमा कर देते थे। पादरी किसी भी परतंत्र व्यक्ति को स्वतंत्रता दिला सकता था पर इसमें काफी कठिनाई थी। स्वतंत्रता प्राप्त करने के ३६६ दिनों के अन्दर भूस्वामी उनको पुनः बुलवा सकता था। इस अवधि के बाद भूस्वामी का यह अधिकार समाप्त हो जाता था और स्वतंत्र व्यक्ति को पुनः उसके पुराने स्थान पर काम करवाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था।

इस सब बातों से पता चलता है कि परतंत्र व्यक्तियों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं थी। उनका जीवन स्तर अभावग्रस्त था, वे मोटा कपड़ा पहनते थे और उनका दो कमरे का आवास बहुत छोटा तथा दयनीय अवस्था में था जिस में वे प्रायः पशु भी रखते थे। उन्हें अपनी कड़ी मेहनत का प्रमुख भाग भूस्वामी के कार्य में लगाना पड़ता था, जब कि भूस्वामी लोग भोगविलास का जीवन व्यतीत करते थे। इस प्रकार परतंत्र व्यक्तियों का शोषण निष्ठुरता से किया जाता था। उन्हें केवल यही भरोसा था कि अत्याचारियों को कभी न कभी अवश्य सजा मिलेगी।

सारी बातें गुलामी की स्थिति के समान थीं पर परतंत्र व्यक्ति पूरी तरह से गुलाम नहीं था। आसामी लोग परिषद (corporate body) के सदस्य हो सकते थे और इस सदस्यता के परिणामस्वरूप वे कुछ सुविधाओं के भी अधिकारी थे। उन्हें न तो बेरोजगारी का भय था और न यह कि उनकी मृत्यु के बाद उनके आश्रितों को कष्ट भोगना पड़ेगा। वृद्धावस्था या बीमारी के कारण भी उन्हें किसी प्रकार का आर्थिक संकट नहीं होता था। उत्तराधिकारियों के होने पर, चाहे वे छोटे बच्चे ही क्यों न हों, उनकी भूमि नहीं छीनी जा सकती थी। विधवा को अधिकार था कि वह नाबालिग उत्तराधिकारियों की भूमि की देख रेख करे। इसके बदले परिवार के सदस्यों को यथापद्धति भूस्वामी के लिए कार्य करना पड़ता था। वैसे तो परतंत्र व्यक्तियों को जागीर छोड़ कर कहीं अन्य स्थान पर जाने की अनुमति नहीं मिलती थी परन्तु वे कहीं जाने की इच्छा भी नहीं प्रकट करते थे क्योंकि गाँव के बाहर उन्हें कोई काम नहीं मिल सकता था। समाज में उनकी स्थिति, भूस्वामी के प्रति दायित्व को छोड़कर, स्वतंत्र व्यक्तियों के समान थी। वे किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध मुकदमा चला सकते थे और न्याय की माँग कर सकते थे। यह सुविधा उन्हें भूस्वामी के विरुद्ध नहीं प्राप्त थी। भूस्वामी भी अनावश्यक रूप से उन्हें उत्पीड़ित नहीं करते थे। यह उनके हित में था। इस दृष्टिकोण से समाज में उनका स्थान अप्रतिष्ठाकर नहीं था।

कुछ जागीरों में, विशेष रूप से पूर्वी प्रदेशों में स्थित जागीरों में, भूस्वामी तथा मुख्तारों (bailiff) के अतिरिक्त स्वतंत्र श्रेणी के अन्य व्यक्ति भी थे। वे लगान को धन, जिन्स (payment in kind) या अन्य सामग्री के रूप में देते थे। उनको पूरी स्वतंत्रता थी कि वे जागीर या भूमि को जब चाहें छोड़ कर जा सकते थे तथा भूस्वामी के विरुद्ध मुकदमा भी चला सकते थे। प्रथागत सेवाएँ भी उन्हें नहीं देनी पड़ती थीं।

सामान्य विशेषताएँ. अंत में जागीरदारी प्रथा की मुख्य बातों पर पुनर्विचार असंगत न होगा। (१) इंगलैंड के सारे क्षेत्र में जागीरदारी प्रथा सामान्य रूप से प्रचलित थी। जंगलों को छोड़कर देश के समस्त क्षेत्रों में यह प्रथा सार्वभौम (universal) कृषि व्यवस्था के रूप में प्रचलित थी। (२) जागीरों की कार्य-विधि तथा संगठन में काफी समानता थी। जोतें करीव-करीब बराबर थीं और समान क्षेत्रफल के समूहों में बँटी थीं। प्रथागत सेवाओं का मूल्य तथा लगान की दर लगभग समान.थी। परम्परागत कृषि प्रणाली भी आदि काल से चली आ रही थी। गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करने से विभिन्न जागीरों की प्रथाओं में भले ही कुछ अन्तर मालूम हो परन्तु जागीरों के संगठन सम्बन्धी मूल बातों में भिन्नता नहीं थी। (३) जागीर-दारी पद्धति में अधिकतर प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के आधार पर कार्य होता था। खेती-बाड़ी जीविकोपार्जन हेतु की जाती थी, व्यापार के लिए नहीं। बाद में उत्पत्ति की बचत का कुछ भाग बेचा जाने लगा। मजदूरी का भुगतान अनाज या अन्य वस्तुओं के रूप में किया जाता था। उदाहरणार्थ पहिया बनानेवालों, लुहार या गांव के अन्य कारीगरों से काम लेकर मजदूरी का भुगतान अनाज, अंडे, ऊन या अन्य वस्तुओं के रूप में किया जाता था। (४) जागीरदारी पद्धति का आधार आत्मनिर्भरता तथा स्वावलम्बन के आदर्श पर था। पूरा प्रयत्न किया जाता था कि आवश्यकता की हर वस्तु को जागीर में ही उत्पन्न किया जाय और जागीर में पैदा होने वाली हर वस्तु का उपयोग किया जाय। पूर्ण स्वावलम्बन का आदर्श भले ही पूरा न होने पाता हो परन्तु जागीर के बाहर से व्यापार अच्छा नहीं समझा जाता था। प्रयत्न किया जाता था कि बाहर से कम से कम व्यापार किया जाय। (५) परम्पराओं तथा रूढ़ियों का बोल-बाला था परन्तु इतना नहीं कि उन्हें अत्यधिक महत्व दिया जाय। (६) अन्त में सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि भूस्वामी की भूमि पर परतंत्र व्यक्तियों के श्रम से खेती होती थी अतः ग्रामीण संगठन जागीरदारी पद्धति पर आधारित थी जिसमें भूस्वामी की आय जिन्स, वस्तुओं, सेवाओं तथा नकद प्राप्ति के रूप में होती थी। इसके बदले उन्हें ग्रामवासियों के लिए आवश्यक जनसेवाएँ प्रस्तुत करनी पड़ती थीं। वास्तव में तो भूस्वामी अपने महल में आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। जिन भूस्वामियों के पास कई जागीरें थीं वे उनमें आते जाते रहते थे।

गुण और दोष. मध्यकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जागीरदारी पद्धति कुछ विशेष कारणों से उपयोगी थी। इससे एक लाभ तो यह था कि बहुत मे लोग साथ-साथ रहते थे और खेती-बाड़ी से जीविकोपार्जन करते थे। लोगों का लगाव भूमि के प्रति पैदा हो गया था और वे स्थायीरूप से वहाँ बस गये थे। इस पद्धति के कारण सामाजिक हितों की रक्षा होती थी। कुछ हद तक खेतिहर श्रमिकों को स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए धन बचाने की प्रेरणा भी मिलती थी। इस पद्धति में संघबद्ध तथा सामूहिक जीवन का सिद्धान्त समाविष्ट था जिसके ऊपर मध्यकालीन समाज का ढाँचा आधारित था। जागीर आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर तथा सामाजिक दृष्टि से स्वतन्त्र संगठन की इकाई थी।

जागीरदारी पद्धति में अनेक दोष भी थे। बिना बाड़ के खेत की कृषि प्रणाली सर्वत्र प्रचलित थी, जिसके कारण कृषि सुधार सम्बन्धी परीक्षण सम्भव नहीं थे। स्पर्धा का अभाव था और उद्यमी व्यक्ति उत्पादन की श्रेष्ठतर प्रणालियों तथा तक़नीक को खोज निकालने के लिए प्रोत्साहित नहीं होते थे। पुराने रिवाजों के अनुसार खेती करने के अतिरिक्त कोई चारा न था। अतः खेती में सुधार असम्भव था। फसलों के हेर फेर, जुताई बुवाई की विधि, खेतों में बाड़ लगाना और हटाना, सड़कों तथा रास्तों की मरम्मत तथा देखभाल आदि कार्य रीतिरिवाजों के अनुसार होता था। आसामी को स्वेच्छा से काम करने की स्वतंत्रता नहीं थी। खेतिहर श्रमिकों के प्रति भूस्वामी तथा उनके कर्मचारियों का व्यवहार कठोर तथा मनमाने ढंग का होता था जिससे उनको बड़ी निराशा होती थी। लोगों के खेत चारों ओर छितरे रहते थे। एक खेत से दूसरे खेत में जाने से काफी समय नष्ट होता था। खेतों के बीच में स्थायी ढंग का बाड़ या सीमाचिह्न नहीं रहता था जिससे सीमा सम्बन्धी झगड़े हुआ करते थे। अट्ठारवीं शताब्दी में भी देश के कुछ भागों में बिना बाड़ के खेत की कृषि पद्धति प्रचलित थी। बहुधा जमींदार लोग इस पद्धति के अनुसार खेती कराते थे। इस पद्धति में अनेक दोष थे, परन्तु सदियों चले आने वाले रीतिरिवाजों को बदलना आसान नहीं था। उपज कम होती थी। बीज घटिया होते थे। खेती बाड़ी का तरीका पुराना तथा दोषपूर्ण था। कृषि-यंत्रों तथा मशीन का उपयोग कम होता था। पैदावार की कमी तथा परिवहन के साधनों के अभाव के कारण अधिकतर लोग भुखमरी के शिकार होते थे। पशुओं को जाड़े में खिलाने के लिए चारा कम होता था इसलिए लोग जाड़े के आरम्भ में अनावश्यक पशुओं को मार कर गोश्त नमक लगाकर सुरक्षित रख लेते थे। गोश्त रखने का यह तरीका अस्वास्थ्यवर्धक तथा दोष पूर्ण था जिससे बीमारियाँ फैलती थीं और लोगों का स्वास्थ्य खराब रहता था। साधारणतः ग्रामीण जीवन दयनीय तथा प्रेरणाहीन था।

जागीरदारी पद्धति का विघटन

जागीरदारी संगठन कई सदियों तक गतिहीन ढंग से चलता रहा। तेरहवीं शताब्दी तक उसमें कोई परिवर्तन या सुधार नहीं हुआ। चौदहवीं शताब्दी में इसके विघटन के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे थे और इसका विनाश पन्द्रहवीं शताब्दी में तेजी से होने लगा था। उत्तर मध्यकाल में व्यापक सुधार किये गये। भूस्वामी की भूमि पर खेतिहर श्रमिकों के द्वारा खेती करवाने की प्रथा का अन्त हो गया। पारस्परिक सम्बन्ध क्षीण हो गया था और अन्त में नष्ट हो गया। बिना बाड़ के खेत की कृषि-प्रणाली के स्थान पर घेराबन्दी आन्दोलन (enclosure movement) ने जोर मारा। 'प्रचलित रिवाज' (the custom) का अन्त हो गया जिसका जागीर प्रथा में एक विशेष स्थान था। श्रमिकों को अधिक स्वतंत्रता दी जाने लगी और भूमि स्वामित्व में विकेन्द्रीकरण प्रथा को मान्यता मिलने लगी।

विघटन के प्रमुख कारण. जागीरों के विघटन के सम्बन्ध में इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि व्यापार तथा वाणिज्य के विकास के साथ-साथ मुद्रा के अधिक परिचलन के कारण जागीरों का पतन हुआ। प्रोफेसर पोस्टन के अनुसार श्रमिकों को सेवा के बदले जिन्स या अन्य वस्तुओं के स्थान पर मुद्रा का उपयोग जागीरों के पतन का कारण बना। यह भी कहा जाता है कि जागीरदारी संगठन की अयोग्यता तथा आय की कमी के कारण जागीरदारी कृषि पद्धति का विनाश हुआ। भूस्वामियों ने कर इतना बढ़ा दिया था कि खेतिहर श्रमिकों की सहनशीलता का बाँध टूट गया और स्थिति गम्भीर हो गयी। जैसे भी सम्भव होता लोग जागीरों को छोड़ कर नगरों की ओर भागने लगे थे। प्रायः वे अनियमित रीतियों का उपयोग भी करते थे।

विस्तृत अध्ययन से यह पता चलता है कि अनेक कारणों के पारस्परिक प्रभावों के परिणामस्वरूप जागीरदारी पद्धति का अन्त हुआ। जागीरों के विघटन में कुछ कारण अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए और कुछ कम। प्रमुख कारण निम्नांकित हैं।

(१) जन-संख्या में वृद्धि के कारण चकों में वृद्धि. इंगलैण्ड की जनसंख्या ग्यारहवीं शताब्दी में १७.५ लाख थी। चौदहवीं शताब्दी में वहाँ की जनसंख्या २५.० लाख होगई। बढ़ी हुई जनसंख्या के लिए पर्याप्त खाद्यान्न पैदा करना आवश्यक हो गया। परिणामस्वरूप कृषि-योग्य भूमि में विस्तार करना पड़ा। आवश्यकता की प्रबलता को ध्यान में रख कर बंजर भूमि तथा चरागाहों में जुताई करा कर कृषि योग्य भूमि में बदलना पड़ा। इस भूमि को आसामियों की नई पीढ़ियों के लोगों को दिया गया क्योंकि उनके लिए पैत्रिक भूमि में गुंजाइश नहीं थी। नयी भूमि का

वितरण चकों (compact holdings) के रूप में हुआ, छितरे खेतों के रूप में नहीं। भूमि वितरण का यह तरीका स्थापित रीति रिवाजों पर प्रहार स्वरूप था और इससे जागीरदारी-पद्धति के विघटन में सहायता मिली। वास्तव में बिना घेरे या बिना बाड़ की खेती के दोषों को लोग उस समय भी समझते थे और यथासम्भव इस विधि का उपयोग नहीं किया जाता था।

(२) नगरों का विकास. नगरों का विकास तथा विशेषीकरण के प्रादुर्भाव के कारण व्यापारियों तथा कारीगरों की संख्या में वृद्धि हुई। किसानों की तरह वे लोग भूमि पर निर्भर नहीं रहते थे। निर्मित वस्तुओं के बदले में अनाज प्राप्त करते थे। इस प्रकार गांव तथा शहरों में व्यापार बढ़ने लगा। गांव के लोग अतिरिक्त अनाज पड़ोस के नगरों में बेच आते थे। गांव और शहर के बीच भी व्यापार बढ़ने लगा। यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। व्यापार अधिकतर भूस्वामी के हाथ में था क्योंकि उन्ही के पास अतिरिक्त अनाज बचता था। व्यापारिक समता की दृष्टि से वे चतुर तथा कार्यकुशल थे। उत्पादन के साधनों पर भी उनका पूर्ण आधिपत्य था। कुछ सीमा तक आसामी लोग भी इस व्यापार से लाभ उठाते थे। वैसे तो वे अपनी आवश्यकता से अधिक अनाज नहीं पैदा कर पाते थे। पर यदि किसी वर्ष पैदावार अच्छी होती तो वे अतिरिक्त उपज के बदले में आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ प्राप्त करते थे। इससे उनकी आर्थिक स्थिति थोड़ी बहुत सुधर जाती थी।

(३) नगरों तथा जागीरों में व्यापार वृद्धि. नगरों तथा जागीरों के बीच में व्यापार की वृद्धि हुई। व्यापार अधिकतर वस्तुओं की अदला बदली के द्वारा किया जाता था परन्तु धीरे धीरे मुद्रा का उपयोग भी बढ़ता रहा। इंगलैंड में प्राचीनकाल से ही मुद्रा का उपयोग किसी न किसी रूप में होता था परन्तु जागीरों में प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के अनुसार कार्य होने के कारण मुद्रा का प्रचलन कम था। मुद्रा के उपयोग में वृद्धि होने के कारण प्रचलित अर्थव्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। परिणाम-स्वरूप जागीरदारी पद्धति की आधारशिला डगमगा उठी तथा परम्पराओं पर आश्रित सारा ढाँचा हिल उठा। सामाजिक बन्धन छिन्न भिन्न हो गये। मुद्रा के उपयोग से जड़ता तथा एकरूपता के स्थान पर चुनाव की प्रवृत्ति में विविधता तथा क्रियाशीलता का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तु-विनमय प्रथा (barter) में वस्तुओं के स्वेच्छापूर्ण चुनाव की सम्भावना कम रहती थी। मुद्रा प्राप्त करने के बाद इच्छानुसार अभिरुचि के अनुरूप वस्तुओं को प्राप्त करने में सुविधा होती थी। परिणाम यह हुआ कि उपभोक्ताओं को आकर्षित करने के लिए उत्पादकों में होड़ लग गई। समाज में रीति रिवाजों के स्थान पर स्पर्धा तथा स्वतंत्र व्यवहार का अधिक सम्मान होने

लगा। जागीरों के इतिहास में इस परिवर्तन का आरम्भ तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी में दिखलाई पड़ने लगा था।

(४) अन्तर्वर्तन आन्दोलन. इंगलैण्ड के इतिहास में एक अन्य महत्वपूर्ण आन्दोलन का जन्म हुआ जिसके अन्तर्गत भूस्वामियों ने प्रथागत सेवाओं के स्थान पर धन स्वीकार करना आरम्भ किया। इस प्रक्रिया को अन्तर्वर्तन (commutation) कहा जाता था। इसका आरम्भ बारहवीं शताब्दी में हुआ। तेरहवीं शताब्दी में इस प्रक्रिया का काफी विस्तार हुआ परन्तु इसका पूर्ण विस्तार चौदहवीं शताब्दी में भी नहीं हो पाया। किसान लोग प्रथा के अनुसार भूस्वामी की भूमि पर बेगार के रूप में काम करने के लिए विवश थे। इस प्रथा से छुटकारा पाने के लिए वे जी जान से धन बचाते थे क्योंकि धन देकर वे स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते थे। वैसे तो उन्हें सप्ताह में केवल दो या तीन दिन ही काम करना पड़ता था परन्तु यह तरीका काफी अरुचिकर था। नई पीढ़ी के लोग बेगार प्रथा के अनुसार काम करने के लिए तैयार नहीं थे। वे बेगार श्रमिकों से अधिक कार्यकुशल थे। इसलिए भूस्वामी लोग मजदूरी देकर काम करवाना अधिक लाभप्रद समझते थे। मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिकों को यह भी डर रहता था कि यदि वे ठीक काम नहीं करेंगे तो उनका रोजगार छूट जायगा। इसलिए वे निश्चित मात्रा में काम अवश्य करते थे। आसामी लोग भी प्रसन्न थे कि अन्तर्वर्तन का धन देकर उनको बेगार की उस प्रथा से छुट्टी मिल जाती थी जो अत्यन्त कष्टप्रद तथा अपमानजनक थी। अन्तर्वर्तन प्रणाली ने ऐसे आन्दोलन को जन्म दिया जिसके परिणामस्वरूप ग्रामवासियों को समाज में मर्यादा का स्थान प्राप्त हुआ और वे स्वतंत्रता की दिशा में अग्रसर हुए।

जन जीवन में प्रभाव की दृष्टि से इस आन्दोलन को अत्यधिक महत्वपूर्ण नहीं समझना चाहिए। इस आन्दोलन का विकास अनियमित रूप से धीरे-धीरे हुआ। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है यह आन्दोलन बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में हुआ था परन्तु इसकी गति इतनी धीमी थी और इसका प्रभाव क्षेत्र इतना कम व्यापक था कि चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक यह आन्दोलन जैसे तैसे चलता रहा। इस बीच १३४८-४९ में इंगलैण्ड काली मृत्यु (black death) या प्लेग का शिकार हुआ। प्लेग के कारण बहुत बड़ी संख्या में मौतें हुई। जाँच से पता चलता है कि एक-तिहाई से आधी जनसंख्या काल कवलित हो गई। आबाद क्षेत्र सूनसान हो गये।

भूस्वामी के लिए काली मृत्यु अत्यन्त कष्टसाध्य प्रमाणित हुई। डेमीन में खेती करने के लिए मजदूर न मिलने के कारण वे परेशान थे। सारे इंगलैण्ड में काली मृत्यु का प्रभाव मजदूरों के व्यापक अभाव के रूप में प्रकट हुआ। फसलें खेतों पर सड़ने लगीं और अनाज की कीमतें बहुत ऊंची हो गयीं। खेतों में जुताई बुवाई नहीं

हो सकी। ऐसे खेतिहर मजदूरों ने जिन्होंने अन्तर्वर्तन नहीं कराया था, आर्थिक मुक्ति प्राप्त करने के लिए जोर दिया। ऐसे लोग जिन्हें आर्थिक मुक्ति प्राप्त हो चुकी थी, ऊँची मजदूरी की माँग करने लगे। भूस्वामी की स्थिति खराब हो गयी। उन्होंने इस समस्या का सामना दो तरह से किया। (१) वे चाहते थे कि मजदूरी की दर कम रहे। इसके लिए १३४९ में एक संकटकालीन राजाज्ञा जारी की गयी जिसे १३५१ में कानून बना दिया गया। इस कानून के अनुसार श्रमिकों के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वे काली मृत्यु से पहले प्रचलित पारिश्रमिक पर काम करें। इंगलैण्ड में पारिश्रमिक को नियमित करने की दिशा में राष्ट्रीय स्तर पर यह पहला प्रयत्न था। परन्तु यह कानून पूर्णरूप से असफल हुआ और इसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पायी। विभिन्न आर्थिक प्रवृत्तियाँ अत्यधिक प्रबल थीं। सरकार तथा भूस्वामी इसका दमन नहीं कर सके। ऊँची उठती हुई पारिश्रमिक की दरों को कम नहीं किया जा सका। मजदूरों का रहन सहन का स्तर भी ऊंचा उठा। इस प्रकार भूस्वामियों का पहला कदम निरर्थक प्रमाणित हुआ। (२) उनका दूसरा कदम यह था कि उन्होंने श्रमिकों से बेगार काम लेने की प्रथा को पुनर्जीवित करने का पूरा प्रयत्न किया। इसके लिए पुराने लगानदारों पर दबाव डाला गया कि वे बेगार काम करने की प्रथा को पुनः अपनाएँ और बेगार के बदले भूस्वामी को धन न दें। परन्तु इससे उग्र विरोध की ज्वाला भड़क उठी। मजदूरी की दरें ऊँची थीं इसलिए लगानदार बेगार काम करने के स्थान पर धन देना अधिक पसन्द करते थे। आसामी को दूसरे गांव में जाकर काम करना अधिक रुचिकर प्रतीत होता था। उनको यह भी भरोसा था कि दूसरे गाँव में उनका स्वागत होगा और उन्हें भूमि सुगम शर्तों पर मिलेगी। स्वतंत्रता की प्रगति में अवरोध उत्पन्न किये जाने के कारण उनमें घोर असंतोष फैल गया और १३८१ में किसान विप्लव (Peasant Revolt) भड़क उठा। अन्तर्वर्तन प्रणाली के कार्यान्विन में रुकावट डालना इस विप्लव का प्रमुख कारण था। विप्लव के कई अन्य कारण भी थे, जैसे सरकार के प्रति जनता में अविश्वास, लम्बी अवधि तक युद्ध चलते रहने के कारण जनता की परेशानियाँ, करों की अधिकता, आदि। हर वर्ग में किसी न किसी कारण से असन्तोष था। सभी वर्ग के असन्तुष्ट लोग इस विप्लव में सम्मिलित हो गये और विद्रोहियों ने अपनी माँग स्वीकृत कराने के लिए बहुत जोर दिया। इनमें आसामी प्रथा का उन्मूलन प्रमुख माँग थी।

विप्लव के परिणाम स्वरूप भूस्वामियों तथा आसामियों के बीच अन्तर्वर्तन के सिद्धान्त पर समझौता हुआ। समझौते के अनुसार जो धन भूस्वामी आसामियों को काम करने के बदले में देते थे उसे मजदूरी कहा गया। इसी प्रकार यह भी तय हुआ कि बेगार प्रथा से छुटकारा पाने के लिए आसामी कुछ धन भूस्वामी को दें। इस भुगतान को छुटकारा धन (quittance) कहा जाता था। समय के साथ-साथ

लोग छुटकारा धन के पूर्व के इतिहास को भूल गये और इस धन को भूमि के उपयोग का लगान समझा जाने लगा। यह न तो प्रतियोगी लगान (competitive rent) था और न तो इसकी दरें ही बहुत ऊँची थी। लगान की दर निश्चित रहती थी। वास्तव में यह लगान (quit rent) बेगार प्रथा से छुटकारा पाने के लिए दिया जाता था। लगान देने वालों को धीरे-धीरे भूमि का स्वामित्व प्राप्त हो गया और कालान्तर में वे कापीहोल्डर कहलाये।

(५) बन्धनमोक्ष द्वारा स्वतंत्रता. भूस्वामियों ने परोपकार तथा धार्मिक भावना से प्रभावित होकर भी आसामियों को बन्धनमोक्ष (manumission) प्रदान किया। अनेक खेतिहर श्रमिकों ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए धन बचाया। ऐसे भी उदाहरण हैं जब उन्हें जागीर से वाहर जाने या अन्यत्र काम करने की अनुमति इस शर्त पर मिलती थी कि वे थोड़ा बहुत व्यक्ति कर (toll tax) देते रहें। सैद्धान्तिक दृष्टि से भूस्वामी को अधिकार था कि वे जब चाहें उन्हें वापस बुला सकते थे, परन्तु अपने इस अधिकार का उपयोग वे कभी नहीं करते थे। इन लोगों से कर वसूलना इतना कष्टप्रद था कि बाद में भूस्वामियों ने कर वसूलना भी वन्द कर दिया। इस प्रकार बहुत से खेतिहर श्रमिक स्वतंत्र कर दिये गये।

(६) डेमीन भूमि का हस्तांतरण एवं परित्याग. डेमीन के हस्तांतरण एवं परित्याग (alienation) के कारण भी जागीरदारी पद्धति का विनाश हुआ। जागीरदारी पद्धति के अन्तर्गत खेतिहर मजदूरों को डेमीन (भूस्वामी की भूमि) पर बेगार के रूप में काम करना पड़ता था। महामारी के कारण बड़ी संख्या में जागीर के निवासी काल कवलित हो गये और बेगार करने वालों की संख्या इतनी कम हो गई कि भूस्वामियों का काम काज रुक गया। इस समस्या को सुलझाने के लिए उन्होंने डेमीन भूमि को पट्टे पर देना आरम्भ किया। वे इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते थे कि सम्पूर्ण डेमीन भूमि किसी एक ऐसे व्यक्ति को दी जाय जो पूरे डेमीन की देख भाल कर ले। कुछ भूमि को तो बैलों, घोड़ों, पशुओं तथा कृषि-यंत्रों से भरपूर भंडार सहित पट्टे पर उठाया गया। ऐसे पट्टों को भंडार एवं भूमि पट्टा (stock and land lease) कहा जाता था। इस प्रकार का पट्टा एक निश्चित अवधि के लिए उठाया जाता था जिसके पश्चात इसका नवीकरण (renewal) कराया जा सकता था। पट्टेदार पट्टे का लगान अपनी सुविधानुसार जिन्स या नकद के रूप में अदा कर सकता था। आगे चल कर पट्टे के लगान का भुगतान केवल नकद के रूप में किया जाने लगा।

छुटकारा लगान तथा पट्टा लगान में अन्तर था। छुटकारा लगान उन खेतिहरों को देना पड़ता था जिन्हें भूमि उनके पुरखों से मिली थी और जो एक जमाने से जागीर में बसे थे। इन खेतिहरों को विलेनियम या उसके आस पास की भूमि मिली थी।

इसके विपरीत पट्टा लगान प्रतियोगिता के आधार पर निश्चित किया जाता था और लगान की दर विभिन्न पट्टों में अलग अलग हो सकती थी। यथासम्भव सम्पूर्ण डेमीन भूमि एक ही किसान को देने का प्रयत्न किया जाता था। परन्तु यह सदैव सम्भव नहीं हो पाता था और इसलिए प्रायः भूमि को विभाजित करके कई किसानों को पट्टे पर देना पड़ता था।

डेमीन के परित्याग के बाद जोतों में असमता बढ़ गई थी। जागीरदारी पद्धति में भूमि के वितरण में समानता के सिद्धान्त पर अधिक बल दिया जाता था और हर आसामी की जोत लगभग ३० एकड़ के बराबर रहती थी। जागीरों में सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ भी समान थीं। परन्तु जागीरों की नई आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के साथ-साथ एक ऐसी परिवर्तन प्रक्रिया क्रियान्वित हुई कि जिसके कारण पारस्परिक सम्बन्धों तथा व्यावहारिक मर्यादा का विचार छिन्न-भिन्न हो गया। भूस्वामी को इस बात से कोई मतलब नहीं रह गया था कि लगानदारों की संख्या कितनी है या उनके जोतों का क्षेत्रफल कितना है। लगान वसूलने में सुविधा की दृष्टि से वे यह प्रयत्न अवश्य करते थे कि डेमीन की भूमि कम से कम लोगों को पट्टे पर दी जाय और यदि सम्भव हो तो एक ही व्यक्ति को दी जाय। परिणाम यह हुआ कि जोतों के वितरण में असमता उत्पन्न हो गयी। सर्वोपरि परिणाम यह हुआ कि पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी के अवस्थांतर काल (transitional period) में पूँजीपति ढांचे की खेती की नींव पड़ी, जिसका पूर्ण विकास सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में हुआ।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक भूधारण (land tenure) व्यवस्था के अनुसार लगानदारी तीन प्रकार की थी। (१) वे लोग जिनके पुरखों को राज्य की ओर से भूमि मिली थी, माफीदार (free holder) कहलाते थे। माफीदारों को भूमि पर पूर्ण कब्जा (possession), स्वामित्व (ownership) एवं कानूनी सुरक्षा प्राप्त थी। (२) कापी होल्डर (copy holder) वे लोग थे जिन्हें भूमि के उपयोग के बदले में छुटकारा लगान देना पड़ता था। धीरे-धीरे न्यायालयों में इनके अधिकारों को मान्यता दी जाने लगी थी। (३) पट्टेदार (lease holder) वे लोग थे जिन्हें भूमि माफीदारों से पट्टे पर मिली थी।

(७) घेराबन्दी आन्दोलन. जागीरदारी पद्धति के विनाश का एक मुख्य कारण यह था कि जमींदार लोग कृषियोग्य भूमि को अन्य लाभप्रद कार्यों में लगाने लगे जिनमें भेड़ पालन प्रमुख था। ऊनी कपड़े का निर्माण इंगलैंड तथा नीदरलैंड में होता था परन्तु इंगलैंड में ऊन और ऊनी वस्तुओं का व्यापार तथा उद्योग तेजी से

बढ़ रहा था। इंगलैंड में बने ऊनी माल की माँग देश के अन्दर तथा बाहर काफी थी। इसकी तुलना में अन्न उत्पादन कम लाभप्रद था और कभी-कभी तो इसमें हानि भी उठानी पड़ती थी। गल्ले के मूल्य में स्थिरता (stability) नहीं थी और उसका निर्यात कम किया जाता था। जिस वर्ष फसल अच्छी होती थी उस वर्ष गल्ले का दाम बहुत घट जाता था। इसके विपरीत मजदूरी लगातार बढ़ती जा रही थी। इसलिए भूस्वामियों का झुकाव ऐसे कार्यों की ओर हुआ जिनमें कम से कम मजदूर लगाने से काम चल जाता था। उदाहरणार्थ उन्होंने कृषि योग्य भूमि को चरागाह में बदल दिया। इंगलैंड में कृषि क्षेत्र का काफी विस्तार हो चुका था। पुराने ढंग से लगातार खेती होने के कारण भूमि खेती के लिए अनुपयुक्त हो गई थी। इसलिए भूस्वामियों ने डेमीन भूमि में भेड़ों के लिए चरागाह लगवाना आरम्भ कर दिया। यह कार्य उन्हें इतना लाभप्रद मालूम हुआ कि वे प्रयत्न करने लगे कि जागीर के अधिक से अधिक भाग में भेड़ पालने का काम किया जाय।

छितरी हुई पट्टियों तथा खेतों को भेड़ पालन हेतु बाड़ों में बदलने के लिए घेराबन्दी आन्दोलन का जन्म हुआ। संकीर्ण अर्थों में घेराबन्दी का यह आशय था कि खेतों के चारों ओर मेड़ या घेरा बना दिया जाय। परन्तु सोलहवीं शताब्दी में इस शब्द का उपयोग अधिक विस्तृत अर्थों में होने लगा, जिसके अनुसार घेराबन्दी आन्दोलन के अन्तर्गत निम्नांकित बातें आती थीं :—(१) बिखरे हुए खेतों को चकों का रूप देना, (२) कृषि-योग्य भूमि को चरागाहों में बदलना, (३) जोतों का केन्द्रीयकरण करना, (४) जागीरवासियों के सामान्य अधिकारों को कम करना या समाप्त करना तथा अब तक सर्व सुलभ बंजर भूमि पर अधिकार जमा लेना।

वैसे तो डेमीन को पट्टे या लगान पर उठाने के कारण जागीरदारी व्यवस्था टूट-फूट गयी थी परन्तु जब भूस्वामियों ने बिखरी पट्टियों और बंजर पर घेराबन्दी करके अधिकार जमा लिया और लोगों के सामान्य तथा सामूहिक अधिकारों को समाप्त कर दिया, तो जागीरदारी व्यवस्था की नींव हिल गयी। छोटे छोटे किसानों एवं लगानदारों का जीवनयापन असम्भव हो गया।

घेराबन्दी की लहर ऐसी भूमि तक भी पहुंची जिसे लोग एक जमाने से प्रथागत-रूप में जोतते बोते आए थे। उस समय जागीरदारी व्यवस्था विनाश के द्वार पर थी। पट्टेदार तथा कापी होल्डर घोर संकट में थे। परन्तु घेराबन्दी आन्दोलन से भूस्वामियों को बड़ा लाभ हुआ। उनके हितों की पूर्ति की दृष्टि से यह अत्याधिक सफल रहा।

इतिहासकारों का कथन है कि घेराबन्दी आन्दोलन से लोग निराश्रित हो गए और गाँव खाली हो गए। उनकी दशा इतनी खराब हो गयी कि वे अपने घरों की मरम्मत

भी नहीं करा सकते थे। खेत छिन जाने के कारण बड़ी संख्या में लोग मजदूरी करने लगे। उनकी संख्या इतनी बढ़ गयी थी कि उन्हें कोई काम मिलना कठिन हो गया। श्रमिक कानून (Statutes of labourers) ऐसे समय में पास किया गया था जब श्रमिकों की बड़ी कमी थी परन्तु इन्हें नई स्थिति में लागू किया गया जब कि श्रमिकों की कमी नहीं थी और वे नौकरी की खोज में इधर उधर भटक रहे थे। इन लोगों के साथ अपराधियों जैसा व्यवहार किया जाता था और समाज में उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। नगर में स्थानीय कारीगर उन्हें देख कर सशंकित हो उठते थे क्योंकि वे कम पारिश्रमिक पर काम करने के लिए तैयार हो जाते थे। स्थानीय अधिकारियों का रुख भी ऐसा था कि उन्हें कहीं आश्रय मिलना कठिन था। नगरपालिका के नियमों के अनुसार न तो नगरों में गृहों का विभाजन ही सम्भव था और न नए आवास बनवाने की अनुमति मिलती थी। संसद में १५८९ तथा १५९३ में कानून बनाया गया जिसके अनुसार एक भवन में एक से अधिक परिवार नहीं रह सकता था; तात्पर्य यह कि स्थानीय अधिकारियों ने उनके रहने के लिए कोई अन्य प्रबन्ध नहीं किया। इंगलैंड में कपड़े के उद्योग का विकास तेजी से हो रहा था। परन्तु खेती से अलग निकले हुए लोगों की संख्या इतनी बड़ी थी कि इनको कपड़े के उद्योग में नौकरी देना सम्भव नहीं था। परिणाम यह हुआ कि बड़ी संख्या में बेघरबार लोग सड़कों पर मारे-मारे फिरने लगे और भिखारियों का जीवन व्यतीत करने लगे। इस असंतोषजनक स्थिति का सामना करने के लिए संसद ने नियम बनाया कि आवारा तथा खानाबदोश लोगों को दास बनाकर रखा जाय तथा मृत्यु दण्ड दिया जाय। यह आतंकपूर्ण तरीका निरर्थक था। संसद ने जो तरीका अपनाया था वह समस्या की जड़ तक नहीं पहुँचता था। वास्तविक समस्या यह नहीं थी कि लोग निरुद्देश्य क्यों भटकते थे वरन् यह थी कि बड़ी संख्या में बेरोजगारी के कारण लोग मारे-मारे फिरते थे।

सरकार अधिक समय तक स्थिति के प्रति उदासीन न रह सकी। अन्त में यह समस्या सरकार के लिए घोर चिन्ता का विषय बन गई। स्थान-स्थान पर अनेक स्थानीय दंगे हुए। घेराबन्दी के विरोध में भी दो सशस्त्र विद्रोह हुए। धार्मिक कारणों से भी दंगे होते रहते थे। सरकार लगातार दंगों का जोखिम नहीं उठा सकती थी इसलिए स्थिति का सामना करने के लिए १४८९ और १५९७ के बीच घेराबन्दी के विरोध में कई कानून पास किए गए। उस समय में आर्थिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि सरकार के सभी प्रयत्न विफल प्रमाणित हुए और सरकार के पास कोई चारा न रह गया।

सरकारी विरोध होने पर भी घेराबन्दी आन्दोलन की सफलता के कई कारण थे। एक तो स्थानीय प्रशासन अधिकारी घेराबन्दी आन्दोलन के पक्ष में थे और दूसरे यह कि सरकार ने समस्या का सामना करने में सूझ-बूझ से काम नहीं लिया। ऐसे उपायों का सहारा लिया गया जो कि नयी परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थे। सरकार इस कोशिश में थी कि नष्ट होती हुई जागीरदारी अर्थव्यवस्था फिर से जम जाय। इसके लिए उन्होंने अनेक बेढंगे उपायों का सहारा लिया जो कि नए वातावरण में अप्रभावी थे।

विवश होकर सरकार को सन् १६२४ में घेराबन्दी के लिए पास किए गए समस्त कानूनों को रद्द करना पड़ा। वैसे भी सत्रहवीं शताब्दी में इस आन्दोलन का जोर कम हो गया था क्योंकि एक ओर तो अधिकांश भूमि घेराबन्दी के अन्तर्गत आ चुकी थी और दूसरी ओर ऊन उद्योग भी अपने विकास की सीमा तक पहुँच गया था। लगभग सोलहवीं शताब्दी के अन्त में ही घेराबन्दी आन्दोलन पूरा हो चुका था। इस प्रकार घेराबन्दी से दो बातें हुई। पहला यह कि इंगलैंड के ४० प्रतिशत भू-भाग से परम्परागत ग्रामीण समुदाय का सम्बन्ध समाप्त हो गया और दूसरा यह कि भूमि सत्ता तथा भूमि स्वामित्व समाज के उच्च वर्ग में केन्द्रित हो गयी।

उद्योग तथा वाणिज्य व्यवस्था

नगरों में स्वतंत्ररूप से व्यापारिक उन्नति तथा औद्योगिक आबादी में वृद्धि के साथ इंगलैंड ने आधुनिक युग में प्रवेश किया। इस परिवर्तन में मध्यकालीन वाणिज्य तथा व्यापार का बड़ा हाथ था। मध्यकाल में कृषि की उपज इतनी अधिक नहीं थी कि उपयोग से बचे हुए अनाज का व्यापार किया जा सके। जागीरें आत्मनिर्भर थीं। उद्योग धंधा जागीर के अन्दर ही चलाया जाता था। खाने-पीने की वस्तुओं पर भूस्वामी का अधिकार था जैसे पनचक्की, बेक्री, शराब की भट्टी, इत्यादि। स्थानीय कारीगर कपड़ा, कुर्सी, मेज, मोमबत्ती और इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ बनाते थे। इन वस्तुओं को बनाने में लोग केवल स्थानीय कच्चे माल का उपयोग करते थे। स्थानीय लुहार और बढ़ई कृषि-यंत्र तथा उपकरण तैयार करते थे। वे लोग इनकी मरम्मत भी कर लेते थे। बारहवीं शताब्दी में उद्योग धंधों में स्थानीय कच्चा माल ही काम में लाया जाता था। औद्योगिक प्रक्रिया सरल होती थी। सामान स्थानीय खपत के लिए ही तैयार किया जाता था। अर्थव्यवस्था में उद्योग धंधों का महत्व बहुत कम था।

वाणिज्य तथा व्यापार बड़ी मात्रा में नहीं होता था। परिवहन तथा संचार के साधन पुराने और असुविधापूर्ण थे। आत्म निर्भरता पर बल दिया जाता था। नमक, धातु, मछली, रोएँदार खाल, कोलतार, मसाला, जवाहिरात, कपड़ा और शराब का व्यापार थोड़ा बहुत होता था। जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि हुई लोगों के रहन-सहन का स्तर भी अच्छा हो गया। वस्तु विनिमय के स्थान पर अन्तर्वर्तन का उपयोग बढ़ गया और मजदूरी चुकाने के लिए मुद्रा का उपयोग किया जाने लगा। वाणिज्य, व्यापार तथा उद्योग का विस्तार हुआ और अर्थव्यवस्था में इनका महत्व काफी बढ़ गया।

नगर. मध्यकाल में नगर छोटे-छोटे होते थे और उनकी जनसंख्या भी कम होती थी। उस समय लन्दन की जनसंख्या २५,००० से ३०,००० के बीच थी। बृस्टल और यार्क नगरों की संख्या १०,००० से अधिक थी। ५,००० से १०,००० की जनसंख्या वाले नगर कम थे। शेष नगर छोटे-छोटे थे और अधिकतर उनकी जनसंख्या १,००० से कम होती थी। थोड़े नगर ऐसे भी थे जिनकी जनसंख्या १,००० से अधिक थी। इस काल में अधिकतर जागीरें गाँवों की तरह थीं। कुछ जागीरों में बाहर के लोग आकर बस गए थे, इसलिए इनमें नगरों के लक्षण प्रगट होने लगे थे।

पुराने समय से ही नगरों में कुछ लोग वाणिज्य व्यापार का धंधा करते थे। एक जागीर को दूसरे से अलग करने के लिए झाड़ी की सीमा-चिन्ह काफी समझी जाती थी परन्तु नगरों की सीमा निर्धारित करने के लिए पक्की चहारदीवारी आवश्यक थी। सम्भव है नगर के चारों ओर पक्की चहारदीवारी होने के कारण ही अंग्रेजी शब्द 'टाउन' का उपयोग आरम्भ हुआ था। यदि नगरों के चारों ओर दीवार न होती तो उन्हें जागीर या गाँव भी कहा जा सकता था।

समय के साथ जागीरों का विकास हुआ और उनका रूप नगरों जैसा हो गया परन्तु भूस्वामी के अधिकार पूर्ववत ही रहे। जागीरवासियों की संख्या बढ़ गई और उनकी गणना खेतिहर श्रमिकों की तुलना में धनवान व्यक्तियों की श्रेणी में होने लगी। उनको कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। नगरों को राजाज्ञा द्वारा अधिकार प्राप्त होता था। नगरवासियों को नगर में न्यायालय स्थापित करने तथा अपने नगर के लिए दण्डाधिकारी तथा नगराधिकारी के चुनाव का अधिकार भी प्राप्त हुआ। ऐसे आसामियों को जो जागीर छोड़ कर नगरों में बस जाते थे, निर्धारित अवधि के भीतर वापस आने के लिए विवश नहीं किया जाता था। नगरवासियों ने व्यापारी संघ (merchants guild) बनाने का अधिकार भी प्राप्त किया जिससे वे नगरवासियों के हितों को ध्यान में रख कर व्यापार को विनियमित तथा नियंत्रित करते थे। इस प्रकार उन्हें स्वायत्त शासन का अधिकार मिला। इन अधिकारों के बदले

में उन्हें राजा को केवल कर तथा शुल्क देना पड़ता था। धीरे-धीरे वे सुरक्षा के लिए स्थानीय पुलीस का प्रबन्ध भी करने लगे और संसद में अपना प्रतिनिधि भेजने लगे। दीर्घकालीन एवं कठोर संघर्ष के बाद नगरवासियों को ये अधिकार मिले थे। आरम्भ में जमींदार तथा उनकी भूमि पर बसे नगरवासियों के बीच काफी तनातनी रहती थी। पर धीरे-धीरे स्थिति सामान्य हो गयी।

स्वायत्त शासन तथा नगरों के विकास के कारण सामान्य अर्थव्यवस्था में नगरवासियों का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया। नगरों के बीच दूरवर्ती व्यापार किया जाता था और इसका विनियमन तत्सम्बन्धी नगरपालिका करती थी। एक तरह से यह अन्तर-नगरपालिका व्यापार था। नगरों की केन्द्रीय स्थिति होने के कारण नगर चारों ओर बसी हुई जागीरों की आर्थिक-क्रिया का संगम होता था। नगर के बाजार में किसान अपना-अपना बचा हुआ (अतिरेक) उत्पादन बेचते थे और शहरी कारीगरों द्वारा निर्मित सामान खरीदते थे। स्थानीय सरकार या नगरपालिका नगर की आर्थिक क्रिया पर नियंत्रण रखती थी। इसका प्रभाव नगर की सीमा के बाहर आर्थिक क्रिया पर भी पड़ता था। इस प्रकार नगर की अर्थव्यवस्था का विकास हुआ। मध्यकाल में इगलैंड आर्थिक विकास की ऐसी अवस्था से गुजर रहा था जिसका प्रभाव पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में दिखलायी पड़ने लगा था। इसके परिदृष्टि विकास (perspective growth) की झलक नगर की अर्थव्यवस्था में स्पष्ट है।

बाजार तथा मेला. मध्यकाल में व्यापार इतना कम तथा अनियमित होता था कि उसको सुचारु रूप से चलाने के लिए समय-समय पर क्रेताओं तथा विक्रेताओं को बाजार तथा मेलों के माध्यम से एकत्र किया जाता था। इस प्रकार बाजार तथा मेलों का जन्म हुआ। कार्य तथा अवधि के अनुसार बाजार तथा मेलों में अन्तर था।

बाजार सप्ताह में एक बार लगता था। कहीं-कहीं पर दैनिक बाजार लगने की भी प्रथा थी। यह छोटे जिलों की आवश्यकताओं को पूरा करता था। इन बाजारों में मुख्यतः खाने पीने की चीजें मिलती थीं। हर नगर में बाजार के लिए एक स्थान निश्चित था जहाँ किसान अपने उपज की बिक्री करते थे। बाजार अधिकतर इतवार के दिन ऐसे स्थान पर लगता था जहाँ लोग बड़ी संख्या में एकत्र होकर सामूहिक रूप से व्यापार कर सकते थे। कानून के अनुसार राजाज्ञा प्राप्त होने पर ही बाजार लगाया जा सकता था। नए बाजार का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि पहले से लगने वाले बाजारों से स्पर्धा न हो और उनके हितों की क्षति न हो।

विशाल स्तर पर होने वाले बाजारों को मेला कहा जाता था और यह लम्बी अवधि के अन्तर पर लगता था। मेला कई दिनों तक और प्रायः कई सप्ताह तक

चलता रहता था। मेलों में आराम तथा विलासिता की वस्तुएँ बिकती थीं। अधिकांश मेलों ने धार्मिक सभाओं तथा त्योहारों का स्थान ले लिया था। धार्मिक स्थानों पर बड़ी संख्या में तीर्थयात्री इकट्ठे होते थे और यहाँ व्यापार की अच्छी सम्भावना रहती थी। मेलों के लिए भी राजाज्ञा की आवश्यकता पड़ती थी। मेले के मालिक की आमदनी कर, दुकानों के किराए और नियमोल्लंघन करने वालों से दण्डशुल्क की वसूली से होती थी। नियमोल्लंघन करने वालों को यथोचित दण्ड की व्यवस्था बाज़ार की विशेष अदालत करती थी।

मेलों के इतिहास में बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी का समय सर्वाधिक उन्नत अवस्था का समय था। इसके पश्चात् मेलों का महत्व कम होने लगा था क्योंकि व्यापार का संचालन अन्य माध्यमों के द्वारा हो चला था।

व्यापारी संघ. नगरों तथा नगरपालिकाओं के विकास के साथ-साथ एक अन्य संगठन का विकास हुआ। इसे व्यापारी संघ (merchant guild) के नाम से पुकारा जाता था। लन्दन को छोड़कर लगभग सभी नगरों में इस प्रकार के संघ थे। संघ ऐसे लोगों का संगठन था जो नगरों में खरीदने और बेचने का व्यवसाय करते थे। इन संघों का यह उद्देश्य था कि उपभोक्ता को उचित मूल्य पर सामान मिले और माल बेचने वालों को उचित पारिश्रमिक मिले। इनके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे:—(१) सदस्यों के लिए नगर की सीमा के अन्दर तथा बाहर के कुछ क्षेत्रों में व्यवसाय का एकाधिकार प्राप्त करना। ऐसे लोग जो संघ के सदस्य नहीं थे, अपना सामान निश्चित कर देकर बेच सकते थे। वे केवल संघ के सदस्यों को ही सामान बेंच सकते थे। इसका परिणाम यह होता था कि खुदरा (retail) व्यापार संघ के एकाधिकार में रहता था। प्रतियोगिता और कम से कम लाभ या अपविक्रय (under selling) की प्रवृत्ति नहीं पनपने पाती थी। (२) मुक्त रूप से व्यापार की व्यवस्था करना जिससे कि लोग व्यक्तिगत रूप से पेशबन्दी (forestalling), मुनाफाखोरी (regrating) तथा अपसंचयन (engrossing)[१] से अनुचित लाभ न उठा सकें। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति बाजार को नियंत्रित करके मूल्यों में वृद्धि नहीं कर सकता था परन्तु संघ को यह अधिकार था। (३) संघ के सदस्य साम्-

[१] पेशबन्दी (forestalling)—बाजार खुलने से पहले ही बाजार में आने वाले माल को खरीद लेना। मुनाफाखोरी (regrating)—माल उसी बाजर में अधिक कीमत पर पुनः बेचने के लिए खरीदना। अपसंचयन (engrossing)—किसी वस्तु का सम्पूर्ण या अधिकांश उपलब्ध भंडार इस उद्देश्य से खरीदना जिससे कि दाम चढ़ जाय।

हिक लाभ का बँटवारा करते थे। (४) संघ एक ऐसा संगठन था जो कि सदस्यों के पारस्परिक संरक्षण तथा सहायतार्थ कार्य करता था। यदि संघ का कोई सदस्य किसी दूसरे नगर में बन्दी बना लिया जाता था तो उसे शासकीय अधिकार के उपयोग से बुलवाया जा सकता था। (५) सदस्यों की बीमारी तथा गरीबी में संघ आर्थिक सहायता करता था। बीमार सदस्यों को बीमारी भत्ता के रूप में कुछ आवश्यक वस्तुएँ दी जातीं थीं। सदस्य की मृत्यु हो जाने पर संघ उसे दफनाने का प्रबन्ध करता था।

बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी में ऊपर वर्णित स्थिति इंगलैंड में थी। चौदहवीं शताब्दी में संघ कमजोर पड़ने लगे थे और इनका स्थान नगर समुदाय या कारीगर संघ (craft guild) ने ले लिया था।

कारीगर संघ. व्यापारी संघ के जन्म के ५० साल के अन्दर ही एक दूसरा संगठन उठ खड़ा हुआ जिसे कारीगर संघ के नाम से पुकारा जाता था। वस्तुओं का उत्पादन करने वाले कार्यकुशल कारीगरों ने मिल कर कारीगर संगठन बनाया। छोटे नगरों को छोड़कर हर स्थान पर हर प्रकार के कारीगरों ने अपना अपना संघ स्थापित किया। मध्यकालीन जीवन तथा व्यवहार के अनुरूप यह स्वाभाविक ही था कि समान व्यवस्थाओं में लगे लोग पारस्परिक हित तथा सहकारिता की भावना से संघ बनाएँ। व्यापारी संघ की स्थापना भी इसी भावना से हुई थी।

उद्योगों के संचालन का भार कारीगर संघों पर होता था परन्तु स्थानीय सरकार या नगरपालिका कारीगर संघों के कार्यों पर पूरी सतर्कता से निगरानी रखती थी। यह पता लगने पर कि संघ अपना कार्य सुचारु ढंग से नहीं कर रहे हैं, स्थानीय सरकार अपने विशेषाधिकार के उपयोग से संघ के नियमों को आवश्यकतानुसार रद्द या संशोधित कर देती थी। इस प्रकार संघ स्थानीय सरकार के अधीन रहते थे। परन्तु संघों का विकास इतने आदर्श रूप से हुआ था कि सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता बहुत कम होती थी।

कारीगर संघों की स्थापना निम्नांकित उद्देश्यों से हुई थी—(१) ऐसे संघ उद्योगों में एकाधिकार स्थापित करते थे। नगर में एक उद्योग में लगे सब लोग संघ के सदस्य होते थे। (२) संघ अपने सदस्यों पर नियंत्रण रखता था जिससे वे समुचित जीवन स्तर का निर्वाह कर सकें और ऊंचे स्तर के कारीगर बन सकें। (३) संघ के नियमों के अनुसार सदस्यों की गरीबी तथा बीमारी की अवस्था में पारस्परिक सहायता की व्यवस्था रहती थी। (४) संघ महत्त्वपूर्ण धार्मिक समारोहों को मनाता था जिससे कि इसके सदस्य सामूहिक रूप से धार्मिक अनुष्ठानों में भाग ले सकें

(५) संघ यह भी प्रयत्न करता था कि इसके सदस्य अपने दैनिक व्यवहार तथा व्यवसाय में समुचित आचार का पालन करें जिससे कि संघ के प्रति अच्छी लोकमति स्थापित हो। संघ वस्तुओं के उचित मूल्य निर्धारण पर जोर देता था और इस बात की निगरानी रखता था कि उत्पादन की कमी या अधिकता होने पर मूल्यों में घट बढ़ न हो। (६) संघ निर्माताओं (producers) के लिए समुचित पारिश्रमिक निश्चित करता था।

संघ के संगठन में तीन श्रेणी के सदस्य रहते थे, अर्थात् (१) दक्ष कारीगर (Master craftsmen), (२) साधारण कारीगर (Journeymen), (३) सीखने वाले श्रमिक या अप्रेंटिस (Apprentice)। ये श्रेणियाँ सम्बन्धित व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति के अनुसार नहीं थीं। वरन् इनसे एक व्यक्ति के जीविका-क्रम (career) की तीन विभिन्न अवस्थाओं का भास होता था। ऐसे कुशल शिल्पियों को दक्ष कारीगर कहा जाता था जिनके अपने कारखाने होते थे, जहाँ वे साधारण कारीगरों को मजदूरी देकर काम कराते थे और वस्तुओं के उत्पादन में उनकी सहायता लेते थे। दक्ष कारीगर अपने कारखाने में अपरेंटिसों को प्रशिक्षण भी देते थे। वे अपने कारखानों में औजार तथा उपकरण उपलब्ध रखते थे और इस प्रकार वे अंशतः पुँजीपति तथा अंशतः कारीगर थे। साधारण कारीगर प्रशिक्षित श्रमजीवी मजदूर होते थे, जिन्हें दक्ष कारीगर स्थायी या अस्थायी रूप से अपने कारखाने में नौकरी देते थे। साधारण कारीगर कई वर्ष तक दक्ष कारीगर के निर्देशन में व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करते रहते थे और अन्त में वे दक्ष कारीगर बन जाते थे। पर्याप्त धन एकत्र करके वे भी अपना कारखाना खोल लेते थे और साधारण कारीगर तथा अप्रेंटिस उनके यहाँ काम करने लगते थे। इस प्रकार दक्ष कारीगर स्वतंत्र रूप से अपनी संस्थाएँ बनाते रहते थे। अप्रेन्टिस किसी शिल्प में प्राप्त करने के इच्छुक ऐसे नवयुवक थे जो प्रशिक्षण समाप्त करने के पश्चात् दक्ष कारीगरों के कारखानों में काम करते थे। नियमानुसार दक्ष कारीगर अप्रेंटिसों के साथ वैसा ही अच्छा व्यवहार करते थे जैसा कि वे अपने पुत्रों के साथ करते थे। प्रशिक्षण काल में अप्रेंटिसों को वे पूरी सतर्कता से प्रशिक्षित करते थे।

कारीगर संघ के गुण और दोष. विकास की प्रारम्भिक अवस्था में कारीगर संघ अत्यंत महत्वपूर्ण तथा उपयोगी कार्य सम्पन्न करते थे। अप्रेंटिस प्रथा के अन्तर्गत नवयुवकों को उपयुक्त प्राविधिक शिक्षा दी जाती थी जो तत्कालीन परिस्थितियों में सर्वोत्तम उपलब्ध शिक्षा थी। संघों के नियमानुसार सामाजिक बीमा के समान जो सुविधाएँ सदस्यों को प्राप्त होती थीं वह उस काल की अत्यधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि थीं क्योंकि बीमा सम्बन्धी सुविधा पूँजीपति अर्थव्यवस्था में बहुत देर से प्रचलित

हुई । कारीगर रोजगार की ओर से निश्चित थे और उनके कार्य की शर्तें सामान्यतः अच्छी थी । मजदूरी तथा मूल्यों का विनियमन (regulation) संघ द्वारा होता था और इस प्रकार से कारीगरों, क्रेताओं तथा विक्रेताओं के हितों की रक्षा होती थी । संघ के कारण अर्थव्यवस्था में एक ऐसे मध्य वर्ग या 'बूर्जूआ' समुदाय का उदय हुआ जो आगे चलकर आधुनिक आंग्ल समाज का आधार स्तम्भ प्रमाणित हुआ । पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक समाज में एक धनी वर्ग भी बन गया ।

इस प्रथा में कई दोष भी थे । संघ व्यवस्था स्थानीय नियंत्रण तथा विनियमन पर आधारित थी इसलिए कुछ सीमा तक व्यक्तिगत उद्यम तथा अभिक्रम (initiative) के विकास में यह व्यवस्था बाधक रही होगी । वस्तुतः यह एकाधिकार संगठन का एक रूप था जिसमें निजी हितों की रक्षा के लिए उत्पादन को सीमित रखना महत्वपूर्ण व्यवसायिक कार्य-नीति मानी जाती होगी ।

कारीगर संघों का विघटन. संघों का विघटन पन्द्रहवीं शताब्दी में तीव्र गति से आरम्भ हो गया था और सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक वे प्रभावहीन हो गए थे । इन संघों के विघटन के कई कारण बतलाए जाते हैं :—

(१) कारीगर संघों के द्वारा बहिष्कारवादी नीति अपनाए जाने के कारण साधारण कारीगरों में प्रतिद्वंद्विता की भावना बढ़ी और उन्होंने अपना अलग संघ बना लिया । आरम्भ में संघों में परोपकार तथा लोकतंत्र के स्थापित सिद्धान्तों पर बड़ा बल दिया जाता था परन्तु बाद में वे स्वार्थी तथा संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाने लगे । उद्योग और व्यापार के विकास के साथ-साथ पूँजी का महत्व बहुत बढ़ गया था और संघ के धनी सदस्य कुशल कारीगरों को अपने यहाँ नियुक्त करके मालिक बन बैठे । अधिकतर साधारण कारीगर कभी भी दक्ष कारीगर नहीं बन पाते थे और धीरे-धीरे उनका एक पृथक तथा स्थायी श्रमजीवी वर्ग बन गया । दक्ष कारीगर न बन पाने के कारण उनमें असंतोष फैल गया और दक्ष कारीगरों के प्रति उनकी कटुता बढ़ गयी । धीरे-धीरे हर नगर में उन्होंने संगठित होकर अपने अलग संघ बना लिये जिन्हें साधारण कारीगर संघ (journeymen guilds) या स्वेच्छासेवी संघ (yeoman guilds) कहा जाता था ।

(२) विघटन का दूसरा कारण आन्तरिक संगठन से सम्बन्धित था । प्रारम्भिक अवस्था में कारीगर संघों में प्रवेश, उसका ढाँचा तथा कार्य लोकतंत्री सिद्धान्तों के अनुसार होता था । धीरे-धीरे वेशभूषा (livery) वाले सदस्य तथा वेशभूषा उपयोग न करने वाले सदस्यों में विभिन्नता उत्पन्न हो गयी । संघ के धनी तथा अधिक समृद्ध सदस्य संघों द्वारा स्वीकृत वेशभूषा धारण करते थे । आरम्भ में यह ध्यान

रखा जाता था कि संघ के सदस्यों के लिए स्वीकृत वेशभूषा अधिक मूल्यवान न हो जिससे की सभी सदस्य इसका उपयोग कर सकें। परन्तु बाद में अधिक मूल्यवान वेशभूषा का उपयोग किया जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि संघ के धनी तथा सम्पन्न सदस्य ही स्वीकृत वेशभूषा का उपयोग कर पाते थे। इस प्रकार धनी वेशभूषा वाले सदस्यों तथा निर्धन बिना वेशभूषा वाले सदस्यों में विभिन्नता उत्पन्न हो गयी। धनी सदस्यों का एक अलग वर्ग बन गया और इस विभिन्नता के कारण परम्परागत कारीगर संगठन टूट गया।

(३) ग्रामीण क्षेत्रों तथा नए नगरों में संघ नहीं थे, परन्तु फिर भी वहाँ उद्योगों का विकास हुआ। अब यह अनुभव किया जाने लगा कि बिना किसी संघ के भी उद्योगों का विकास हो सकता है। इससे संघों का विनाश होना आरम्भ हो गया। अनेक लोग ऐसे भी थे जो संघों की सदस्यता नहीं प्राप्त करना चाहते थे। इससे बचने के लिए वे नगरों के बाहर उपनगरों (suburbs) में बस जाते थे। कुछ ऐसे उद्योग भी थे जो कि ग्रामीण क्षेत्रों में विकसित हो गए थे। इनमें ऊन उद्योग प्रमुख था। ये उद्योग संघ के अधिकार क्षेत्र के बाहर थे।

(४) कारीगर संघ आर्थिक विकास प्रक्रिया की एक विशेष अवस्था के लिए उपयुक्त था। उस समय संचार तथा परिवहन के अच्छे साधन उपलब्ध नहीं थे जिससे कि प्रभावी शासकीय नियंत्रण सम्भव नहीं था। उद्योग तथा व्यापार पिछड़ी अवस्था में था। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में सरकार काफी सक्रिय तथा शक्तिशाली हो गयी थी। अपनी आय बढ़ाने के लिए वह उद्योग तथा व्यापार की उन्नति चाहती थी। देश के एक भाग से दूसरे में अब यात्री अधिक सुरक्षित रूप से आ जा सकते थे और अब वे अधिक धनी एवं कुशल व्यापारी बन गए थे। किसी नगर में निर्मित किसी भी सामान की खपत देश के हर भाग में होने लगी थी। पहले वस्तुओं का निर्माण स्थानीय खपत के लिए किया जाता था। इस प्रकार संघों द्वारा व्यापार का विनियमन सन्तोषप्रद प्रमाणित नहीं हुआ और ऐसे उद्योगों के लिए जिनके माल की खपत देश के विस्तृत बाजार क्षेत्रों में थी, संघों द्वारा विनियमन तथा नियंत्रण निश्चित रूप से हानिकर प्रमाणित हुआ। ऐसे उद्योगों में ऊनी तथा सूती उद्योग प्रमुख था। संघों के विघटन का एक कारण यह भी था कि पन्द्रहवीं शताब्दी में योरोप के अन्य देशों से कारीगर इंगलैंड में आकर बस गए थे। ये कारीगर स्थानीय कारीगरों की अपेक्षा अधिक कुशल थे और वे संघ के नियंत्रण में नहीं रहना चाहते थे। अतः इंगलैंड के राजा ने इन लोगों को संघ के अधिकार से मुक्त कर दिया था। इस प्रकार संघों का प्रभाव क्षेत्र कम हो गया।

(५) संघों के अन्तर्गत औद्योगिक संगठन में पूँजीवाद का विस्तार हुआ। संघ पद्धति का ढाँचा ऐसा था कि उसमें पूँजी का उपयोग बड़ी मात्रा में नहीं होता था। संघ छोटी मात्रा में उत्पादन के उपयुक्त था। यह स्थिति अब बदल गयी थी। अधिक सफल कारीगरों ने देशी तथा विदेशी व्यापार में नए अवसरों तथा सम्भावनाओं को खोज निकाला और वे धनवान हो गए। उन्होंने संघ को अपने नियंत्रण में कर लिया और साधारण एवं धनहीन सदस्यों को संघ के कार्य तथा अधिकार से वंचित कर दिया।

(६) संघों में विशेषज्ञता तथा श्रमविभाजन की वृद्धि के कारण भी संघों का पतन हुआ क्योंकि यह प्रक्रिया संघ प्रणाली से मेल नहीं खाती थी। श्रम विभाजन के कारण वस्तु का निर्माण कई शिल्पों के द्वारा होता था। इनमें से प्रमुख शिल्प के व्यवस्थापकों के पास व्यापारिक संगठन तथा प्रवन्ध का कार्य भी आ जाता था। इस प्रकार अन्य शिल्प प्रमुख शिल्प के अधीन हो जाते थे और उन्हें विक्रय, मजदूरी तथा क्रय के लिए प्रमुख शिल्प पर निर्भर रहना पड़ता था।

(७) संघों के पतन में सरकारी हस्तक्षेप कम महत्वपूर्ण कारण नहीं था। प्रारम्भिक अवस्था में संघों को सरकारी स्वीकृति तथा समर्थन प्राप्त था। संघों के प्रति सरकार की भावना सहानुभूतिपूर्ण तथा सहायतापूर्ण रहती थी और दोनों के बीच किसी प्रकार का संघर्ष नहीं था। परन्तु बाद में संघ के सदस्यों की नियत विगड़ गयी। सम्पूर्ण व्यवसाय के सामूहिक हित के स्थान पर अब उन्हें केवल व्यक्तिगत लाभ से मतलव रह गया। विवश होकर सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और संघों के कार्य को विनियमित करने के लिए कई एक्ट पास किए गये। १५४७ में धार्मिक कार्यों में लगी संघ की समस्त धन-सम्पत्ति जव्त कर ली गयी। १५६३ में पास किये गए कानून के अनुसार मजदूरों के काम के घंटों, संविदा (contract) का स्वरूप, मालिक-मजदूर सम्बन्ध विषयक अन्य अनेक बातों को विनियमित किया गया जिससे कि संघों के द्वारा प्रबन्ध तथा प्रशासन में विवेक (discretion) का अधिकार समाप्त हो गया।

घरेलू प्रणाली. जैसे-जैसे संघ प्रणाली का महत्व कम होता गया, इसके स्थान पर एक दूसरा औद्योगिक संगठन विकसित हुआ जिसे घरेलू प्रणाली (domestic system) कहा जाता था। परिवर्तन की गति इतनी कम थी कि घरेलू प्रणाली के उदय होने की तिथि निश्चित करना कठिन है। फिर भी यह कहा जाता है कि इंगलैंड में इस प्रणाली की चर्चा पहली बार १४६४ में हुई। इटली में यह प्रणाली पहले से ही प्रचलित थी। घरेलू प्रणाली में कारीगर घरेलू श्रमिक के रूप में काम करते थे। संघ प्रणाली में भी कारीगर घरेलू श्रमिक की भाँति काम करते थे। इसलिए 'घरेलू प्रणाली' शब्द से प्रणालियों में विभिन्नता स्पष्ट नहीं होती थी। इसकी तुलना

में "कमीशन पद्धति" या "घरेलू उत्पादन पद्धति" (putting out system) इस आशय को स्पष्ट करने की दृष्टि से अधिक उपयुक्त हैं परन्तु इन शब्दों के प्रयोग को सामान्य स्वीकृति नहीं मिली।

संघ प्रणाली में दक्ष कारीगर कच्चा माल खरीदते थे और साधारण कारीगर और अपरेंटिसों की सहायता से अपने कारखाने में माल तैयार करवाते थे। वे तैयार माल को साधारणतया ग्राहकों के हाथ मेलों या बाजार में बेच देते थे। इसके विपरीत घरेलू प्रणाली में स्वामी अथवा प्रबन्धक कारीगरों को काम बाँट देते थे। कारीगर अपने-अपने घरों में रह कर काम करते थे। कभी-कभी कारीगर लोग स्वयं अपना कच्चा माल लगाते थे और अपने औजारों का उपयोग भी करते थे परन्तु अधिकतर स्वामी या प्रबन्धक कच्चा माल तथा औजार उपलब्ध करते थे। कारीगरों को खुदरे काम के हिसाब से तैयार माल की मात्रा तथा मूल्य के अनुसार, मजदूरी मिलती थी। घरेलू प्रणाली का विकास ऐसे समय हुआ जब कि नगरों तथा जागीरों की स्थिति बदल रही थी, जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी, बाजार का क्षेत्र विस्तृत हो रहा था और व्यापार के नवीनतम तरीके विकसित हो रहे थे। पूँजी का उपयोग अधिक से अधिक हो रहा था जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक प्रवर्त्तकों (promoters) तथा उद्यमकर्त्ताओं (entrepreneurs) का एक नया वर्ग ही बन गया। मालिक (employer) अधिकतर व्यापारी हुआ करते थे और यह आवश्यक नहीं था कि वे कारीगर भी हों। ये लोग पूँजी का प्रबन्ध करते थे और कार्य को संगठित करते थे। ये लोग कच्चे माल की खरीद तथा बिक्री काफी सतर्कता से करते थे। इस प्रकार एक ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ जिसके अन्तर्गत पूँजी एक वर्ग तथा श्रम दूसरा वर्ग प्रस्तुत करता था। घरेलू प्रणाली सब से पहले ऊनी तथा सूती वस्त्र उद्योग में प्रचलित हुई। पन्द्रहवीं से सोलहवीं शताब्दी में ये उद्योग इंगलैण्ड के प्रमुख उद्योग थे। पन्द्रहवीं शताब्दी में ऊनी वस्तुओं का उत्पादन तीव्र गति से बढ़ा। बड़ी संख्या में कपड़े वालों तथा व्यापारिक निर्माताओं ने कार्य आरम्भ किया। वे ऊन खरीद कर धुनकरों, कताई करने वालों, बुनकरों, धोबियों तथा अन्य प्रक्रियाओं से सम्बन्धित व्यक्तियों को देते थे और उत्पादन प्रक्रिया में उनके योगदान के अनुसार मजदूरी देते थे। अन्त में विनिर्माता तैयार माल इकट्ठा करके देशी या विदेशी बाजारों में बिक्री के लिए भेज देते थे। इस उद्योग में श्रमविभाजन तथा विशेषज्ञता इतनी उन्नत अवस्था में थी कि कपड़े के निर्माण में १२-१४ प्रक्रियाएँ थीं।

कारीगर संघों के प्रतिबन्धों तथा नियमों से बचने के लिए वस्त्र विनिमाताओं में नगर छोड़ कर गाँव में बसने की प्रवृत्ति पनपने लगी थी। इस प्रकार इस वर्ग

के लोगों ने घरेलू प्रणाली को सबसे पहले अपनाया और इस प्रणाली के विकास के कारण कारीगर संघों का विघटन हुआ।

घरेलू प्रणाली से लोगों को बहुत लाभ हुआ। खेतिहर लगानदारों के लिए यह विशेषरूप से लाभप्रद प्रमाणित हुई क्यों कि सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में ऊनी उद्योग में मजदूरी करके, कीलें, साबुन, मिट्टी के वर्तन आदि बना कर उन्होंने अपनी आय में वृद्धि की। ये लोग स्वतंत्र रूप से काम करते थे और इच्छानुसार अधिक से अधिक समय तक काम करते रहते थे। श्रमिकों की दृष्टि से, अट्ठारहवीं शताब्दी में विकसित कारखाना प्रणाली की तुलना में घरेलू प्रणाली अधिक उपयोगी थी। श्रमिक गावों में ही रहते थे जिससे उनकी शहरों में वाढ़ नहीं होती थी। घरेलू प्रणाली में न तो धुआं उगलने वाली लम्बी लम्बी चिमनियाँ थीं और न रात दिन गरम कारखानों में लगातार कठोर काम करने का एक रस वातावरण। इस प्रणाली में न तो वड़ी बड़ी धमन भट्टियाँ (blast furnaces) थीं और न ही विशाल रासायनिक कारखाने जिनमें मजदूर काम करते हुए जीवन व्यतीत करते थे और बाद में असाध्य रोगों के शिकार हो जाते थे। यह प्रणाली कारखाना प्रणाली के अवगुण से वंचित थी।

घरेलू प्रणाली के साथ-साथ उद्योगों में पूँजीवादी व्यवस्था का विकास हुआ। विदेशों में ऊनी वस्त्र व्यापार के द्वारा अर्जित तथा संचित धन के कारण व्यापारियों ने घरेलू श्रमिकों के ऊपर अपना अधिकार तथा प्रभुत्व जमा लिया। उत्पादन विना पूँजी के सम्भव नहीं था और पूँजी थोड़े लोगों के हाथ में केन्द्रित हो चुकी थी।

घरेलू प्रणाली में कुछ अवगुण भी थे। वैसे तो कहा जाता था कि श्रमिक स्वतंत्ररूप से कार्य करते थे पर वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं थी। उनके पास न तो अपने औजार ही थे और न वे अपने लिए कच्चा माल ही खरीद सकते थे। मालिक जो भी काम जिस स्थिति में करने के लिए मजदूरों को देते थे उन्हें करना पड़ता था। मजदूरों को किसी श्रमिक संघ का संरक्षण भी नहीं प्राप्त था और उनका शोषण हर प्रकार से होता था। वे प्रायः मालिकों के ऋण से दबे रहते थे। पारस्परिक स्पर्धा इतनी बढ़ गयी थी कि कितने ही लोग बरवाद हो गए थे। वालश्रमिक जैसी कुरीतियाँ अत्यधिक कष्टप्रद थीं। इतिहासकारों का मत है कि आधुनिक श्रमिक संसार की सर्वाधिक गम्भीर समस्याओं में श्रमिक शोषण (sweating) तथा वाल श्रमिक प्रथा, घरेलू प्रणाली का प्रत्यक्ष परिणाम है।

मध्यकाल में आर्थिक क्रिया स्थानीय स्तर तक ही सीमित रहती थी। मध्यकाल की समाप्ति के समय इंगलैण्ड में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो चुकी थी जिसके कारण वाणिज्यवाद की नीति सोलहवीं से अट्ठारहवीं शताब्दी तक और कुछ सीमा तक उन्नीसवीं शताब्दी में भी अपनायी गयी। इस नीति के परिणामस्वरूप वैयक्तिक स्थानीय, साम्प्रदायिक, वर्गीय, तथा क्षेत्रीय हितों के स्थान पर राज्य के हितों को प्राथमिकता मिली। इस नीति का प्रमुख उद्देश्य ग्रेट ब्रिटेन को सम्पन्न तथा शक्तिशाली देश बनाना था और इस की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का विनियमन तथा नियंत्रण राज्य के द्वारा हो।

विश्व में शक्तिशाली राष्ट्र बनने के लिए धन का संचय आवश्यक था क्योंकि धन की सहायता से ही विशाल तथा शक्तिशाली स्थल एवं नौ सेना रखी जा सकती थी और बड़ी मात्रा में हथियार तथा गोला बारूद प्राप्त किये जा सकते थे। इस प्रकार से धन का संचयन ही वाणिज्यवाद का मूल तत्व था। वाणिज्यवादियों के अनुसार सोना चाँदी जैसी मूल्यवान धातुओं के संचय के द्वारा ही धन का संचय सम्भव था। उनके लिए सोना धन का प्रतीक तथा राजनैतिक शक्ति का मूलाधार था। सोना विदेशों से ही प्राप्त किया जा सकता था इसलिए सोना प्राप्त करने के लिए विदेशी व्यापार ही प्रमुख श्रोत था। वाणिज्यवाद की आधारभूत व्यावहारिक नीति यह थी कि आयात निर्यात को इस प्रकार विनियमित तथा नियंत्रित किया जाय कि जिससे कि अनुकूल व्यापार सन्तुलन प्राप्त हो सके। राज्य की अन्य क्रियाओं को गौण समझा जाता था।

उद्देश्य. वाणिज्यवाद के निम्नांकित मूल उद्देश्य थे :

(१) देश में राष्ट्रीय शक्ति के विकास पर बल दिया जाता था। वाणिज्यवादियों के अनुसार राष्ट्रीय शक्ति के विकास के लिए यह आवश्यक था कि देश में विशाल एवं स्वस्थ जनसमुदाय तथा पर्याप्त खाद्य सामग्री हो और नौ सेना तथा उद्योगों का विकास किया जाय। इस दिशा में स्थानीय या वर्गीय विनियमन तथा नियंत्रण की अपेक्षा राष्ट्रीय स्तर पर विनियमन को प्राथमिकता दी जाती थी।

(२) बड़ी मात्रा में बहुमूल्य धातुओं का संचय इस नीति की दूसरी विशेषता थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सोने का निर्यात पूर्णतया वर्जित तो नहीं था पर निरुत्साहित अवश्य किया जाता था और सोने के आयात को प्रोत्साहन दिया जाता था।

(३) इस नीति की एक अन्य विशेषता यह थी कि राष्ट्र इस बात का प्रयत्न करता था कि अनुकूल व्यापार सन्तुलन स्थापित हो जिससे कि देश में सोना लगातार आता रहे।

वाणिज्यवाद पर उस काल की छाप थी जिसमें इसका जन्म हुआ था। जैसा इसके नाम से ज्ञात होता है इस नीति में उद्योग या कृषि की तुलना में व्यापार को और देशी व्यापार की तुलना में विदेशी व्यापार को अधिक महत्व दिया जाता था। बृटिश कम्पनियों को एशिया, अमरीका तथा अफ्रीका से व्यापार करने में भारी लाभ हुआ। विदेशों में व्यापार करने वाली कुछ कम्पनियों ने प्रारम्भिक अवस्था में १०० प्रतिशत तक लाभांश घोषित किया।

वाणिज्यवाद की कार्यप्रणाली. वाणिज्यवादी योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में विश्वास करते थे जिसमें राष्ट्रीय साधनों का उपयोग केवल पूर्व निर्धारित उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता था। वाणिज्यवादियों के विचार में यह पूर्व निर्धारित उद्देश्य धन संचय द्वारा राष्ट्रीय शक्ति बढ़ाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं में विनियामक (regulatory) उपायों का सहारा लेते थे।

(१) कृषि. इंगलैंड को खाद्यपदार्थों के उत्पादन में आत्मनिर्भर बनाने के लिए अनेक उपाय किए गये। भेड़ पालन के लिए चरागाह लगाने के स्थान पर खेती पर अधिमानता (preference) दी गयी। वाणिज्यवादियों की यह धारणा थी कि बिना खाद्यपदार्थों में आत्मनिर्भर बने ब्रिटेन के लिए शत्रुओं पर विजय पाना असम्भव था क्योंकि युद्ध काल में खाद्यपदार्थों का आयात कठिन हो जाता था। आंग्ल कृषक को अन्न अधिनियमों के द्वारा तटकर संरक्षण (tariff protection) प्राप्त था। अन्न अधिनियम (corn laws) वैसे तो उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए पास किए गए थे परन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य निर्यात में रुकावट डालना था। अन्न उत्पादकों की रक्षा के लिए पहला महत्वपूर्ण अधिनियम १६६३ में पास किया गया। इसके अन्तर्गत गेहूँ का दाम ४८ शिलिंग प्रति क्वार्टर से नीचे गिरने पर विदेशों से आयात किये जाने वाले गेहूँ पर ५ शि० ४ पें० प्रति क्वार्टर की दर से कर लगाने की व्यवस्था थी। १७६० में अनाज के मूल्यों में घटबढ़ के अनुसार समंजनशील

(sliding scale) कर निर्धारित किए गए। किसानों को अनाज के निर्यात पर अधिदान (bounty) या आर्थिक सहायता भी दी जाती थी। इस सम्बन्ध में १६७३ में एक कानून बनाया गया था। इसके स्थान पर १६८६ में अन्न अधिदान अधिनियम पास किया गया। नये अधिनियम के अनुसार गेहूँ का मूल्य ४८ शिलिंग प्रति क्वार्टर या इससे कम होने पर किसानों के प्रति क्वार्टर गेहूँ निर्यात करने पर ५ शिलिंग का अधिदान दिया जाता था। गेहूँ के मूल्य में वृद्धि होने के कारण यह अधिनियम अप्रवर्ती (inoperative) रहा यद्यपि यह अधिनियम १८१४ तक प्रभावी (effective) रहा। सरकार ने कृषि-उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए अन्य रीतियों को भी अपनाया जिनमें भेड़ पालने के लिए घेरावन्दी के विरोध में अधिनियम तथा उद्घोषणाएँ (proclamations) प्रमुख हैं।

(२) उद्योग. उद्योगों के विकास के लिए अनेक उपाय किए गए। वाणिज्यवादियों की व्यापारिक नीति में सूती तथा ऊनी वस्त्र एवं अन्य उद्योगों को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला। उद्योगों के विकास के लिए अन्य उपायों में विदेशी व्यापार का विनियमन, आप्रवासन का नियंत्रण, महत्वपूर्ण औद्योगिक अधिनियमों को जारी करना, अच्छी तथा मानक (standard) वस्तुओं का निर्माण, एकाधिकार की स्थापना तथा श्रमिकों की स्थिति में सुधार मुख्य हैं।

वाणिज्यवादी तैयार माल के आयात का विरोध करते थे तथा अमरीका के आंग्ल बागानों से आवश्यक कच्चे माल के आयात को प्रोत्साहित करते थे जिससे कच्चा माल बहुतायत से मिलता रहे। १४५५ में सिल्क के आयात को और १४६३ में कुछ अन्य वस्तुओं के आयात को बन्द कर दिया गया। साथ ही निर्मित तथा तैयार माल के निर्यात को प्रोत्साहित किया गया तथा कच्चे माल के निर्यात को निरुत्साहित किया गया। उदाहरणार्थ कच्चे ऊन के निर्यात को वर्जित कर दिया गया जिससे ऊनी वस्त्र उद्योग को प्रोत्साहन मिले। १६६७ में एक अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार शव को ऊनी कफन में दफनाना अनिवार्य कर दिया गया। १८६८ के अधिनियम के अनुसार मजिस्ट्रेटों, जजों, प्रोफेसरों तथा विद्यार्थियों के लिए ऊनी गाउन पहनाना अनिवार्य कर दिया गया। सिल्क उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिए १७०० में विदेशी सिल्क का उपयोग वर्जित कर दिया गया। १७२१ में कैलिको अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार भारतीय मलमल का उपयोग निषिद्ध कर दिया गया। १७४५ में फ्रांस के कैमब्रिक (सूती महीन कपड़े) का उपयोग सीमित कर दिया गया। १७१८ में आंग्ल कारीगरों तथा शिल्पकारों का विदेशों में उत्प्रवासन (emigration) बन्द कर दिया गया तथा १६६६ और १७७४ के कानूनों के अनुसार आंग्ल मशीनों का निर्यात निषेध कर दिया गया

जिससे कि उनके तकनीकों (techniques) को गोपनीय रखा जा सके। इसके विपरीत इंगलैंड में विदेशी कारीगरों का प्रवासन (migration) प्रोत्साहित किया जाता था।

सरकार ने अनेक वस्तुओं के उत्पादन में गुणों तथा नाप तौल का मानकीकरण निर्धारित कर दिया। उदाहरणार्थ ऊनी कपड़ों के थान की लम्बाई चौड़ाई तथा तौल का मानक निर्धारित कर दिया गया। कुछ वस्तुओं के निर्माण में तो मशीन के उपयोग के सम्बन्ध में भी नियम बना दिए गए।

श्रमिक वर्ग की कार्यदशा सुधारने के लिए भी अनेक उपाय किए गए। एलीज्बेथ के राज्य काल में कई श्रम अधिनियम पास किए गए, जिन्हें वाणिज्यवाद का आधार स्तम्भ माना गया। १५६३ के कारीगरों या अपरेंटिसों के अधिनियमों (Statutes of Artificers or Apprentices) के अन्तर्गत विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का अधिकार शान्ति के न्यायाधिपतियों (Justice of Peace) को दिया गया। इस कानून का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य पूर्ण रोजगार दिलाना था। इस कानून में १२ वर्ष से अधिक तथा ६० वर्ष से कम बेरोजगार लोगों के लिए खेतों में काम करने की व्यवस्था थी और समस्त कारीगरों के लिए दो न्यायाधिपतियों या नगरपालिका-अधिकारियों का आदेश प्राप्त करने पर खेतों की कटाई का काम करना अनिवार्य कर दिया गया।

(३) विदेशी-व्यापार. वाणिज्यवादियों की नीति में विदेशी व्यापार का क्षेत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण था क्योंकि इससे देश समृद्धशाली हो सकता था। एक ओर तो इस बात का प्रयत्न किया जाता था कि मूल्यवान धातुओं या कच्चे माल को छोड़ कर समस्त वस्तुओं के आयात को निश्चित रूप से निरुत्साहित या बन्द कर दिया जाय। दूसरी ओर अधिदान (bounty) तथा आर्थिक सहायता के द्वारा निर्यात को प्रोत्साहित किया जाता था विशेष रूप से उन वस्तुओं के निर्यात को जिसके भुगतान में सोना-चांदी प्राप्त होता था। विदेशी व्यापार वृद्धि की दिशा में नौसेना शक्ति तथा व्यापार द्वारा सहायक घरेलू उद्योगों, नौपरिवहन (shipping) और मात्स्यिकी (fisheries) को भी प्रोत्साहन दिया जाता था।

इंगलैंड के लाभ के लिए कुछ अनन्य अधिकारों को प्राप्त करने तथा बेशी तैयार माल की बिक्री की समुचित व्यवस्था के लिए शासन की ओर से कई वाणिज्य संधियां भी की गयीं। आयात तथा निर्यात के आंकड़ों का अध्ययन उस समय बड़ी सतर्कता से किया जाता था जिससे यह पता लगता रहे कि कौन से देश इंगलैंड से अधिक माल मंगाते थे और कम बेचते थे। १७०३ की मेथ्युयेन संधि (Methuen Treaty) के

अनुसार पुर्तगाल के साथ व्यापार को प्रोत्साहित किया गया जिसके अनुसार इंगलैंड पुर्तगाल से शराब मंगाता था और उसके बदले में ऊनी कपड़ा भेजता था। फ्रांस के साथ व्यापार निरुत्साहित किया जाता था क्यों कि इससे प्रतिकूल व्यापार संतुलन (unfavourable balance of trade) स्थापित होता था। १६७८ के अधिनियम के अनुसार फ्रांस की शराब तथा विलास-वस्तुओं का आयात बिलकुल बन्द कर दिया गया। वाणिज्यवादियों ने ईस्ट इन्डिया कम्पनी के व्यापार की भी आलोचना की क्योंकि इस व्यापार को चलाने के लिए बड़ी मात्रा में चांदी का निर्यात करना पड़ता था।

(४) उपनिवेशी पद्धति. वाणिज्यवादी अपने हितों की पूर्ति के लिए ब्रिटिश उपनिवेशों का उपयोग व्यवस्थित रूप से करना चाहते थे। उनको विश्वास था कि उपनिवेश मूल देशों (mother countries) के हित के लिए थे और इसलिए उपनिवेशों के साथ व्यापार करने का अनन्य अधिकार केवल इंगलैंड को है। वाणिज्यवादी संकल्पना (conception) के अनुसार उपनिवेशों का कार्य ऐसे कच्चे माल का सम्भरण (supply) करना था जिसका उत्पादन इंगलैंड में नहीं होता था। उनका यह भी विचार था कि उपनिवेश ब्रिटेन के तैयार माल के लिए महत्वपूर्ण बाजार के समान थे। वाणिज्यवादियों के लिए उष्णकटिबन्धीय या उपोष्ण कटिबन्धीय (Tropical or sub-tropical) देश अधिक उपयोगी थे क्योंकि वहाँ के माल की स्पर्धा इंगलैंड के माल से नहीं हो सकती थी। इस दृष्टि से वेस्ट इंडीज से चीनी और नील, वर्जीनिया से तम्बाकू, केरोलीना से चावल का आयात बिना किसी रुकावट के किया जाता था। उपनिवेशों के गवर्नरों के लिए अनुदेश (instruction) था कि वे उपनिवेशों में उन उद्योगों को निरुत्साहित करें जिनसे आंग्ल उद्योगों से स्पर्धा की सम्भावना हो। ऐसे स्थानों पर जहां मूल देश के हितों में किसी अन्य तरीके से आर्थिक क्रिया को निरुत्साहित नहीं किया जा सकता था वहां निग्राहक (restraining) कानूनों का सहारा लिया जाता था। १६९९ के कानून के अनुसार उपनिवेशों में निर्मित कपड़े का निर्यात उपनिवेश की सीमा के बाहर बन्द कर दिया गया था जिससे कि लंकाशायर के सूती कपड़े के उद्योग को प्रोत्साहन मिले। १७३२ में अमरीका के हैट उद्योग पर प्रतिबन्ध लगाया गया और १७५० में अमरीका के उपनिवेशों में लोहा चीरने के कारखानों तथा फौलाद की भट्टियों का निर्माण वर्जित कर दिया गया। नौपरिवहन अधिनियम का, जिसका वर्णन नीचे किया जा रहा है, यही उद्देश्य था।

(५) नौपरिवहन उद्योग तथा नौपरिवहन अधिनियम. ब्रिटेन में नौपरिवहन उद्योग को विनियमित तथा नियंत्रित रखने के लिए नौपरिवहन अधिनियम पास किया गया। हालैंड उस समय व्यापार के क्षेत्र में प्रबल प्रतिद्वन्दी था। हालैंड के

विकासशील व्यापार को नष्ट करने के लिए नौपरिवहन अधिनियमों की विस्तृत संहिता (code) बनाई गई जिससे कि ब्रिटेन का व्यापारी बेड़ा (mercantile marine) विकसित हो। सोने चांदी का विशाल भंडार एकत्र करना इस अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य था।

सबसे पहला नौपरिवहन अधिनियम १३८१ में पास किया गया था जिसके अनुसार अंग्रेजों तथा अंग्रेजी व्यापारियों द्वारा विदेशी जहाजों का उपयोग निषिद्ध कर दिया गया। इस अधिनियम को नियमित रूप से लागू नहीं किया जा सका क्योंकि अंग्रेजी व्यापारियों ने इस अधिनियम की कमियों को खोज निकाला। १६५१ में दूसरा अधिनियम पास किया गया जिसे १६६० के अधिनियम के द्वारा अनुपूरित किया गया। इनके अनुसार उपनिवेशों में निर्मित माल का व्यापार ब्रिटिश जहाजों के द्वारा ही किया जा सकता था और औद्योगिक वस्तुओं के व्यापार का अनन्य एकाधिकार ब्रिटिश जहाजों को मिल गया। उपनिवेशों के उत्पादन का वर्गीकरण 'प्रगणित' (enumerated) तथा 'अप्रगणित' (non-enumerated) वस्तुओं में कर दिया गया था। अधिनियम के अनुसार प्रगणित वस्तुएं केवल इंगलैंड के जहाज में ही भेजी जा सकती थी। यह नियम योरोप के माल के सम्बन्ध में भी लागू था।

(६) बहुमूल्य धातु संग्रह. विभिन्न उपायों द्वारा, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, इंगलैंड ने बड़ी मात्रा में बहुमूल्य धातुओं (bullion) को संचित किया। सरकार ने बाहर की ओर बहुमूल्य धातुओं के बहाव में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप किया और सोने और चांदी के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी में सिक्कों का निर्यात गम्भीर अपराध माना जाता था और विदेशियों को जमानत देनी पड़ती थी कि वे सोने या अन्य मूल्यवान धातुओं का निर्यात इंगलैंड के बाहर नहीं करेंगे। वाणिज्यवादियों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के कार्य की आलोचना इसलिए की थी कि कम्पनी सुदूर पूर्व देशों से व्यापार करने के लिए बड़ी मात्रा में बहुमूल्य धातु देश के बाहर भेजती थी। वाणिज्यवादियों ने व्यापारिक विनियमन पर बल दिया जिससे कि अप्रत्यक्ष रूप से बहुमूल्य धातुओं का संचयन (accumulation) हो। उन्होंने व्यापार संतुलन का सिद्धान्त (theory of balance of trade) विकसित किया जिससे यह पता लगता था कि राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति सुदृढ़ है या नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृषि, उद्योग, नौपरिवहन तथा विदेशी व्यापार का संरक्षण वाणिज्यवादी नीति का मूल अंग था। इस नीति में बहुमूल्य धातुओं के संचयन को मूल रूप से महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त था और इसको केवल गौण स्थान प्राप्त था। इस बात की पुष्टि इससे हो जाती है कि कृषि, अन्न उत्पादन, चरागाह,

निर्माताओं और नौपरिवहन सम्बन्धी असंख्य अधिनियम पास किए गए जब कि कोष (treasure) के सम्बन्ध में केवल एक अधिनियम १६६३ में पास किया गया जिसके अनुसार सिक्कों तथा बहुमूल्य धातुओं का निर्यात विनियमित किया गया। वाणिज्यवादियों ने आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किए क्योंकि आर्थिक आत्मनिर्भरता से ही राजनैतिक शक्ति का विकास हो सकता था और इस प्रक्रिया में उन्होंने बहुमूल्य धातुओं तथा सोने को महत्व दिया। इस प्रणाली के आर्थिक ढांचे के तीन आधार स्तम्भ थे : अन्न अधिनियम, विभिन्न अधिनियमों के द्वारा उद्योग का संरक्षण और नौपरिवहन अधिनियम।

वाणिज्यवाद की आलोचना. हर सामाजिक तथा राजनैतिक प्रणाली में उसके विघटन के कीटाणु सन्निहित रहते हैं। जब उसका विघटन आरम्भ होता है तो उसकी आलोचना तरह तरह से होने लगती है। कुछ आलोचनाएं वाणिज्यवाद के उद्देश्यों की विकृत व्याख्या पर आधारित हैं और कुछ आलोचनाओं से यह पता लगता है कि यह सिद्धान्त आलोचकों की समझ से बाहर था कि "राष्ट्र एक सजीव प्राणी है जिसका विकास ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित रहता है और शासकों को प्रशासनिक कार्यों में इन तथ्यों को ध्यान में रखना पड़ता है।"

(१) आलोचकों का कथन था कि वाणिज्यवादियों द्वारा अपनायी गई राष्ट्रीय निर्भरता की नीति कम लाभप्रद थी क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन तथा वस्तुओं एवं पदार्थों का स्वच्छंद पारस्परिक-विनिमय (inter-exchange) देश के लिए अधिक लाभप्रद था। यदि हम अपनी आवश्यकताओं की समस्त वस्तुओं का स्वयं निर्माण करके अपनी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्तिगत रूप से करने लगें तो हम सामाजिक विकास की आदि कालीन स्थिति में पहुंच जाएंगे और सुख सुविधाओं द्वारा पूर्ण सन्तोष नहीं प्राप्त कर पाएंगे। ऐसी स्थिति में हमें अपने लिए व्यक्तिगत रूप से आवास का निर्माण करना पड़ेगा, अपने लिए अन्न उगाना पड़ेगा और स्वयं ही रुई उगा कर कपड़ा भी बनाना पड़ेगा। इसके विपरीत समाज में लोग विभिन्न व्यवसायों को अपनाकर मुद्रा के माध्यम से वस्तुओं तथा सेवाओं का आदान प्रदान करें तो यह समाज के लिए अधिक सन्तोषप्रद तथा लाभदायक प्रमाणित होगा। श्रम विभाजन का सिद्धान्त मानव समाज के लिए लागू तो होता है ही पर इसका उपयोग विभिन्न क्षेत्रों में भी किया जा सकता है। यदि हर क्षेत्र अलग अलग वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त करे और आवश्यक वस्तुएं तथा सेवाएं विनिमय द्वारा प्राप्त करे तो आत्मनिर्भर बनने की तुलना में परिणाम अधिक लाभप्रद होगा। वाणिज्यवादी तो केवल क्षेत्रीय आत्मनिर्भरता प्राप्त करना चाहते थे इसलिए उनकी कटु आलोचना की गयी।

इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि वाणिज्यवादी नीति ऐसे समय अपनायी गयी जब समाज में आर्थिक क्रिया का महत्व तथा नियंत्रण क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर से हटकर राष्ट्रीय स्तर पर पहुंच रहा था। इस अवस्थान्तर काल में वाणिज्य-वादी नीति का प्रचलन स्वाभाविक था और इसलिए आर्थिक विकास की प्रक्रिया में इसके महत्व को कम नहीं समझना चाहिए।

(२) यह भी कहा जाता था कि वाणिज्यवादियों के अनुसार मूल्यवान धातु ही धन था। धन की यह परिभाषा त्रुटिपूर्ण थी क्योंकि मूल्यवान धातुओं के अतिरिक्त धन की परिधि में आने वाली वस्तुओं को वे धन के रूप में नहीं स्वीकार करते थे। इस सम्बन्ध में यह भी बात ध्यान में रखने योग्य है कि वाणिज्यवादियों ने बहुमूल्य धातुओं तथा सोना चांदी को इतना महत्व नहीं दिया जितना कि सोने चांदी के समर्थकों (bullionists) ने क्योंकि ये लोग सोने के बहाव पर प्रत्यक्ष नियंत्रण (direct control) रखना चाहते थे। इस दृष्टि से वाणिज्यवादियों की अनुचित आलोचना हुई। आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी के अनुसार आदम स्मिथ तथा उनके बाद के अर्थशास्त्रियों ने वाणिज्यवाद (mercantilism) शब्द का उपयोग उस आर्थिक सिद्धान्त तथा वैधानिक नीति की प्रणाली के लिए किया था जिसमें मुद्रा (money) को ही धन (wealth) का एक मात्र रूप माना गया था। स्टुअर्ट मिल का कथन था कि वाणिज्य सम्बन्धी प्रणाली में केवल मुद्रा को ही धन माना जाता था। किसी अन्य कारण से वाणिज्यवाद की इतनी अप्रतिष्ठा नहीं फैली जितनी कि इन दो आर्थिक विचारकों की वाणिज्यवाद की व्याख्या की सामान्य स्वीकृति से पहुंची थी क्योंकि इनकी अर्थशास्त्र की पुस्तकों को अंग्रेजों की कई पीढ़ियों ने बाइविल की तरह प्रतिष्ठा देकर अध्ययन किया था।

बाद के अर्थशास्त्रियों ने वाणिज्यवाद प्रणाली से सम्बन्धित भ्रान्ति को समाप्त किया। उन्होंने स्थिति स्पष्ट की और इस बात पर बल दिया कि 'मुद्रा को धन का एक मात्र रूप मानना' वाणिज्यवादी विचारधारा का प्रधान अंग नहीं था। बहुमूल्य धातुओं को एकत्र करने का यह कारण नहीं था कि उनमें मुद्रा तथा धन के बीच भ्रांन्ति (confusion) थी। वास्तव में इसका कारण यह था कि सेना को शक्तिशाली बनाने में मुद्रा की आवश्यकता पड़ती थी। परिवहन तथा संचार के अच्छे साधन उप-लब्ध न होने के कारण सोने-चांदी का विस्तृत भंडार तैयार रखना पड़ता था जिससे आर्थिक क्रियाओं का संचालन सरल तथा व्यवस्थित ढंग से होता रहे। लिप्सन ने भी इस बात को माना कि वाणिज्यवाद के सिद्धान्तों में सोने चांदी का भंडार रखना महत्व-पूर्ण नहीं था।

वाणिज्यवादी बहुमूल्य धातुओं के अन्तर्वाह (inflow) को आयात-निर्यात के अन्तर के रूप में ही जानते थे। उनका ध्यान इस ओर नहीं गया था कि इनको प्राप्त करने के लिए वे कितना अधिक धन निर्यात के रूप में चुकाते थे। उस समय बहुमूल्य धातुओं का उपयोग मुद्रा के रूप में किया जाता था और उनके ध्यान में यह बात नहीं आती थी कि मांग और संभरण का नियम अन्य वस्तुओं की तरह सोने-चांदी पर भी समान रूप से लागू होता है। परिणामस्वरूप देश में सोने की मात्रा बढ़ने पर, समान स्थितियों में, यह सस्ता या कम मूल्यवान हो जाता था। इसका प्रभाव यह पड़ता था कि वस्तुओं के बदले में अधिक सोना चांदी देना पड़ता था। इस प्रकार दाम बढ़ जाने के कारण विदेशी व्यापारी इस देश से खरीदने के लिए कम इच्छुक होते थे और अपना माल अधिक मात्रा में बेचना चाहते थे। अन्त में आयात बढ़ जाता था और निर्यात घट जाता था। निर्यात को प्रोत्साहन देकर तथा आयात को निरुत्साहित करके कोष (treasure) भरने के प्रयत्न को अब अनुचित माना जाता है।

(३) वाणिज्यवादियों ने परस्पर-विरोधी तथा असंगत उद्देश्यों का अनुसरण किया। व्यापारी बेड़े को बढ़ाने की दृष्टि से नौपरिवहन अधिनियम पास किए गए थे परन्तु इनके कारण उद्योग तथा वाणिज्य में रुकावट पड़ी जिन पर परिवहन व्यापार अवलम्बित था। इस प्रकार उद्योग के एक अंग को संरक्षण देना दूसरे अंगों के लिए घातक प्रमाणित हुआ। उपनिवेशों को मूल देश के माल की खपत के लिए महत्वपूर्ण बाजार माना जाता था परन्तु उनकी नीति के कारण उपनिवेशों में माल खपत क्षमता बढ़ने के बजाय घट गयी। अन्तर्निहित पारस्परिक विरोधी तत्वों के अध्ययन से पता चलता है कि वाणिज्यवादी वास्तव में स्वार्थपूर्ण एकांगी तथा अवसरवादी नीति का अनुसरण करते थे। वे किसी उपाय की उपयोगिता तथा प्रयोज्यता (applicability) पर विचार करते समय, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर उसके प्रभाव को महत्व नहीं देते थे। वे सर्वांगीण आर्थिक विकास की संकल्पना (concept) से अनभिज्ञ थे।

(४) दूसरे देशों से आने वाली वस्तुओं पर भारी शुल्क लगाया जाता था जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वंद्विता (rivalry) बढ़ गयी थी। एक देश दूसरे को समृद्धिशाली होते नहीं देख सकता था। वास्तव में तो प्रचलित दृष्टिकोण उस व्यापारी की नियत के समान था जो दूसरों के दुर्भाग्य से लाभ उठाना चाहता है। इस वाणिज्यिक विद्वेष के कारण राष्ट्रों के बीच अनेक युद्ध हुए जिनके परिणामस्वरूप बड़ी आर्थिक क्षति हुई। उद्योग तितर बितर हो गए। बेरोजगारी बढ़ गयी और मोहताजखानों (work houses) की संख्या में वृद्धि हुई।

(५) वाणिज्यवादी नीति उपनिवेशों के लिए बड़ी हानिकर प्रमाणित हुई। वे मुख्यतः कृषि प्रधान तथा पिछड़े हुए क्षेत्र बने रहे।

(६) सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड के आर्थिक विकास तथा ब्रिटिश साम्राज्य की सर्वोच्चता (Supremacy of British Empire) की स्थापना का एक मात्र कारण वाणिज्यवादी नीति नहीं थी। कुछ आर्थिक विचारकों ने तो वाणिज्यवादी नीति की व्यावहारिकता पर भी सन्देह प्रकट किया है। इस काल में ब्रिटेन की वाणिज्यक एवं औद्योगिक सर्वोच्चता के अनेक कारण बतलाए गए हैं। ये कारण इस प्रकार हैं: व्यावसायिक नेतृत्व की सक्रियता एवं उद्योगशीलता, उद्यम (enterprise) में स्वतंत्रता, विधि-शासन (rule of law) के कारण व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा, प्राकृतिक साधनों की बहुतायत जिनमें अन्न तथा ऊन प्रमुख हैं, योरोप और अमरीका की तुलना में इगलैंड की सुविधाजनक भौगेलिक स्थिति, जीवट व्यापारियों के साहसिक प्रयत्न, कृषि क्षेत्र में वैज्ञानिक अनुसंधान तथा उद्योगों में यांत्रिक आविष्कार, विदेशियों का सन्तोषप्रद अधिवासन (settlement), वैंकिंग प्रणाली का विकास, सदियों से होने वाले अबाध तथा अपूर्व आर्थिक विकास का संचित प्रभाव। इन कारणों से पता चलता है कि इस काल में जो आर्थिक विकास इंगलैंड में हुआ वह वाणिज्यवादी नीति का ही केवल परिणाम नहीं था।

विकास के अनेक कारणों के होते हुए भी आर्थिक विकास में इस नीति के महत्व को कम नहीं समझना चाहिए। कुछ अन्य आर्थिक विचारकों का कथन है कि इंगलैंड की औद्योगिक, वाणिज्यिक एवं नौपरिवहन सम्बन्धी अग्रगण्यता (pre-eminence) वाणिज्यवादी नीति के कारण ही हुई थी। उनके अनुसार विदेशी व्यापार या वाणिज्य प्रसार, समुद्री शक्ति की सर्वोच्चता और औद्योगिक एवं वाणिज्यिक प्रभुत्व की स्थापना वाणिज्यवादी नीति की सफलता और दूरदर्शिता का प्रमाण था।

किसी समय में प्रचलित किसी नीति की आलोचना करने से पहले उस समय की परिस्थितियों का विश्लेषण करना अनिवार्य है। तत्कालीन परिस्थितियों तथा ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया को भी ध्यान में रखना चाहिए। वाणिज्यिक नीति ऐसे समय में प्रचलित थी जब हर राष्ट्र अपनी सुरक्षा तथा आर्थिक एवं राजनैतिक आत्मनिर्भरता पर अधिक बल देता था। मांग तथा सम्भरण के आर्थिक सिद्धान्तों को जिनका पूर्ण विकास बाद में हुआ वे महत्वपूर्ण नहीं समझते थे।

अध्याय ३

कृषि क्रान्ति

अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ग्रेट ब्रिटेन की आर्थिक तथा सामाजिक क्रियाओं में पुनः समंजन हुआ। इन व्यापक परिवर्तनों को कृषि क्षेत्र में "कृषि क्रान्ति" और औद्योगिक क्षेत्र में "औद्योगिक क्रान्ति" कहा गया। कृषि क्षेत्र में परिवर्तन की गति बड़ी धीमी थी यद्यपि कृषि का कोई भी अंग परिवर्तन प्रक्रिया से अछूता नहीं था। औद्योगिक इकाइयों की तुलना में कृषि की इकाइयां छोटी और छितरी हुई थीं। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि कृषि क्षेत्र में परिवर्तन किसी भी दृष्टि से कम महत्वपूर्ण थे। औद्योगिक क्षेत्र में परिवर्तनों की भांति कृषि क्षेत्र में भी व्यापक परिवर्तन हुए।

कृषि क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति में मौलिक अन्तर-सम्बन्ध था। दोनों ही क्षेत्र एक दूसरे पर आश्रित थे। तकनीकी तथा वैज्ञानिक विकास के प्रति लोगों के नए दृष्टिकोण तथा अट्ठारहवीं शताब्दी में असाधारण जन-वृद्धि के कारण कृषि तथा औद्योगिक क्रान्ति को बल मिला। दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध होते हुए भी काफी विभिन्नता थी। इसलिए उनका स्वतंत्र रूप से अध्ययन श्रेयस्कर होगा।

क्रान्ति का अर्थ. इंगलैंड के आर्थिक इतिहास में क्रान्ति शब्द का विशेष महत्व है। इसका शाब्दिक अर्थ "घटनाओं का तीव्र गति से घटित होना और उथल पुथल मचना" है। ऐसे परिवर्तन आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में सम्भव नहीं हैं। इन क्षेत्रों में परिवर्तन बहुत धीमे और अप्रत्यक्ष होते हैं। राजनयिक क्रान्तियों के कारण तो अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री सन्धियों में पुनर्व्यवस्थापना की आवश्यकता पड़ती है। कृषि क्षेत्र में तकनीकों और संगठन में व्यापक परिवर्तन होने पर क्रान्ति होना समझा जायगा। सामाजिक क्रान्ति से किसी सामाजिक वर्ग के सापेक्षिक (relative) महत्व में परिवर्तन का आभास मिलता है। इसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के अन्तर्गत औद्योगिक कार्यविधि में परिवर्तन की भावना रहती है, जैसे हाथ से काम करने के स्थान पर शक्ति द्वारा संचालित मशीनों का उपयोग, औद्योगिक संगठन में परिवर्तन, घरेलू स्तर पर काम होने के स्थान पर कारखानों में सामूहिक रूप से काम होना, इत्यादि।

इस प्रकार "क्रान्ति" शब्द का तात्पर्य मौलिक परिवर्तनों से है। सम्भव है, कृषि तथा उद्योगों में क्रान्ति शब्द का उपयोग अनुपयुक्त लगता हो। परन्तु

इनमें क्रान्ति के सभी गुण होते हैं। इंगलैंड में औद्योगिक और कृषि क्रान्तियों में जो परिवर्तन हुए वे काफी गहरे और व्यापक होने के साथ-साथ क्लेशकर भी थे। महत्व-पूर्ण भौतिक प्रगति के साथ लोगों को महान कष्ट हुआ। पिछले इतिहास की तुलना में अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में आन्दोलन की गति बड़ी तीव्र थी और इसका मौलिक प्रभाव पड़ा जिसके कारण लोगों को अत्यधिक कष्ट भी हुआ।

कृषि क्रान्ति के मुख्य लक्षण

कृषि क्षेत्र में परिवर्तनों के कारण खेती का पुराना तरीका बिलकुल बदल गया और अब पूँजीवादी खेती की प्रणाली अपनायी गयी। मशीनों और ट्रैक्टरों का उपयोग किया जाने लगा। परिणामस्वरूप प्रति एकड़ उपज में अत्यधिक वृद्धि हुई। एक प्रकार से कृषि का सम्पूर्ण रूपान्तरण (transformation) ही हो गया जो निम्नलिखित लक्षणों से संक्षेप में प्रदर्शित किया जा सकता है। (१) पूँजीवाद का विकास, (२) कृषि में सुधरे हुए तकनीकों का उपयोग, (३) घेराबन्दी आन्दोलन का पुनरुज्जीवन, (४) भूमि का स्वामित्व कम से कम लोगों के हाथ में आना अर्थात् स्वामित्व में केन्द्रीय-करण, (५) खेती वाड़ी से बड़ी संख्या में लोगों का निष्कासन।

पूंजीवाद का विकास. पूँजी का राजनीतिक तथा सामाजिक महत्व बढ़ गया। कृषि में पूँजी का अधिक प्रयोग होने के कारण कृषि प्रणाली में नए-नए तकनीकों का उपयोग किया जाने लगा। अब औद्योगिक तथा वाणिज्यिक प्रगति को राज-नीतिक प्रभाव तथा सामाजिक सम्मान का चिह्न माना जाने लगा। कृषि क्रान्ति के पूर्व भूमि-स्वामित्व के कारण जमींदारों को समाज में प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त था और कारीगरों एवं व्यापारियों को निम्न श्रेणी का समझा जाता था। अट्ठारहवीं शताब्दी में स्थिति वदल रही थी। इस अवस्थान्तर काल में घरेलू प्रणाली और उद्योगवाद व्यापक रूप से फैल चुका था। अब कुलीन तथा भद्र लोग भी व्यापार की ओर झुकने लगे थे। जो प्रतिष्ठा पहले जमींदारी को मिलती थी वही अब लाभप्रद व्यवसायों को प्राप्त होने लगी थी। उद्योग और व्यापार की भांति कृषि में भी पूँजीवाद का विकास हुआ और जमींदारों ने कृषि पद्धतियों में सुधार करने के कार्यों में व्यवस्थित रूप से पूँजी लगाना आरम्भ किया। कृषि में प्रतिफल (returns) वहुत कम और धीमी गति से प्राप्त होता था इसलिए सर्वाधिक उद्यमी लोगों ने ही इस क्षेत्र में धन लगाया।

पूँजी विदेशों से (मुख्यतः उपनिवेशों से) संचित की गयी। वाणिज्यवाद के कारण उपनिवेशों का कच्चे माल के संभारक (suppliers) के रूप में और ब्रिटिश राज्य का निर्मित माल के वाजार के रूप में उपयोग किया गया। बढ़ते हुए उद्योगों

से पूंजी एकत्र की गयी। ऊन तथा ऊनी वस्तुओं के निर्माण से व्यापारियों और भूस्वामियों को अत्यधिक लाभ हुआ और उन्होंने अपनी निधि तथा कमाई का कुछ भाग कृषि में लगाया। पूंजी के उपयोग के कारण कृषि प्रक्रियाओं में वैज्ञानिक प्रयोग किए गए। इसके कारण मजदूरों के स्थान पर मशीनों का उपयोग बढ़ गया जिससे खेतिहर श्रमिकों की मांग घट गयी। बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक ढंग से खेती करने की प्रतियोगी स्थिति पैदा हो गयी जिसमें छोटे छोटे धनहीन किसान नहीं ठहर सके। इसका परिणाम यह हुआ कि भूमि का केन्द्रीयकरण बड़ी-बड़ी जोतों के रूप में हुआ।

कृषि तकनीक में क्रान्ति. लगभग एक हजार वर्ष से खेती-बाड़ी के तरीकों में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ था। कृषि में दो या तीन खेत प्रणाली अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक प्रचलित थी। इस प्रणाली की सबसे बड़ी कमी यह थी कि हर वर्ष भूमि का आधा या एक तिहाई भाग बिना खेती किए छोड़ना पड़ता था। सन् १७६० के पश्चात अनेक कारणों से कृषि उत्पादन के तकनीक तथा कौशल में सुधार होना आरम्भ हो गया था। एक कारण यह भी था कि खाद्यान्नों की मांग तथा कीमतें अधिक बढ़ गयी थीं क्योंकि जनसंख्या तथा सेना में वृद्धि हो गयी थी और औद्योगिक विकास तेजी से हो रहा था। आत्म-निर्भरता प्राप्ति की भावना प्रबल थी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में आस्ट्रेलिया और अर्जेनटाइना का महत्व अभी नहीं बढ़ा था जिससे वे इंगलैंड की खाद्यसामग्री तथा कच्चे माल की आवश्यकता पूरी करने की स्थिति में नहीं थे। दूसरा कारण यह था कि जमींदारों और व्यापारियों के संसदीय गट को इस काल में सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता प्राप्त थी। आर्थिक कार्यों में भी उनको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। सरकार की ओर से स्वदेशी गेहूँ पर उत्तरोत्तर तटकर संरक्षण के साथ साथ एक नयी नीति अपनायी गयी जिसके अनुसार देश से गेहूँ निर्यात करने पर प्रति बुशल की दर से सरकारी खजाने से नकद सहायता या अभिदान देने की व्यवस्था थी। इंगलैंड के खाद्यान्नों के उत्पादन में इस नीति से बड़ा प्रोत्साहन मिला। खाद्यान्नों की कीमतों में वृद्धि हुई और जमींदारों ने काफी लाभ कमाया और वे धनी बन गए। तीसरा कारण यह था कि कृषि क्रान्ति में शिष्ट किसानों से काफी प्रोत्साहन मिला क्योंकि उनके पास पूंजीवादी कृषि के समस्त साधन उपलब्ध थे। उन्होंने उपदेश, भाषण, अखबार, आदि साधनों से कृषि के नए तरीकों को अपनाने के लिए विस्तृत रूप से प्रचार किया। चौथा कारण यह था कि अनेक घेराबन्दी कानूनों के परिणाम-स्वरूप भी बड़े पैमाने पर खेती को प्रोत्साहन मिला।

कृषि तकनीक में महत्वपूर्ण परिवर्तन इस प्रकार हैं : मशीनों का उपयोग, फसलों का वैज्ञानिक अदल बदल (rotation), क्लोवर (clover) और शलजम (turnip) जैसी महत्वपूर्ण फसलों का विस्तार, पशु प्रजनन के तरीकों में सुधार,

खेती योग्य भूमि को परती छोड़ने के अपव्ययपूर्ण तरीके की समाप्ति, प्राकृतिक तथा कृत्रिम उर्वरकों का उपयोग, पशु प्रदर्शनी तथा कृषक समुदायों का संघठन, बोर्ड आफ ट्रेड, रायल एग्रीकल्चरल सोसाइटी तथा केमिस्ट्री एसोसिएशन जैसी संस्थाओं की स्थापना, खेतों से जल निकास (drainage) प्रणाली तथा बीज में सुधार के नए तरीकों का प्रचलन। इन परिवर्तनों के कारण खेती के पुराने तरीके बिलकुल बदल गए। एक प्रकार उनमें क्रान्ति सी मच गयी।

सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में अधिक उपज प्राप्त करने के लिए खेती में अच्छी विधियों का उपयोग आवश्यक समझा गया। खुले खेत की प्रणाली अच्छी उत्पादिता में विघ्नस्वरूप थी और अधिक वैज्ञानिक सुधार का उपयोग अनिवार्य हो गया। १६४५ में ही सर राबर्ट वेस्टर्न का कृषिकर्म पर निबन्ध (Discourse upon Husbandry) प्रकाशित हो चुका था जिसमें गेहूँ और जौ की फसल के बाद क्लोवर और शलजम की खेती करने की सलाह दी गयी थी। क्लोवर कृत्रिम घास थी और शलजम शीतकालीन कंदमूल की फसल थी। कृत्रिम घास बीज बो कर उगायी जाती थी जबकि प्राकृतिक घास अपने आप उगती थी। कृत्रिम घास अपनी खुराक हवा से ग्रहण करती थी, न कि भूमि से और इस प्रकार जब यह उगाई जाती थी तब भूमि को आराम मिलता था और अगले वर्ष या अगले मौसम में अच्छी फसल मिलती थी। शीतकालीन फसल का उद्देश्य कुछ भिन्न था। समय-समय पर नियमित रूप से हर खेत से निरर्थक घासपतवार निकालना आवश्यक था। इस उद्देश्य की पूर्ति शलजम की फसल से हो जाती थी। पहले निराई (weeding) का कार्य परती छोड़े गए खेतों में कई बार जुताई करके किया जाता था। इस प्रकार कृत्रिम घास और शीतकालीन कन्दमूल की फसल उगाने से खेतों को परती छोड़ने की आवश्यकता समाप्त हो गयी। साथ ही शीत काल में पशुओं के लिए चारे की आवश्यकता भी पूरी हो गयी। अब पशुओं को जाड़े के मौसम में रखा जा सकता था। पहले पशुओं को ग्रीष्म ऋतु समाप्त होते होते मार कर गोश्त के रूप में उपयोग कर लिया जाता था। अब चारे की कमी दूर हो जाने पर पशुओं को गोश्त की आवश्यकता पड़ने पर ही मारा जाता था और इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु की ताजे गोश्त की आवश्यकता भी पूरी हो सकती थी।

आरम्भ में किसानों ने खेती के नए तरीकों के उपयोग में कोई रुचि नहीं दिखलाई। वास्तव में तो उन्होंने नए तरीकों के उपयोग का विरोध भी किया। उन्हें "शिष्ट लोगों के चोचलों" की संज्ञा दी जिसमें किसानों के अनुसार कोई लाभ नहीं था। बड़े-बड़े जमींदारों के द्वारा कई वर्ष तक सुधरे हुए ढंग से खेती के प्रदर्शन से किसानों को उनकी व्यावहारिक उपयोगिता पर विश्वास हुआ। सबसे अधिक विरोध

छोटे-छोटे किसानों के द्वारा हुआ जिनके पास छोटे-छोटे खेतों पर सुधरे तरीकों का उपयोग करने के साधन नहीं थे और बड़े किसानों ने सुधरे तरीकों के उपयोग की आवश्यकता का अनुभव अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक नहीं किया था।

यह अनुभव किया गया कि कृषि की प्रगति तभी हो सकती है जब खेती के पुराने और अपरिस्कृत तरीकों में परिवर्तन लाया जाय। क्लोवर घास और शलजम की उपज से चारे की समस्या पूर्णतः हल हो गयी थी। इससे पशु प्रजनन के तरीकों में सुधार हुए और अन्न उत्पादन में वृद्धि हुई। जेथरो टल नाम के एक विद्वान किसान ने बोने की ड्रिल का आविष्कार सबसे पहले किया और गहरी जुताई और मशीन से गुड़ाई के लाभ का पता लगाया। उन्होंने अपने प्रयोगों से सिद्ध किया कि सुधरी बुवाई के तरीकों और लगातार जुताई से अच्छी फसल होती है। वाइकाउंट टाउनशेण्ड ने बड़े उत्साह से जाड़े में कंदमूल की फसलों को प्रचलित किया जिसके कारण उन्हें टर्निप टाउनशेण्ड के नाम से पुकारा जाने लगा। टर्निप (शलजम) उनका प्रिय पदार्थ था। उन्होंने फ़सलों के अदल बदल के सम्बन्ध में अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रयोग किये। जेथरोटल द्वारा प्रदर्शित खेती के नए तरीकों से लाभ उठा कर राबर्ट बेकवेल नाम के एक दूसरे विद्वान किसान ने पशु प्रजनन के वैज्ञानिक तरीकों पर अनेक प्रयोग किए। उन्होंने पशुओं को मोटा करने की रीतियों का अध्ययन किया और अपने जीवन काल में ही कुछ प्रमुख नस्ल की भेड़ों और पशुओं का औसत वजन दुगना कर दिया। विलियम कोक ने अपने फार्म पर खेती वाड़ी के नये तरीकों के गुणों और पुराने तरीकों की तुलना में उनकी श्रेष्ठता का सफल प्रदर्शन किया। वैज्ञानिक ढंग से खेती करने की रीतियों को लोकप्रिय बनाने में आर्थर यंग का बड़ा हाथ था। वे साहित्यिक तथा पर्यटक थे पर कृषि में उनकी बड़ी रुचि थी। उन्होंने अनेक लेख प्रकाशित किये, 'नवीन कृषि' पर जगह जगह भाषण दिया और 'एनाल्स आफ एग्रीकल्चर' नाम की एक पत्रिका का सम्पादन किया। १७९३ में वे कृषि संचालक मंडल के सचिव हो गए और सर जान सिनक्लेयर जो बेहतर कृषि के तरीकों के पक्ष में थे, इस मंडल के अध्यक्ष बने। कृषि मंडल को राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त थी और इसने किसानों में कृषि के नए तरीकों की जानकारी फैलाने में महत्वपूर्ण काम किया। आर्थर यंग ने कृषक गोष्ठी और कृषक समितियों की स्थापना की, जुताई प्रतियोगिताओं का संयोजन किया और पशु तथा कृषि प्रदर्शनियों का संगठन किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में कृषि तकनीक के क्षेत्र में निम्नलिखित दिशाओं में प्रगति हुई : (१) बेहतर जल निकास, (२) मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग, और (३) कृत्रिम खाद के उपयोग का आरम्भ तथा धीरे-धीरे उसका विस्तृत उपयोग। जल-निकासी प्रणाली इसलिए आवश्यक समझी गयी जिससे खेतों से अतिरिक्त पानी बह

जाय क्योंकि यदि जल-निकास के लिए उचित व्यवस्था न की गयी तो फसलों की जड़े सड़ जायेंगी। इसलिए १७६४ में भूमि के नीचे (underground) जलनिकास प्रणाली का आविष्कार किया गया परन्तु १८३५ में इसके स्थान पर अधिक अच्छी प्रणाली को उपयोग में लाया गया। जमीन के भीतर जल-निकास प्रणाली में बेलनकार खपरैल का उपयोग बाद में प्रचलित हुआ, जब विज्ञान की प्रगति और मशीनों की सहायता से बेलनकार खपरैल सस्ते दामों पर तैयार की जाने लगी। १८४० में जर्मनी के लीबिग ने "कृषि में रसायन का प्रयोग" (Chemistry in its Application to Agriculture) नाम की पुस्तक प्रकाशित की जिसमें यह प्रमाणित किया गया था कि नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटैसियम और चूना वनस्पति जगत के चार प्रमुख तत्व हैं। इस जानकारी की सहायता से कृषि रसायनज्ञ अब कृत्रिम उर्वरक तैयार कर सकते थे जिससे भूमि को आवश्यक तत्व पुनः प्राप्त हो जाता था। इंगलैंड में सबसे पहला रासायनिक उर्वरक बनाने का कारखाना एक नवयुवक भूस्वामी द्वारा स्थापित किया गया जिसका प्रायोगिक कृषि फार्म हर्टफोर्डशायर में था। रासायनिक उर्वरक कारखाने की सफलता से कृत्रिम उर्वरक उत्पादन को महत्वपूर्ण स्थान मिला।

यह नहीं भूलना चाहिए कि इस काल में जिन वैज्ञानिक तरीकों का उपयोग किया गया उनके विस्तार में काफी समय लगा। प्रायः किसान रूढ़िवादी और सतर्क होते थे और वे किसी परिवर्तन को शीघ्र स्वीकार नहीं करते थे। प्रायः मार्गदर्शक तथा आविष्कारक लोग नए तरीकों का उपयोग व्यक्तिगत हित के लिए करते थे और इस उद्देश्य से वे उन्हें गुप्त रखते थे और कभी-कभी तो यह भी होता था कि नए विचार त्रुटिपूर्ण होने के कारण लोकप्रिय नहीं हो पाते थे। मिट्टी, जलवायु तथा अन्य स्थानीय गुणों में विभिन्नता होने के कारण नए तरीकों का उपयोग व्यापक रूप से नहीं किया जा सकता था और उनमें आवश्यक सुधार की आवश्यकता पड़ती थी। परिवहन और संचार के अच्छे साधनों के अभाव के कारण भी उनकी लोकप्रियता में कमी आ जाती थी और उनके बारे में व्यापक जानकारी फैलने में काफी समय लगता था। नए तकनीकों को उपयोग में लाने के लिए काफी धन की आवश्यकता पड़ती थी और सब किसान आर्थिक दृष्टि से इतने समर्थ नहीं थे। बिना बाड़ की खेती में कुछ विशिष्ट लाभ थे और इसलिए खेती का यह तरीका समाप्त करने में अधिक समय लगा जिससे कि वैज्ञानिक ढंग से खेती करने में काफी रुकावट हुई। फिर भी रुकावट डालने वाले कारण उत्पादन की आधुनिक प्रविधि के सामने ठहर न सके। इस प्रकार १८६० तक बृटिश कृषि तकनीकी पूर्णता में इतनी अधिक बढ़ चुकी थी कि एक विदेशी प्रेक्षक (observer) के अनुसार यह फ्रांस की तुलना में ७० वर्ष आगे थी।

घेराबन्दी आन्दोलन का पुनः प्रवर्तन. यह अनुभव किया गया कि घेराबन्दी के बाद ही कृषि में सुधार किए जा सकते थे इसलिए भूमि में घेराबन्दी का आन्दोलन पुनः आरम्भ हुआ। इसके कई कारण थे। (१) यह अधिकाधिक प्रत्यक्ष होता जा रहा था कि उपज तभी लाभ प्रद होगी जब खेती बड़े-बड़े फ़ार्म पर की जायगी क्योंकि तभी बड़ी मात्रा में उत्पादन से बाहरी और भीतरी किफायतों का लाभ उठाया जा सकता था। (२) भूमि का स्वामित्व राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का द्योतक था। संसद में चुनाव के लिए और गावों में वोट देने का अधिकार प्राप्त करने के लिए भूमि का स्वामित्व अनिवार्य योग्यता थी। इस प्रकार राजनीतिक सत्ता जमींदार वर्ग के हाथ में थी और संसद के सदस्य भी जमींदार लोग अधिक थे। भूमि का स्वामित्व सामाजिक सम्मान का चिह्न माना जाता था। व्यापारी लोग भी अपने बढ़ते हुए धन से भूमि खरीदते थे और उसपर वैज्ञानिक ढंग से खेती करते थे। घेराबन्दी करने के लिए इच्छुक लोगों को सरकार भी सारी सुविधाएं देती थी। एक विशेप कानून भी पास किया गया जिसके अनुसार घेराबन्दी करने से पहले कानूनी अनुमति प्राप्त करना आवश्यक कर दिया गया था। संसद में मुख्यतः जमींदार और पूंजीपति लोग ही थे और यह उनके हित में था कि उन किसानों और भूमिधारों को सुविधाएं दी जांय जो उनकी भूमि पर खेती करना चाहते थे। (४) कुछ अर्थशास्त्री बड़ी मात्रा में पूँजीवादी खेती को बहुत महत्व देते थे और वे घेराबन्दी के पक्ष में थे। [आदम स्मिथ, जिन्हें आंग्ल अर्थशास्त्रियों का पिता कहा जाता है, का कथन था कि बिखरे हुए खेतों और छोटी छोटी पट्टियों में जो अपव्यय होता है उससे छुटकारा पाने के लिए बड़ी मात्रा में पूँजीवादी खेती आवश्यक है।] छितरी जोतों के अनेक दोषों और हानियों का विस्तृत विवेचन हुआ और यह अनुभव किया गया कि घेराबन्दी आन्दोलन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

आरम्भ में घेराबन्दी आन्दोलन की प्रगति बहुत धीमी थी। १७५०-६० के बीच इस आन्दोलन की गति तीव्र हो गयी। १७०० और १७६० के बीच २०० घेराबन्दी कानून पास किए गए जब कि १७६० और १८४० के बीच ३५०० से अधिक कानून पास किए गए। १७०० और १७६० के बीच लगभग ३,१२,००० एकड़ भूमि की घेराबन्दी की गयी जब कि १७६० और १८४० के बीच ५,५००,००० एकड़ से अधिक भूमि की घेराबन्दी की गयी।

अट्ठारहवीं शताब्दी का घेरावन्दी आन्दोलन सोलहवीं शताब्दी के आन्दोलन से भिन्न था। सोलहवीं शताब्दी के घेराबन्दी आन्दोलन का विरोध संसद के द्वारा हुआ था जब कि अट्ठारहवीं शताब्दी के घेराबन्दी आन्दोलन को संसद द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। पहले आन्दोलन से जागीरदारी प्रणाली टूट गयी थी और न केवल

छितरी हुई पट्टियां ही एकत्र हो गयी थी वरन् खेतीयोग्य भूमि को चरागाहों में परिवर्तित कर दिया गया था और बंजर और बेकार भूमि पर कब्जा जमा लिया गया था। इस प्रकार सामान्य लोगों के अधिकारों को समाप्त कर दिया गया था। दूसरे आन्दोलन के द्वारा वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के लिए जोतों की चकबन्दी (consolidation of holdings) की गयी थी। चक के चारों ओर "घेरे" लगा दिए जाते थे इसलिए उसे "घेराबन्दी" का नाम दिया गया। जमींदारों के लिए यह आवश्यक था कि घेराबन्दी के लिए संसद की अनुमति प्राप्त करें जिसे घेराबन्दी अधिनियम (Enclosure Act) कहा जाता था।

भूमि के स्वामित्व का केन्द्रीयकरण. कृषि क्रान्ति की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि भूमि का स्वामित्व कम से कम लोगों के हाथ में चला गया था। बड़ी-बड़ी जोतों में भूमि की चकबन्दी के कारण ग्रामीण जनता का पुनर्संगठन आवश्यक हो गया। आवश्यकता के अनुसार एक नयी प्रणाली काम में लायी गयी जिसे "क्रमागत उत्तराधिकार भूव्यवस्था" (settlement by entail) कहा गया। छोटी छोटी जोतें बेंच दी गयीं जिन्हें पुरानी जागीरों के भूस्वामियों ने खरीद लिया जिनके पास काफी धन एकत्र हो गया था और जो दिन पर दिन धनी होते जा रहे थे। पूंजी-पतियों ने छोटे-छोटे माफीदारों या कापीहोल्डरों या पट्टेदारों से भूमि खरीद ली और इस प्रकार चकबन्दी की क्रिया ने और जोर पकड़ा। नैपोलियन के काल में युद्धों के समय भूमि का मूल्य लगान का चालीसगुना तक हो गया था। उस समय भी नए उद्योगपति और पूंजीपति लोग जो सामाजिक एवं राजनीतिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते मंहगी से मंहगी भूमि खरीदने के इच्छुक रहते थे। सन् १८१५ के बाद कुछ वर्षों तक तो भूमि का विक्रय बड़ी मात्रा में किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक विवाह नए पूंजीपतियों और जमींदार परिवारों में सम्पन्न हुए जिससे कि भूमि का स्वामित्व कम से कम लोगों के हाथ में चला गया। १८४५ तक भूमि के स्वामित्व का केन्द्रीयकरण अधिकाधिक हो चुका था।

छोटी जोतों की समाप्ति. बड़ी संख्या में कृषि से कृषकों और श्रमिकों का अलग होना कृषि क्रान्ति की अन्तिम एवं महत्वपूर्ण विशेषता थी। छोटे किसानों या छोटे जमींदारों की स्थिति बड़े जमींदारों की तुलना में असुविधाजनक थी। उनका खेती करने का तरीका घटिया था और मूल्यों में घटी-बढ़ी (fluctuation) से उन्हें हानि होती थी। घेराबन्दी आन्दोलन के अन्तर्गत बंजर और सार्वजनिक भूमि आ जाने के कारण छोटे किसान उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। यह भूमि बड़े जमींदारों की जोतों के साथ मिल गयी थी। छोटे किसानों के पास पूंजी की भी कमी थी। जो कुछ थोड़ी वहुत पूंजी उनके पास थी वह इतनी कम थी कि सुधरे हुए खेती

के तरीकों का उपयोग वे नहीं कर सकते थे । छोटे जमींदार घेराबन्दी आन्दोलन में नहीं ठहर सके थे यद्यपि पिछली शताब्दी में इंगलैंड के सामाजिक जीवन में उनका महत्वपूर्ण स्थान था । भूमि के पुनर्वितरण में कभी कभी छोटे किसानों के प्रति अधिकारी वर्ग का व्यवहार अनुचित रहता था और जब उनके साथ उचित व्यवहार भी होता था तब भी घेराबन्दी के पश्चात अधिकतर उनकी स्थिति खराब हो जाती थी। छोटे किसानों या छोटी जोतों के मालिकों को घेराबन्दी का कानूनी व्यय वहन करना पड़ता था; उन्हें अपनी नयी जोतों के चारों ओर घेरा लगाने (fencing) का खर्च भी देना पड़ता था और बेकार और चरागाह की सार्वजनिक भूमि छिन जाने से होने वाले नुकसान को भी उन्हें सहन करना पड़ता था । वे अब इस स्थिति में नहीं रह गए थ कि कई जानवर अपनी भूमि पर रख कर उनके लिए चारे की व्यवस्था कर सक। इन सब कारणों से वे अब अधिक निर्धन हो गए थे क्योंकि जानवरों की कमी के कारण उनका मांस का श्रोत कम हो गया था। खाद खरीदने के साधन भी कम हो गए थे । इन सब बातों का प्रभाव यह हुआ कि उनकी उपज कम हो गयी।

ऐसी स्थिति में यह उचित ही था कि छोटे किसान अपनी जोतों को बेंच दें और शहरों में जा कर कारखानों में काम करें। जिन लोगों ने अपनी जमीन नहीं बेंची और गांव में ही रहे उन्हे प्रतिकूल आर्थिक स्थिति का सामना करना पड़ा जिसमें अन्त में उन्हीं की हार हुई । न्यू डामस्डे बुक (१८७६) के आंकड़ों से पता चलता है कि समस्त भूमि के एक चौथाई भाग पर १२०० लोगों का अधिकार था, आधे भाग पर ७४०० लोगों का अधिकार था और छोटा किसान वर्ग नाममात्र को रह गया था। यदि लड़ाई न छिड़ जाती तो उनकी संख्या और भी कम हो जाती। मूल्य बढ़न के कारण किसानों ने अपनी अतिरिक्त आय से भूमि खरीद ली और वे कृषि उद्योग में ही चिपके रहे।

आर्थिक प्रभाव

कृषि आन्दोलन के आर्थिक प्रभाव अनुकूल थे । खुले खेत की प्रणाली जिसमें अनेक दोष थे, समाप्त हो गयी। जब तक सारे पड़ोसी एक मत के न हों कोई किसान सुधरे तरीकों का उपयोग नहीं कर सकता था। लम्बी लम्बी पट्टियां थीं जिससे कि बेड़ी जुताई (cross ploughing) सम्भव नहीं थी और लम्बाई में जुताई करने के बाद बिना पड़ोसी के खेत में घुसे मुड़ना सम्भव नहीं था । पट्टियां बिखरी थीं जिससे कि एक पट्टी से दूसरी में मजदूरों, घोड़ों और गाड़ियों को ले जाने में अधिक समय नष्ट होता था। सम्भव है कि दोषों को बढ़ा-चढ़ाकर भी बतलाया जाता हो परन्तु उनमें सच्चाई अवश्य थी। घेराबन्दी करने और वैज्ञानिक ढंग से खेती अपनाने के पश्चात, भूमि का उपयोग अच्छे से अच्छे ढंग से किया जा सकता था ।

जोतों के स्वामित्व का केन्द्रीयकरण होने से पूँजीवादी ढंग से खेती की जाने लगी। भूमि का स्वामित्व एक वर्ग के पास चला गया यद्यपि भूमि पर खेती लगानदार लोग करते थे। घेराबन्दी आन्दोलन तेजी से बढ़ रहा था जिससे कि जोतें बड़ी और विस्तृत होती जा रही थीं। जमींदारों ने अपने खेतों पर लगान की दर बढ़ा दी जिससे हर स्थान पर लगान की दर में वृद्धि हुई। कहीं-कहीं पर तो लगान तीन गुना और चार गुना तक बढ़ गया था। घेराबन्दी के बाद लगानदारी की शर्तें भी बदल गयीं थीं। पहले जीवन भर के पट्टे पर भूमि दी जाती थी पर अब पट्टा सात साल, चौदह साल या इक्कीस साल के लिए ही दिया जाता था और पट्टे की अवधि के बाद भूस्वामी लगान की दर पुनः निश्चित कर सकते थे। घेराबन्दी के कारण बड़े फार्मों की संख्या काफी बढ़ गयी और भूमि के मूल्य में भी आश्चर्यजनक वृद्धि हुई।

कृषि क्रान्ति के कारण कृषि उपज में असाधारण वृद्धि हुई और इंगलैंड अब अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिए आन्तरिक उपज पर निर्भर रहने लगा। १७५० और १८०० के बीच गेहूँ का उत्पादन ५० प्रतिशत बढ़ गया और बाद के वर्षों में तो उत्पादन और तेजी से बढ़ा। इस प्रकार विक्रेय अवशेष (marketable surplus) तीव्र गति से बढ़ता रहा और यह वृद्धि खाद्य पदार्थों के बढ़ते हुए उपभोग की गति से पीछे न रही। यदि भूमि की घेराबन्दी न होती और खाद्य पदार्थों की उपज न बढ़ती तो इंगलैंड को राष्ट्रीय संकट का सामना करना पड़ता। बिना घेराबन्दी के जीवन स्तर कायम रखना असम्भव था क्योंकि कृषि क्रान्ति के समय जन संख्या के साथ-साथ खाद्य पदार्थों की माँग भी बढ़ती जा रही थी।

क्रान्ति काल में ढोर (cattle) और भेड़ों की संख्या में वृद्धि और उनकी नस्ल में सुधार का पूरा ध्यान रखा गया। कन्दमूल और जाड़ों की फसलें उगाने के कारण पशुओं के लिए पर्याप्त मात्रा में चारा उपलब्ध होने लगा था। नस्ल सुधारने के तरीकों के उपयोग के कारण पशु स्वस्थ होने लगे। अनुमान था कि ढोरों का औसत भार १७०० में ३७० पौंड था जो १७९५ में ८०० पौंड हो गया। इसी प्रकार भेड़ों का औसत भार २८ पौंड से बढ़कर ८० पौंड हो गया। यदि यह भी मान लिया जाय कि इन आँकड़ों में अधिक प्राक्कलन (over-estimates) है, फिर भी इसमें **कोई सन्देह** नहीं कि पशुओं की नस्ल में अधिक सुधार हुआ और उनकी संख्या काफी बढ़ गयी। जाड़े में पर्याप्त मात्रा में चारा उपलब्ध रहने के कारण उन्हें मार कर गोश्त रखने की प्रथा भी समाप्त हो गयी।

पूँजीपतियों और भूस्वामियों की दृष्टि से, कृषि एक लाभप्रद धंधा था और यह उनके हित में था कि वे अपनी बेशी पूँजी इसमें लगाएँ। उत्पादन-लागत भी कम हो गयी थी जिससे कि लाभ की दर बढ़ गयी थी।

कृषि उत्पादन में वृद्धि के कारण अनेक उद्योग भी स्थापित किए गए। सच तो यह है कि कृषि क्रान्ति के कारण ही औद्योगिक विकास के लिए रास्ते खुले। अनेक उपभोज्य वस्तु उद्योग (consumer goods industries) स्थापित हुए जैसे आंटा पीसना, डबलरोटी बनाना, शराब बनाना, आदि। औद्योगिक विकास और कृषि की उन्नति एक दूसरे पर आधारित थे और यह नहीं कहा जा सकता कि पहले क्षेत्र में विकास दूसरे के कारण हुआ। उद्योग विद्या के प्रचलन तथा मशीनों और कृषि यंत्रों के अधिकाधिक उपयोग से उद्योगों की रोजगार क्षमता बढ़ गई और बड़ी संख्या में लोग उद्योगों में काम करने लगे। इससे एक ओर तो खाद्य पदार्थों का सम्भरण बढ़ गया जिससे कि शहरों और कस्बों की बढ़ती हुई आबादी की माँग पूरी होने लगी और साथ ही गाँवों में बेशी जनशक्ति (surplus manpower) भी बढ़ने लगी जो कि नगरों में जाने लगी। औद्योगिक आबादी में वृद्धि होने और उनकी खाद्य पदार्थ सम्बन्धी माँग बढ़ने के कारण मूल्यों में बिना विशेष कमी आए पैदावार में वृद्धि कायम रखी जा सकी। बड़ी संख्या में कृषि के धंधे से लोगों के अलग होने के कारण औद्योगिक क्रान्ति में सुविधा हुई जिससे कि कृषि प्रक्रियाओं में सुधार सम्भव हो सका (यद्यपि इसके सामाजिक परिणाम अच्छे नहीं हुए)।

इस प्रकार भूतकाल के रीति रिवाजों और तरीकों का प्रभाव समाप्त हो गया और अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में होने वाले प्रौद्योगिक परिवर्तन इंगलैंड के जन जीवन का सामान्य तथा स्थिर अंग बन गए। १७६० और १७९० के बीच यह पूर्णतः स्पष्ट हो गया कि नई दुनिया का निर्माण प्रौद्योगिक परिवर्तनों का परिणाम था जहाँ सफलता निश्चित थी और नए और अद्भुत ब्रिटेन का प्रस्फुटित होना भी निश्चित था। कृषि क्रान्ति के परिणाम स्वरूप आर्थिक स्थिरता तथा उच्च कोटि की तकनीकी उपलब्धि सम्भव हो सकी जिससे कि इंगलैंड में पूर्ण राजनीतिक स्थिरता स्थापित की जा सकी।

सामाजिक प्रभाव

क्रान्ति के सामाजिक प्रभाव अत्यन्त विनाशकारी थे। इससे बड़े पूंजीपतियों को आर्थिक लाभ भले ही हुआ हो पर क्रान्ति काल में कृषक समुदाय की पूर्ण उपेक्षा हुई। बहुत से गरीब किसानों की भूमि छीन ली गई और उनके रहने के झोपड़े गिरा दिए गए। उनकी भूमि की घेराबन्दी कर ली गई और गांवों का स्वरूप बदल गया। गाँवों में अब मजदूर रहते थे जो अपनी जीविका मेहनत-मजदूरी करके कमाते थे। यह पूंजीपति कृषि व्यवस्था का महत्वपूर्ण सामाजिक पहलू था।

कृषि क्रान्ति के कारण ग्रामीण समाज में वर्ग भेद अधिक स्पष्ट और दृढ़ हो गया, जिसमें जमींदार, किसान और मजदूर प्रमुख वर्ग थे। जमींदार और बड़े किसानों के पास भूमि थी और मजदूर भूमिहीन थे। इस प्रकार उनके हितों में संघर्ष था। जमींदार और बड़े किसान चाहते थे कि मूल्य बढ़े, लाभ अधिक हो और परिवर्तन तीव्रगति से हो जब कि मजदूर इसके विपक्ष में थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जमींदार और बड़े किसान समृद्धशाली हो गए जब कि मजदूरों की दशा शोचनीय हो गई। इस प्रकार १८१५ के बाद ही इंगलैंड में कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत क्रान्तिकारी समाजवाद का जन्म हुआ।

घेराबन्दी का भी छोटे किसानों पर बहुत दुखदायी प्रभाव पड़ा। अब तक लगानदार अपनी भूमि में फसलें पैदा करने और गाँव की सार्वजनिक भूमि से पशुओं के लिए चारा प्राप्त करने के अभ्यस्त थे। अब सार्वजनिक भूमि समाप्त हो गयी, जिससे किसानों को न केवल अपने परिवार के लिए उस भूमि में खाद्यान्न उत्पन्न करना था वरन् अपने पशुओं के लिए चरागाह की भी व्यवस्था करनी थी। १८०१ में आर्थर यंग को यह स्वीकार करना पड़ा कि "२० घेराबन्दी विधेयकों में से १९ से गरीबों को हानि हुई और कुछ को तो भारी हानि हुई"। भूमिहीन किसान यदि शहर न चला जाता तो उसके लिए भूमिहीन कृषि मजदूर बन जाने के अतिरिक्त और कोई चारा न था। कृषि सुधार के लिए इंगलैंड को यह मूल्य चुकाना पड़ा। आर्थर बिर्नी ने लिखा है कि "यह कहना अधिक ठीक होगा कि इंगलैंड ने यह मूल्य चुकाना स्वयं ठीक समझा"। यद्यपि विधि में सुधार हुआ, उत्पादन बढ़ा, लाभ बढ़ा, लगान बढ़ा, पर कृषकों का नाश हो गया। एक ग्रामीण श्रमिक समाज पैदा हो गया जिसके पास न भूमि थी, न उत्पादन के साधन। यह समाज अधिकतर बेकार और भूमिहीन था।

खेतिहर मजदूर की स्थिति दिनोंदिन बिगड़ रही थी। बढ़ती मँहगाई के कारण जमींदार अपने नौकरों और श्रमिकों को भोजन और वास के रूप में मजदूरी चुकाने के स्थान पर नकद पैसे देते थे। श्रमिकों की मजदूरी ८ शिलिंग प्रति सप्ताह से भी कम हो गई थी। उनकी स्थिति दयनीय थी। चूँकि उनके पास भूमि नहीं थी इससे वे मुर्गी पालन, सुअर पालन या पशु पालन या साग-सब्जी और अनाज उत्पादन, अंडे, मांस, दूध आदि प्राप्त नहीं कर सकते थे। उन्हें मँहगे दामों पर दूकानों से खाद्य पदार्थ खरीदने पड़ते थे। वे इतना कम खरीद सकते थे कि बहुसंख्यकों को भूखों मरना पड़ा। उनका मुख्य भोजन रोटी और चाय था। उनके पास सर्दी से बचाव के आवश्यक कपड़े भी नहीं थे इसलिए बहुत से सर्दी से मर गए। जैसा कि एक पादड़ी ने लिखा है, "उनके खाली पेट पीठ से लगे हुए थे"। चूँकि उनका बंजर-भूमि से

जलावन (fuel) लेने का अधिकार छिन चुका था, इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि बहुत से मजदूर, जो कुछ भी थोड़े खाद्य पदार्थ उनके पास थे, उसे वे पका भी नहीं सकते थे ।

एक ओर तो गाँव की स्थिति किसानों के लिए इतनी दुखदायी थी कि वे उसे छोड़ना चाहते थे और दूसरी ओर बन्दोबस्त के कानून इतने कड़े थे कि वे उन्हें अपने गांव को नहीं छोड़ने देते थे । बन्दोबस्त का आधार जन्म और अधिकतर आवास था । परिणाम यह हुआ कि बहुत से श्रमिक भिखारी और चोर हो गए । अपनी समस्याओं के समाधान के लिए बेकार कृषि मजदूर के लिए चोरी एक आकर्षक हल बन गया था । वे चुराए गए पक्षी, मुर्गी पालकों के हाथ बेच देते थे । इन बातों की अंग्रेज भद्र जनों ने अत्यन्त निन्दा की और उन्हें रोकने की भी चेष्टा की । शीघ्र ही यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी कि गरीबों की दुर्दशा को देखते हुए इस तरह की चोरी को वे आसानी से न छोड़ेंगे । कानून के अनुसार पक्षियों का शिकार किया जा सकता था । यह शिकार १०० पौंड लगान देने वाले जमींदार कर सकते थे । आजीवन पट्टेदार किसान जो १५० पौंड से कम वार्षिक लगान नहीं देते, वे भी शिकार कर सकते थे। ऊँचे पद के लोगों या उनकी सन्तानों या उत्तराधिकारियों को भी यह अधिकार मिला था । यदि दूसरे शिकार करते थे तो उन्हें चोर कहा जाता था । शिकार के लिए बेंत, कड़ी मेहनत की कैद और मृत्युदण्ड तक दिया जाता था । चोरी से शिकार करते हुए बन्दूक सहित पकड़ा जाने पर चौदह साल की कैद की सजा मिलती थी और हिंसा के दोष में तो फांसी की सजा मिलती थी ।

उस समय दरिद्र रक्षा कानून (Poor Law) सम्बन्धी कुछ व्यवस्था भी थी परन्तु उससे कुछ भलाई होने के स्थान पर असुविधाएँ ही बढ़ती थीं । राज्य उत्साह पूर्वक गरीबों को संगठित करना चाहता था । वेतन निर्धारित कर दिए गए थे । निराश्रितों को सुधार गृहों में भेज दिया जाता था । वहां उन्हें काम देने की व्यवस्था होती थी पर यह प्रणाली ठीक से चल नहीं सकी । अट्ठारहवीं शताब्दी में जब इसकी आवश्यकता अनुभव हुई तब यह गरीबों की सहायता नहीं कर सकी । काम दिलाने वाले गृह अनियमित हो गए । उनमें उम्र, योनि, शारीरिक और मानसिक स्थितियों की उपेक्षा कर लोगों को भर दिया गया । अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक निराश्रितों की समस्या इतनी विकट हो गई कि उन्हें काम दिलाने वाले गृह सुलझा न सके । यह समस्या फ्रांसीसी क्रान्ति के कारण और भी गम्भीर हो गयी जो कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए संकटजनक थी । श्रमिकों की आय को स्थिर रखने की प्रणाली भी अपर्याप्त सिद्ध हुई । १७९५ के बाद मेहनती श्रमिकों (industrious labourers) को सहायता देने की एक योजना काम में लायी गयी । सहायता

बाँटने का यह तरीका अनुचित और हानिप्रद था। इससे उस श्रमिक वर्ग को हानि हुई जिसे यह लाभान्वित करना चाहता था। इसका उद्देश्य भले ही अच्छा रहा हो पर लोकप्रियता की भावना और डर के कारण इसे कार्यान्वित करने में बड़ी ढील ढाल रही। इससे बहुत से श्रमिक भिखारी से हो गए। जो काम कर रहे थे उनकी मजदूरी नाम मात्र की रह गयी। बेकारी बढ़ रही थी। सहायता प्राप्त लोगों की संख्या भी बढ़ रही थी। अन्त में पुअर ला कमिश्नर ने १८३४ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

इस प्रणाली में अनेक दोष थे। श्रमिक अकुशल थे और वे कानून जानते थे। वे अपने लिए न्यायाधीश का चुनाव कर सकते थे और दबाव का उपयोग कर सहायता कानूनी तौर से प्राप्त कर सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे उद्दण्ड हो गए और मजदूरी का प्रतिफल नहीं देते थे। वे जानते थे कि उनके मालिक उन्हें अध-पेट रखने वाली मजदूरी ही देते हैं इससे उनमें भरपूर श्रम करने की प्रेरणा नहीं थी। किसी मजदूर में कितनी ही कुशलता और उद्योगशीलता हो पर इससे उसे लाभ नहीं होता था क्योंकि वह सीमित मजदूरी पर आश्रित था। श्रम और नैतिकता दोनों का ह्रास हुआ। ईमानदारी से जीविका कमाने के स्थान पर काम से बचने की चालें बढ़ने लगीं। स्वतंत्र मजदूर को मूर्ख की तरह तिरस्कृत समझा जाता था। धोखे और चालबाजी से अधिक वेतन पाने की चेष्टा की जाती थी। न्याय की उपेक्षा होती थी। आभार नाम की कोई चीज न थी। सीधे साधे लोग दण्डित होते थे। उन्हें काम नहीं मिलता था। उनकी बचतें समाप्त हो चुकी थीं और उन्हें दरिद्र रक्षा कानून की शरण लेनी पड़ती थी। सहायता, परिवार की सदस्य संख्या पर निर्भर थी इससे अविवाहित लोगों को प्रतिकूलता का सामना करना पड़ता था। अतएव यह उनके हित में था कि वह विवाह करें और परिवार वृद्धि करें। जन संख्या के गिरे हुए भाग की वृद्धि का मूल कारण यह दोषपूर्ण प्रणाली थी। मूर्ख तथा मूढ़ लोगों को प्रोत्साहन दिया जाता था। बच्चो की संख्या वृद्धि मुख्य लक्ष्य था भले ही वे वर्णशंकर हों। अपने माता पिता की इस अवसरवादिता के परिणामों को उनकी संतानों ने देखा। जन्म से ही निराश्रयता के अतिरिक्त उन्होंने कुछ और नहीं जाना। यह निराश्रयता पैत्रिक हो गयी।

अध्याय ४

औद्योगिक क्रान्ति

कृषि के रूपान्तरण का सम्बन्ध उद्योग संगठन और उसकी विधियों में परिवर्तनों से था। "औद्योगिक क्रान्ति" शब्द समूह का प्रचलन १८२० के फ्रांसीसी लेखकों ने किया। इसे आरनाल्ड टॉयनबी ने औद्योगिक क्रान्ति के भाषणों में लोकप्रिय बनाया। १७६०-१८५० में उत्पादन और यांत्रिक तथा वैज्ञानिक रीतियों के उपयोग से उन लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयत्न हुआ जो पहले बहुत व्यय साध्य थे या जिनसे उत्पादन हो ही नहीं सकता था। देश की आर्थिक व्यवस्था में संगठनगत परिवर्तन भी हुए। उन उद्योगों में जिनकी कार्यविधियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए थे, पुराना संगठन अनुपयुक्त हो चुका था। निश्चित पूँजी की वृद्धि के परिणामस्वरूप संगठनों की इकाइयों में विस्तार पर जोर दिया जाने लगा। संगठनगत सुधार केवल उन उद्योगों तक ही सीमित नहीं थे जिनमें यांत्रिक परिवर्तन हुए थे वरन् सभी उद्योगों में प्रचलित हो चले थे। यातायात की सुविधाओं की वृद्धि का प्रभाव सभी वर्ग के उत्पादकों और उत्पादन इकाइयों पर पड़ा। इससे उनके बाजार का विस्तार हो गया जिसका कि दूरगामी प्रभाव पड़ा। विनिमय के लिए उत्पादन में सामान्य वृद्धि हुई, साथ ही श्रम विभाजन में भी स्पष्ट विकास हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति की विभिन्न व्याख्याएँ की गयी हैं। व्यापक रूप से विश्वास किया जाता है और इस सम्बन्ध में आरनाल्ड टायनवी का भी उल्लेख किया जाता है कि १७६० से १८३० के काल में "कुछ अन्वेषक प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने आकस्मिक और उग्र परिवर्तन किए"। इस मत का अब महत्व नहीं रहा। क्रान्ति के प्रायः सभी चरणों के इतिहास का श्रोत सोलहवीं सदी तक खोजा जा सकता है। इसके अपवाद भाप शक्ति का उपयोग, यंत्रों से उत्पादन और यातायात हैं। पुराने लेखकों का विश्वास था कि औद्योगिक क्रान्ति के भाप चालित इन्जिन तथा उत्पादन की अन्य विधियों के आकस्मिक और शक्तिशाली धक्के ने प्राचीन औद्योगिक उत्पादन व्यवस्था को नष्ट कर दिया। आधुनिक मन्तव्य यह है कि क्रान्ति न तो आकस्मिक और तीव्र थी तथा न इससे प्राचीन गतिविधियों से आकस्मिक विच्छेद हुआ। हम यह पहले देख ही चुके हैं कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में विधियाँ बदल रही थीं, घेरावन्दी आन्दोलन ने कृषि क्रान्ति के लक्षण प्रगट किए और अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं

शताब्दी की क्रान्ति के लिए एक प्रकार से तैयारी की। उद्योग का पूँजीगत संगठन, कारखाना पद्धति से उत्पादन, मजदूरी प्रथा, बैंकों से लेन देन की व्यवस्था से किसी न किसी रूप में इंगलैंड के कुछ उद्योग १७६० से ही परिचित थे। सम्पत्ति और पूँजी सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में ही बढ़ी थी। इस बात के अनेक संकेत स्पष्ट मिलते हैं कि बड़े और सट्टेबाज उद्योगों की कल्पना और संचालन सम्बन्धी पूँजीवादी भावना औद्योगिक क्रान्ति से भी पुरानी है। सोलहवीं शताब्दी में भी ऐसे दूरदर्शी औद्योगिक नायक थे जिन्होंने वाणिज्य की स्थापना में महत्वपूर्ण कार्य किया, सरकारी ऋणों के सौदे किए और विदेशी मुद्रा का विनिमय किया। पूँजीवादी क्षेत्र में अनेक प्रसिद्ध उद्योगपतियों का उदय हुआ। सोलहवीं शताब्दी में संयुक्त पूँजीगत संस्थानों की तीव्र गति से वृद्धि हुई और अनेक औद्योगिक तथा व्यापारिक कम्पनियाँ निर्मित हुई। इस व्यवस्था का मुख्य गुण यह था कि इससे व्यापक क्षेत्र में पूँजी संग्रहीत की जा सकी और उसको उद्योग और व्यापार में लगाया जा सका। पूँजी की मात्रा बहुत कुछ उद्योग और वाणिज्य के विस्तार पर निर्भर थी। १६६० में इसे "व्यापारी की जीवनी शक्ति" कहा जाता था। ऋण व्यवस्था मध्यकाल में भी थी और इसका महत्व सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में बहुत बढ़ गया था।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के परिवर्तनों से आर्थिक विकास की गति अपेक्षाकृत तीव्र रही। औद्योगिक क्रान्ति ने इस विकास गति को बहुत ही तेज कर दिया। १७०१-१७८१ के बीच औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक वृद्धि सामान्यतः २ प्रतिशत से अधिक नहीं थी जबकि यह १७८२-१८५५ में लगभग ३-४ प्रतिशत थी। १७८१-१९१३ के बीच औसत वृद्धि १७००-१७८० की तुलना में तीन गुनी अधिक थी। इसका अर्थ यह है कि औद्योगिक क्रान्ति ने भूतकाल से तीव्र विच्छेद करने और नए आरम्भ के बजाय युगान्तरकारी (age long) क्रान्तिकारी प्रक्रिया को बढ़ावा दिया। श्रीमती एल० सी० नोल्स ने ठीक ही कहा है कि औद्योगिक क्रान्ति शब्द का प्रयोग तीव्रगामी परिवर्तनों के कारण नहीं किया गया वरन् मूलभूत परिवर्तनों के कारण किया गया। उन्होंने यह भी कहा कि "यद्यपि औद्योगिक परिस्थितियों में मूलभूत परिवर्तन हुए पर उनमें आकस्मिक परिवर्तन नहीं हुए"।

इस कथन से औद्योगिक क्रान्ति काल की सीमाओं की समस्या प्रस्तुत होती है। आरनाल्ड टायनबी ने इस शब्द का प्रयोग १८०० से तीस चालीस वर्ष पूर्व और पश्चात होने वाले परिवर्तनों के बारे में किया। बाद में १७६० से १८५० तक के काल का उल्लेख क्रान्ति के लिये किया जाने लगा। जब इतिहासकारों और अर्थ-

शास्त्रियों ने सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में औद्योगिक विकास का अध्ययन किया तो उन्होंने औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ की तिथि १७६० से बहुत पहले निर्धारित की। प्रो० नेफ ने इस काल को १५५० से १८६० तक निश्चित किया। पर यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है क्योंकि किसी भी काल के परिवर्तन का मूल लम्बे भूतकाल में खोजा जा सकता है और इस प्रकार क्रान्तिकारी परिवर्तनों को किसी एक काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। श्रीमती नोल्स का कथन है, "यदि सन् १७५० के इंगलैंड से भिन्न, क्रान्तिकारी इंगलैंड के बारे में कोई तिथि बताई जा सके तो शायद वह १८३०-१८४० होगी। इसमें १० वर्ष आगे भी किए जा सकते हैं।" तथापि उन्होंने औद्योगिक क्रान्ति को दो महत्वपूर्ण कालों में विभाजित किया अर्थात् पहला १७७०-१८४० और दूसरा १८४० से १९१४। इस विभाजन का आधार उन्नीसवीं शताब्दी में यातायात सम्बन्धी यान्त्रिक परिवर्तन थे। यान्त्रिक विकास के आधार पर औद्योगिक क्रान्तिकाल को सीमित करना कठिन है क्योंकि विकास चल रहा है और उस अर्थ में औद्योगिक क्रान्ति अभी समाप्त नहीं हुई है।

औद्योगिक परिवर्तनों का स्वरूप

औद्योगिक क्रान्ति ने औद्योगिक उत्पादन विधियों में दूरगामी परिवर्तन किए जिनका प्रभाव समाज के आर्थिक संगठन और उसके ढांचे के परिवर्तनों पर बराबर पड़ा।

विधि

विभिन्न उद्योगों तथा उनके विभिन्न विभागों में उत्पादन विधियों में ऐसे परिवर्तन हुए जिनसे कि उत्पादन व्यय घटा, उत्पादन परिमाण सुधरा और ऐसी वस्तुओं का निर्माण हुआ जो पहले उत्पादित नहीं होती थीं।

औद्योगिक और वाणिज्य क्रान्तियाँ कोयले, लोहे और यातायात शक्ति पर आश्रित थीं। अट्ठारहवीं शताब्दी में जल शक्ति का प्रयोग होता था और जब भाप शक्ति का उपयोग किया जाने लगा तब बहुत से व्यापारों पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। शक्ति के रूप में भाप के प्रयोग से श्रम पर कम खर्च होने लगा, कम मात्रा में कोयले की जरूरत पड़ने लगी। पैपिन ने सबसे पहले दबाव से जल को उबालने के यंत्र का अन्वेषण किया पर इसका केवल सैद्धान्तिक महत्व था। न्यूकोमेन ने १७१० में एक ऐसा इन्जिन बनाया जो कोयले की खदानों से पानी खींच लेता था। पर इसके प्रति यह आपत्ति थी कि इसमें बहुत ही अधिक ईंधन खर्च होता था। वाट्स ने इसमें सुधार किया। उन्होंने ग्लासगो युनिवर्सिटी में न्यूकोमेन के इंजिन पर कई प्रकार के प्रयोग

किए और कई वर्षों के परिश्रम के बाद १७७६ में प्रसिद्ध भाप इंजिन का आविष्कार किया। धीरे-धीरे इंगलैंड में १७८२ से इसका उपयोग होने लगा। इससे मशीनें और लोहे की धमन भट्टियाँ चलाई जाने लगीं।

भाप के अन्वेषण और अधिकाधिक प्रयोग से कोयले की असाधारण माँग बढ़ गई। औद्योगिक परिवर्तन, मशीन चलाने की शक्ति, लोहे को पिघलाने, रासायनिक उद्योग चलाने तथा यातायात के लिए रेलों और जहाजों को चलाने के लिए कोयले की माँग बढ़ती गई। भाप ने लोहे की भी मांग पैदा कर दी।' नई शक्ति से चलने वाली मशीनों को बनाने में लकड़ी की अब आवश्यकता नहीं थी क्योंकि यह नई शक्ति के भार को नहीं सम्भाल सकती थी। इसलिए लोहे की माँग बढ़ गई। लोहा कोयले की खदानों तक पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुंच सकता था जब तक कि यातायात के साधनों में क्रान्ति न होती। यातायात के नए साधनों ने लोहे और कोयले की माँग बढ़ा दी। लोहे की आवश्यकता इंजिनों, जहाजों, आदि के बनाने में पड़ी और कोयला उन्हें चलाने के लिए अनिवार्य हो गया। लोहा, कोयला, और मशीन उत्पादन रासायनिक कारखानों को बढ़ाने में भी भाप सहायक हुई। रासायनिक कारखानों को भी कोयले की आवश्यकता रासायनिक उत्पादनों और शक्ति के लिए पड़ी।

परस्पर सम्बन्धित परिवर्तन. हम उत्पादन की विधियों को एक दूसरे पर निर्भर छः शाखाओं में विभक्त कर सकते हैं। सबसे पहले इन्जीनियरिंग के विकास की आवश्यकता हुई। भाप के इंजन बनाने और सुधारने, सूती कारखानों की मशीनों को बनाने, कोयला खानों से कोयला निकालने की मशीनें तैयार करने, मशीन औजार और रेलगाड़ियों को तैयार करने के लिए इंजीनियरों की माँग हुई। जब तक लोहा बड़ी मात्रा में न ढाला जाता तब तक इंजीनियरों को अपने कार्य के लिए आवश्यक सामग्री न मिलती। अतएव लोहे के बनाने में क्रान्ति हुई। तीसरा परिवर्तन सूती कारखानों को पानी और भाप की यान्त्रिक शक्ति से चलाने में उपयोग किया गया। सूती उद्योग के विकास के लिए रासायनिक उद्योग की आवश्यकता पड़ी क्योंकि वस्त्र नीरंजन कार्य (bleaching), रंगाई, छपाई, सफ़ाई आदि के लिए रासायनिक उद्योग में क्रान्तिकारी परिवर्तन होना आवश्यक था। इंजीनियरिंग, लोहा ढालने, सूती कपड़े और रासायनिक उद्योग कोयले पर निर्भर थे और यदि यातायात और संचार में तेजी से विकास न होता तो बड़े पैमाने पर यंत्रों का निर्माण या लोहा, कोयला या अन्य उद्योगों का विकास सम्भव नहीं था। खाद्य पदार्थ को शहरी जनता और कारखानों के लिए कच्चा माल सुलभ करने के लिए सुगम यातायात आवश्यक था।

उपर्युक्त विवरण से किसी को यह मत निश्चित नहीं करना चाहिए कि विभिन्न उद्योग क्रमानुसार बढ़े और एक उद्योग अन्य किसी उद्योग से अधिक महत्वपूर्ण था।

किसी भी परिवर्तन के महत्व को घटाया नहीं जा सकता। प्रत्येक परिवर्तन का अपना महत्वपूर्ण योग था। प्रत्येक परिवर्तन किसी अन्य परिवर्तन का निमित्त बना, यद्यपि यह स्वयं ऐसे ही परिवर्तन का परिणाम था। इस तरह इंजीनियरिंग, खनन (mining), सूती कारखाने, रासायनिक धंधे और अन्य उद्योगों के विकास में निरंतर क्रिया प्रक्रिया होती रही।

विभिन्न उद्योगों में परिवर्तन. विभिन्न उद्योगों के विभिन्न परिवर्तनों को नीचे लिखे भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(क) सूती कारखाने
(ख) रसायन
(ग) कोयला
(घ) लोहा
(च) यांत्रिक इंजीनियरिंग
(छ) सिविल इंजीनियरिंग और यांत्रिक यातायात

(क) सूती कारखानों से सम्बन्धित अन्वेषण. औद्योगिक क्रान्ति कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यह एक तरह से शक्तियों को नई दिशा में असाधारण रूप से आगे बढ़ाने के समान थी। इन अविष्कारों को भाप की शक्ति के रूप में पहले सूती कारखानों में उपयोग में लाया गया और बाद में अन्य उद्योगों में। अन्वेषणों को पहले सूती वस्त्र उद्योगों में कार्यान्वित किया गया। इसके बाद अन्य कपड़ा उद्योगों में और अन्य दूसरे उद्योगों में, यद्यपि विभिन्न अन्वेषणों और विभिन्न उद्योगों में स्पष्ट भेद करना कठिन है। पर एक बात स्पष्ट है कि यंत्रों का उपयोग सर्व प्रथम सूती कपड़ों के कारखानों में हुआ। इसके अनेक कारण थे। पहला, कपास का रेशा एक सा होने के कारण सरलता से मशीनों के प्रयोग के लिए उपयुक्त था। दूसरा, कच्चा माल बहुतायत से दूसरे देशों से, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ग्रेट ब्रिटेन पर आश्रित थे, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका, भारत, मिस्र और दक्षिण अफ्रीका, से मिल सकता था। तीसरा, तैयार माल के लिए देश और विदेश में बड़ा बाजार था। चौथा, मजदूरों की कमी थी। दो बातें, मजदूरों की कमी और यंत्रों का आगमन, एक दूसरे से जुड़े हुए थे। सूत तैयार करने के उद्योग में यह स्थिति विशेषतः स्पष्ट थी। मजदूरों की कमी का कारण केवल आबादी की कमी ही नहीं था परन्तु सूती कारखानों के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में बढ़ती माँग भी थी। कोयला खनन, लोहे का सामान बनाना, सड़कों का बनाना और अन्य कार्यों के लिए बहुसंख्यक मजदूरों की आवश्यकता थी। इसके साथ ही विदेशों में वस्तुओं की बढ़ती हुई माँग ने यंत्रों को अपनाने में सहायता की। सूती कारखाना उद्योग

के अन्वेषणों को तीन भागों में विभाजित कर अध्ययन किया जा सकता है। पहला, सूत कातने सम्बन्धी अन्वेषण, दूसरा, बुनाई सम्बन्धी अन्वेषण और तीसरा, यन्त्रिक शक्ति सम्बन्धी अन्वेषण ।

१७६४ में जेम्स हार ग्रीव्स ने स्पिनिंग जेनी (कताई चमत्कार) का अन्वेषण किया। यह हाथ से चलाए जाने वाले एक चक्र से चलता था और इसमें विभिन्न सुधारों के फलस्वरूप ८० से १२० नम्बर के तागे तैयार होते थे। इस यंत्र से सूत कातने की क्रिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ पर इससे बहुत ही कमजोर सूत तैयार होता था। १७६९ में रिचार्ड अर्कराइट ने वाटर फ्रेम का अन्वेषण किया। इस यंत्र की विशेषता यह थी कि सूत बहुत मजबूत होता था और यह पानी की शक्ति से संचालित होता था। इसकी सामाजिक महत्ता यह थी कि जल शक्ति के कारण लोगों को एक भवन में एकत्र रखना अनिवार्य था। इस यंत्र के फलस्वरूप कारखाना प्रथा का उदय हुआ। १७७९ में कपास व्यापार को क्राम्पटन के एक अन्वेषण से और प्रगति मिली। उसने पहले दो अन्वेषणों के तालमेल से सूत कातने का ऐसा यंत्र तैयार किया जो सबसे पतला सूत कात सकता था। इस तरह इंगलैंड में पहली बार सबसे बारीक सूत कातना सम्भव हो सका। इस यंत्र का नाम म्यूल था। इसे पहले हाथ से चलाया जाता था। धीरे-धीरे इसमें बहुत से सुधार हुए और अन्त में यह १८१५ में भाप शक्ति से चलाया जाने लगा। १७९२ में इलीव्हिटन्मी ने एक अन्वेषण किया जिसे जिनिंग प्रासेस कहते हैं। इससे कच्चे कपास को बिना किसी क्षति के दीर्घकाल तक सुरक्षित रखा जा सकता था।

बुनाई में कताई की अपेक्षा अन्वेषण धीमी गति से हुए। इससे कारखाने की व्यवस्था में भी धीमें परिवर्तन हुए। सूती बुनाई के लिए बुनकरों की कमी थी क्योंकि सूत बहुत अधिक तैयार रहता था। इसने बुनाई उद्योग के लिए मशीनों के अविष्कार करने की प्रेरणा दी। जान केक का फ्लाइंग शटिल का आविष्कार १७३३ में हुआ। यह हाथ से संचालित यंत्र था जिसने कताई के अन्वेषण को प्रोत्साहित किया। एडमंड कार्ट राईट ने शक्ति संचालित करघे का आविष्कार १७८७ में किया। जान्सन, हारक्सर और दूसरों ने बुनाई की विभिन्न विधियों के सम्बन्ध में अनेक अन्वेषण किए। शक्ति संचालित यंत्रों के क्षेत्र में बढ़ते हुए पानी की शक्ति का उपयोग सूती यंत्र चलाने में प्रथम बार किया गया। यह एक सरल यंत्र था और आर्कराइट के वाटर फ्रेम के आधार पर ही निर्मित था। रैडक्लिफ और जान्सन ने कई यान्त्रिक विधियाँ निकाली जिनसे सूत अपने आप कई प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ करघे में पहुँचता था और अन्त में कपड़े के रूप में परिवर्तित हो जाता था। हारक्स ने पूर्णत: लोहे के बने करघे प्रयुक्त किए। १८१५ में देश में लगभग ३००० शक्ति संचालित करघे थे पर आगामी

दस वर्षों में, १८२५ में ३०,००० करघे हो गए। नौ वर्ष बाद शक्ति संचालित करघों की संख्या एक लाख हो गई। पैपिल विच पहला सूती कारखाना था जो नाटिंघम में स्थापित हुआ जिसमें १७८५ में भाप शक्ति का प्रयोग हुआ। उद्योग में भाप का प्रयोग तेजी से प्रचलित हो गया और १७६५ में लगभग ४७ भाप चालित इंजन थे। १८०० में सूती कारखाना उद्योग में ही उनकी संख्या ८२ हो गयी। हाथ शक्ति से यांत्रिक शक्ति की ओर प्रगति में लगभग १०० वर्ष लगे।

(ख) रासायनिक उद्योगों में अन्वेषण. सूती उद्योग में विकास के कारण औद्योगिक रसायन के क्षेत्र में खोज और अन्वेषण को प्रोत्साहन मिला। नीरंजन के पुराने तरीके में आठ महीने लग जाते थे। रोबक ने कासीस के तेल (oil of vitriol) का तरीका प्रस्तुत किया और १७४६ और १७४६ में दो महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्रों में कारखाना स्थापित किया। इससे नीरंजन प्रक्रिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए जिसका प्रभाव सूती उद्योग पर भी पड़ा। इस रीति में और सुधार किए गए और शीघ्र ही नीरंजन प्रक्रिया कुछ दिनों में पूरी की जाने लगी जब कि पहले इसमें बहुत समय लगता था। इस कार्य के साथ १७६६ में अन्य खोजों का उपयोग किया गया और इस प्रकार यह प्रक्रिया वाणिज्य की दृष्टि से अत्यधिक सफल प्रमाणित हुई। यदि नीरंजन प्रक्रिया में कपड़ों को महीनों तक टंगा रखा जाता तो सूती उद्योग में विकास असम्भव था। अट्ठारहवीं शताब्दी की समाप्ति तथा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक नीरंजन रंगाई और छपाई उद्योगों में तेजी से विकास हुआ। ये उद्योग सूती उद्योग के क्षेत्रों के निकट विकसित हुए। सूती उद्योग का विकास उन क्षेत्रों के आस पास हुआ जहाँ से कोयला और यंत्र सरलता से मिल सके और जहां मरम्मत का कार्य हो सके। सूती उद्योग के निकट ही यंत्र कारखाने होने के कारण सूती उद्योग में शीघ्रता से सुधार तथा विकास सम्भव हो सका।

(ग) कोयला खनन उद्योग में विकास. औद्योगिक क्रान्ति में गति लाने के लिए कोयला, लोहा और शक्ति की आवश्यकता थी। घरेलू काम के लिए कोयले का खनन प्राचीन काल से होता आया था। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में कोयला खनन उद्योग का विकास होता रहा। इसलिए सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में इस उद्योग में पूँजी लगाई जाने लगी। जब कच्चा लोहा पिघलाने और आधुनिक यातायात के साधनों का उपयोग किया जाने लगा तब इस उद्योग में नए ढंग से तीव्रता आई। भाप के इंजनों के आविष्कार तथा उपयोग बढ़ने के साथ इस उद्योग का महत्व औरभी बढ़ गया। कोयला उठाने के लिए धातु के झाँपे और टबों का उपयोग किया गया और १८५० के लगभग कोयला मजदूरों को ऊपर निकालने के लिए लोहे की रस्सियों

का उपयोग किया जाने लगा जिससे दुर्घटनाएँ बहुत कम हो गयीं। दुर्घटनाएँ कम करने के लिए हवा की समुचित व्यवस्था की गई और यह कार्य १८५२ में पूरा हुआ जब सरकार ने खदान के मालिकों को इस कार्य के लिए राजी कर लिया। १८५० में सरकार के द्वारा कोयला खदान निरीक्षकों की नियुक्ति की गई। इनका कार्य यह था कि वे खदानों का निरीक्षण करें और यह भी देखें कि सरकार के द्वारा बनाए नियमों का पालन वहाँ किया जा रहा है या नहीं।

(घ) लोहा पिघलाने की प्रक्रिया में सुधार. औद्योगिक परिवर्तन लाने में लोहे का महत्व कोयले से कम नहीं था। कोयला और लोहा औद्योगिक क्रान्ति के दो चरण थे। कोयले से ईंधन और शक्ति मिलती थी और लोहे से यंत्रों का निर्माण किया जाता था। अट्ठारहवीं शताब्दी में युद्धों के कारण युद्ध सामग्री और जहाजों के लिए लोहे की माँग तीव्रता से बढ़ी। सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड में कोयले का अकाल पड़ा था और सत्रहवीं शताब्दी तक लकड़ी के कोयले के स्थान पर खदान के कोयले का उपयोग नहीं किया गया। पर लकड़ी के कोयले में गंधक होने के कारण खराब लोहा बनता था। इस प्रकार अच्छे लोहे की कमी थी। लोहे की कमी बाद में कोयले को भस्म कर के कोक के द्वारा लोहा पिघलाने की प्रक्रिया के उपयोग से पूरी की गई। लोहा उद्योग की दो शाखाएँ थी—पिघलाना और गढ़ना (forging)। लोहा पिघलाने की प्रक्रिया में १७०९ और १७८२ के बीच सुधार किए गए परन्तु गढ़ाई प्रक्रिया में उस समय तक कोई सुधार नहीं किया जा सका। पहले लौह-धातुक (iron ore) धमन भट्टियों में लकड़ी के कोयले की सहायता से पिघलाया जाता था और धौंकनी चलाने के लिए जल शक्ति का प्रयोग किया जाता था। इसलिए यह उद्योग उस स्थान पर स्थापित किया जाता था जहाँ लकड़ी और पानी मिलता हो। जहाज के पम्प, बोल्ट, लंगर, औजार और भाप इंजनों के पुर्जे बनाने में शुद्ध लोहे की आवश्यकता पड़ती थी। इसके लिए कच्चे लोहे को पुनः गरम करके पीट कर गढ़ाई की जाती थी जिससे अशुद्धि निकल जाती थी।

लोहा शुद्ध करने के लिए लकड़ी के कोयले के स्थान पर खनिज कोयले का उपयोग सबसे पहले डरबी ने १७०९ में किया था। वैसे तो लौह धातु को पिघलाने के लिए खनिज कोयले का उपयोग १६२० में डडले ने किया था परन्तु यह प्रयोग गुप्त रहा और लोगों को इसके बारे में पता नहीं था। १७९० तक इंगलैंड में लगभग सभी लोहे के कारखाने में लकड़ी के कोयले के स्थान पर खनिज कोयले का उपयोग किया जाने लगा। जो कच्चा कोयला पहले तैयार किया जाता था वह अच्छा नहीं होता था क्योंकि गरम झोंका (hot blast) देने के लिए भाप के इंजन का उपयोग अब तक नहीं किया जाता था। इस कार्य के लिए १७७५

में विल्किंसन ने भाप के इंजन का उपयोग किया परन्तु इसमें सुधार लाने में अधिक समय लगा। कोयले की खानों से पानी निकालने में भाप का उपयोग १७१२ में न्यूकोमेन ने किया था परन्तु खदानों से कोयला ऊपर निकालने के लिए वाट का भाप इंजन का उपयोग अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में ही किया जा सका। साथ ही यह भी समस्या थी कि खदानों से सामान्य वितरण के लिए नहरों तक कोयला कैसे पहुँचाया जाय क्योंकि यातायात में भाप का उपयोग अभी आरम्भ नहीं हुआ था। खदानों से नदियों तक कोयला पहुँचाने के लिए लकड़ी की पटरियों का उपयोग किया जाता था पर उनकी दशा बड़ी असंतोषजनक थी। १७६७ के बाद लोहे की पटरियों का उपयोग किया गया और खदानों को नई नहरों से मिला दिया गया। इस प्रकार कोयले के यातायात में बहुत बड़ा सुधार हुआ। १८१२ में कोयला ले जाने के लिए भाप के इंजन का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया। कोयला यातायात करने के लिए ही आधुनिक यंत्र यातायात के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए गए जिससे भारी और बड़े आकार की वस्तुओं के स्थानान्तरण में क्रान्ति मच गयी।

लोहे के स्थान पर इस्पात का उपयोग होने के कारण, उद्योग में एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इस्पात बनाने में तीन विभिन्न प्रक्रियाओं का उपयोग किया गया जिन्हें बेसमर खुली भट्टी (open hearths) और टामस (Thomas) की विधियाँ कहा जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होने वाले इन परिवर्तनों के कारण "दूसरी औद्योगिक क्रान्ति" का जन्म हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि पिछली शताब्दी की तुलना में इस्पात और यंत्र अब कम लागत पर तैयार किया जाने लगा।

(च) यांत्रिक इंजीनियरिंग में क्रान्ति. यदि उत्पादन की हर अवस्था में इंजीनियरों ने लगातार सुधार न किया होता तो औद्योगिक परिवर्तन सम्भव नहीं था। कदाचित सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम यांत्रिक इंजीनियरिंग के क्षेत्र में हुए थे और अब कम लागत पर लोहा और इस्पात बनाने की समस्या का हल खोज लिया गया। इस प्रकार यंत्रों की सम्भाव्य क्षमता और उपयोगिता अधिक बढ़ गयी थी। यदि लकड़ी के स्थान पर लोहा और इस्पात का उपयोग सम्भव न होता तो जटिल यंत्र लोकप्रिय न बन पाते। यंत्रों में प्रयुक्त अनेक पुर्जों को अत्यधिक कुशलता एवं निपुणता से बनाना पड़ता था जिससे कि वे अन्य पुर्जों के साथ सही बैठ जाँय। लकड़ी के पुर्जे दबाव तथा ताप के परिवर्तनों के कारण घट-बढ़ जाते थे और उनमें दरार पड़ जाती थी। हाथ से छोटे पुर्जे और मशीन नहीं तैयार किए जा सकते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यांत्रिक इंजीनियरिंग में महत्वपूर्ण विकास हुए होंगे और इससे औद्योगिक

क्रान्ति के विकास में सहायता मिली होगी। कार्यों में कुशलता लाने की दिशा में खोज के प्रयत्नों में भाप के इंजिनों के द्वारा सबसे अधिक प्रोत्साहन मिला।

वाट के इन्जिन के आविष्कार के बाद यांत्रिक इंजीनियरिंग में तेजी से विकास हुआ और अन्य आविष्कारों से अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला। यांत्रिक इंजीनियरिंग के क्षेत्र में प्रगतिशील इंजीनियरों ने खोज तथा अन्वेषण का कार्य किया। इस क्षेत्र में सुधारों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक ओर तो ऐसे सुधार हुए जिनके परिणामस्वरूप अधिकाधिक किफायतें प्राप्त हुई और मशीनों का संचालन निर्विघ्न रूप से चलता रहा। दूसरे प्रकार के सुधारों से यह सम्भव हो सका कि मूल पम्पिग क्रिया को इस प्रकार संचालित किया जाय और उसमें ऐसा रूपांतरण किया जाय, जिससे कोई भी इच्छित कार्य तथा गति प्राप्त की जा सके। नौपरिवहन में भाप का उपयोग १७८८ के पहले ही सेमिंगटन ने कर लिया था। १८०० और १८३० के बीच भाप के रेल-इंजन के विचार पर इंजीनियरों ने धीरे-धीरे काम किया।

(छ) सिविल इंजीनियरिंग और यांत्रिक परिवहन क्षेत्र में विकास. १७६० और १८३० के बीच सिविल इंजीनियरिंग क्षेत्र की उपलब्धियाँ औद्योगिक क्रान्ति में विशेष महत्व रखती हैं। यातायात तथा संचार की परिस्कृत सुविधाओं के कारण बड़ी मात्रा में उत्पादन तथा उद्योगों का केन्द्रीयकरण सम्भव हो सका। सिविल इंजीनियरिंग तथा यांत्रिक परिवहन की हर शाखा में अंग्रेज तथा स्काच इंजीनियरों ने मौलिक प्रविधि प्रस्तुत की जो कि योरोप के अन्य देशों के अनुभवों से भिन्न थी। उनके खोज कार्यों के परिणाम आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में रेल मार्ग के निर्माण में सहायक सिद्ध हुए।

श्रीमती नोल्स ने औद्योगिक क्रान्ति को परिवहन सुविधाओं के विकास के अनुसार दो काल में विभक्त किया है। पहला काल १७७० और १८४० के बीच का है जिसे पक्की सड़कों और नहरों का काल कहा गया और दूसरा १८४० और १९१४ का रेल काल था।

परिवहन के विकास की पहली अवस्था में सड़कों और आन्तरिक जलमार्ग का विकास हुआ। इस अवस्था में कोयले और लोहे की खानों, इंजीनियरिंग के कारखानों और सूती वस्त्र उद्योग का विकास हुआ। सड़कों में सुधार सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में होने लगा था परन्तु इस दिशा में अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य तक कोई कार्य नहीं हुआ। १७५० के अगले २० वर्षों में देश के हर भाग में सड़कों का विशेष निर्माण कार्य बड़ी मात्रा में हुआ। साथ ही सस्ता और सुगम परिवहन का साधन भी उपलब्ध हुआ।

परिवहन में सुधार आरम्भ होने भर की देर थी कि इसकी गति अत्यधिक तीव्र हो गयी। सड़कों की देखभाल और निर्माण के सम्बन्ध में १७६० और १७७४ के बीच ४५० से अधिक अधिनियम पारित किए गए। औद्योगिक क्रान्ति की इस अवस्था में सड़कों के बड़े-बड़े इंजीनियर उत्पन्न हुए। मेटकाफ सड़कों के नियोजन के लिए और टेलफोर्ड समतल सड़कें बनाने के लिए प्रसिद्ध हुए। १८१५ में मैकडामन ने सड़कों के लिए सस्ती और टिकाऊ सतह बनाने का रहस्य खोज निकाला और उनकी विधि से निर्मित सड़कों को मैकडमाइज़ड सड़क कहा गया।

क्रान्ति की प्रारम्भिक अवस्था में आन्तरिक जलमार्ग, परिवहन का महत्वपूर्ण साधन था। १८४७ के लेखों से यह पता चलता है कि डरहम के दक्षिण में इंगलैंड के किसी भाग से परिवहन-योग्य जलमार्ग १५ मील से अधिक दूरी पर नहीं था और इंगलैंड के अन्य क्षेत्रों में यह दूरी दस मील से अधिक नहीं थी। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है यदि यह कहा जाय कि रेलवे के प्रसार से सत्तर वर्ष पूर्व के आर्थिक इतिहास में नहरों का अत्यधिक महत्व था। यारनट्न ने १६७७ में ही प्राकृतिक जल मार्गों के सुधार और उनसे नहरों को मिलाने के कार्य पर जोर दिया था परन्तु इस दिशा में ब्रिजवाटर नहर के निर्माण के समय तक कोई विशेष कार्य नहीं किया गया। ब्रिजवाटर नहर परिवहन के लिए १७८७ में खोली गई। नहर निर्माण के क्षेत्र में विन्डले अट्ठारहवीं शताब्दी का सबसे व्यावहारिक एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति था। उस समय भी जब उसकी ख्याति चोटी पर थी तब भी वह न तो पढ़ लिख ही सकता था और न उसे खोजयोग्य वैज्ञानिक प्रशिक्षण ही प्राप्त थी परन्तु फिर भी इस दिशा में उसके विचारों और कार्यों का ऐतिहासिक महत्व था। ब्रिन्डले ने १७६० और १७७२ में बहुत मेहनत करके नहर पद्धति के प्रमुख मार्गों का निर्माण किया जिससे कि नए औद्योगिक महत्व के नगरों—लंकाशायर और यार्कशायर—का सम्पर्क ब्रिस्टल, बरमिंघम और लन्दन से स्थापित हो गया।

रेलों और भाप के जहाजों के आगमन से परिवहन में तीव्रगति से सुधार हुए जिससे कि औद्योगिक क्रान्ति की दूसरी अवस्था का आरम्भ हुआ।

आर्थिक संगठन

उत्पादन प्राविधिक परिवर्तन के कारण सम्पूर्ण सामाजिक संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन उत्पन्न हुए। उद्योगों में ऐसी प्राविधिक क्रान्ति हुई कि प्राचीन संगठन अनुपयुक्त हो गया और पूँजी के अधिकाधिक महत्व के कारण औद्योगिक इकाइयाँ बड़ी होने लगीं। ऐसे उद्योगों में जिनमें प्राविधिक सुधार कम हुआ या देर से हुआ

परिवहन की सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण हर प्रकार के उत्पादकों पर प्रभाव पड़ा क्योंकि अब बाजार विस्तृत हो गया था और प्रतिस्पर्धा अधिक हो गई थी।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण संगठनात्मक परिवर्तन, जो अब तक लगातार हो रहा है, वह यह था कि उत्पादन की इकाइयाँ अब बड़ी होने लगीं। यह संगठनात्मक परिवर्तन सबसे पहले सूती वस्त्र उद्योग में प्रगट हुआ और बाद में धातुकर्म (metallurgical) उद्योगों और खदानों में आया। इसके पश्चात् तो हर उद्योग की उत्पादन इकाइयों में मौलिक परिवर्तन हुए और उनका विस्तार हुआ।

सूती वस्त्र उद्योग में एक सामान्य कारखाना घरेलू कारखाने से तो बड़ा होता था परन्तु वह कुछ अन्य उद्योगों के कारखानों की तुलना में छोटा होता था। १७६० के पश्चात् उद्योगों के विकास में एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि वर्तमान इकाइयों का विस्तार हुआ और साथ ही नई इकाइयां स्थापित की गयीं। सूती वस्त्र उद्योगों में लाभप्रद प्रसार की सीमा शीघ्र ही प्राप्त हो गई। उद्योगों में क्षैतिज तथा ऊर्ध्वाधिर संयोजन (horizontal and vertical combinations) की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ने लगी। इन संयोजनों का सबसे अधिक प्रभाव परिवहन उद्योग पर पड़ा। सड़कों और नहरों के पुनर्निर्माण तथा उनमें सुधार के साथ-साथ उनमें एकत्रीकरण की प्रवृत्ति पनपी और ट्रस्टों का प्रादुर्भाव हुआ। कोयला और धातुओं की मांग बढ़ने के कारण खनन अनुष्ठानों के विकास में तीव्रता आयी। धातुकर्म समुत्थान के साथ-साथ खनन उद्योगों में प्रारम्भिक पूंजी बड़ी मात्रा में लगती थी और इसलिए इस क्षेत्र में प्रगति नई इकाइयाँ स्थापित करने की तुलना में वर्तमान इकाइयों में प्रसार तथा समामेलन के द्वारा ही हो सकती थी। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत में संयोजन का प्रारम्भिक उदाहरण कोयला उद्योग में मिला। स्थानीय खानों को संगठित करके जर्मनी के कार्टेल के समान संस्थाएं बनाई गयीं। बिक्री कार्य केन्द्रीय कार्यालय में था जो कि संगठित समुत्थानों के पास के अंशों को निश्चित अनुपात में भेजता था। यद्यपि अनेक औद्योगिक परिवर्तन १८३० के पहले ही हो चुके थे तथापि आर्थिक संगठनों में प्रकृति तथा लक्षण सम्बन्धी प्रतिरूपी (typical) परिवर्तन विक्टोरिया काल में हुआ।

रेल काल (१८५०-१९१४) में कारोबार के विस्तार में बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ी, इसलिए बैंकों तथा संयुक्त पूँजी की कम्पनियों का विकास तेजी से हुआ। औद्योगिक क्रान्ति की प्रारम्भिक अवस्था (१७६०-१८५०) में (जो कि क्रान्ति का मुख्य भाग था) इस प्रकार के बड़े उद्यमों की कमी खटकती थी। बैंक आफ इंगलैंड के हाथ में मिश्रित पूँजी की बैंकिंग का पर्याप्त एकाधिकार

था और इसके अन्तर्गत असंख्य निजी व्यावसायिक संस्थाओं के हाथ बैंकिग के विस्तार की पर्याप्त सम्भावना थी। १७६० और १८३० के बीच बड़े खुदरे स्टोर के लिए कोई स्थान न था और इसकी सम्भावना परिवहन की सुविधाओं तथा अन्य गौण उत्पादन के कारण प्रस्फुटित हुई। मिश्रित पूँजी कम्पनियों और बैंकिग निगमों के विकास के साथ पुराने नौकर-मालिक के व्यक्तिगत सम्बन्ध समाप्त हो गए और उसके स्थान पर अवैयक्तिक निगमों का जन्म हुआ। प्रतिरूपी मालिक शेयरधारी बन गया जो कि कम्पनियों में पूंजी लगाता था, मैनेजर के द्वारा काम लेता था और ऊंचा लाभांश प्राप्त करना चाहता था परन्तु वह व्यक्तिगत रूप से कारोबार के लिए उत्तरदायी नहीं था क्योंकि कारोबार के प्रति उसका उत्तरदायित्व सीमित था। प्रतिस्पर्धा बढ़ गयी थी जिससे नई समस्याएं सामने आईं। ट्रस्टों, नियंत्रक कम्पनियों, बैंकिग समामेलनों, नौपरिवहन-गुटों (shipping wings) और रेल समामेलनों का प्रादुर्भाव हुआ और हर दिशा में उत्पादन की बड़ी इकाइयों के निर्माण को तीव्र प्रोत्साहन मिला।

उत्पादन में एकाधिकार की प्रवृत्ति के कारण मजदूर संगठनों को भी प्रोत्साहन मिला। श्रमिक संघ आन्दोलन शक्तिशाली बन गया और उसके रूप को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त हुई।

कारखाना पद्धति का मंद विकास

ऊपर दिए गए अनेक अन्वेषणों के होते हुए भी इंगलैंड में संगठन की कारखाना पद्धति बहुत धीरे-धीरे विकसित हुई। इसके धीमे विकास के अनेक कारण हैं।

(१) लोग अपने पारिवारिक व्यवसाय को नहीं छोड़ना चाहते थे। जब तक कि घरों में कार्य होता था परिवार की सम्पूर्ण आय एक स्थान पर एकत्र होती थी; माता, पिता और बच्चे एक साथ काम करते थे। यद्यपि हर परिवार में काम की दिशा आदर्श ढंग से अच्छी नहीं होती थी तथापि परिवार की आय के एकत्रीकरण के कारण हर व्यक्ति को बीमा जैसी सुरक्षा प्राप्त रहती थी। और इसलिए कारखानों में काम करने के लिए लोग आसानी से नहीं मिलते थे। आयरलैंड से बड़ी संख्या में लोग इंगलैंड आए क्योंकि वहाँ जनसंख्यातिरेक (over-population) था। उस काल में प्रकाशित राजकीय प्रतिवेदनों (official reports) से यह पता चलता है कि कारखानों में भरती करने में बड़ी कठिनाई होती थी। साथ ही आवास की समस्या भी प्रबल थी, नगरों में जनसंख्यातिरेक था और कारखानों में लोगों के काम के घंटे लम्बे और अनियमित थे। इसके प्रतिकूल परिवारों में काम के घंटे इतने लम्बे और अनियमित नहीं थे। कारखाने में काम रुचि के अनुसार मिलना अनिवार्य न था वरन्

मजदूरों का शोषण किया जाता था। इन कारणों से परिवार स्तर पर कार्य पद्धति को लोग सरलता पूर्वक नहीं छोड़ना चाहते थे।

(२) बहुत से मालिक लोग भी कारखाने में उत्पादन को संगठित करने के पक्ष में पूर्णतः नहीं थे। कोई भी मालिक प्रचलित पद्धति को आसानी से नहीं बदलना चाहता था जिसमें थोड़ी पूँजी लगती थी और कोड़े के बल पर मजदूरों से वह काम लेता था क्योंकि दूसरी पद्धति के अन्तर्गत यंत्र, कोयला, रोशनी, शक्ति आदि बड़ी मात्रा में लगाने पड़ते थे। कारोबार की बड़ी इकाई में जोखिम भी ज्यादा था। यंत्र और शक्ति ऊंची कीमतों पर प्राप्त होती थी और अन्य दिशाओं में सुधार होने पर ही उनकी उपयोगिता सार्थक होती थी।

(३) जनसंख्या वृद्धि के कारण कारखानों में काम करने के लिए मजदूर मिलने लगे थे और मेहनत बचाने वाले यंत्रों का उपयोग न होने का यह एक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है। मृत्यदर में कमी, उन्नत चिकित्सा सुविधाओं, अच्छे भोजन और गोश्त की उपलब्धि, विवाह में वृद्धि और अनिवार्य अपरेंटिसशिप पद्धति की समाप्ति (जो कि विवाह में रुकावट था) के कारण जनसंख्या में वृद्धि हुई। कारखानों में स्त्रियों और बच्चों को भी काम दिया जाता था।

(४) यंत्रों की कमी और उनकी असंतोषप्रद कुशलता के कारण कारखाना उत्पादन पद्धति में रुकावट पड़ी। सूती वस्त्र उद्योग की मुख्य प्रक्रियाओं में इस पद्धति के उपयोग में सत्तर वर्ष लगे, और लोहा इंजीनियरिंग और कोयला उद्योगों में तो परिवर्तन और भी मंद था जिसमें सम्पूर्ण अट्ठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी के तीन दशक का समय लग गया। उदाहरणार्थ पहले लकड़ी या लकड़ी के कोयले से लोहा पिघलाया जाना; लकड़ी का अकाल पड़ना; १७५० में लोहे के कारखानों का लकड़ी प्राप्त होने के स्थानों और कोयले की खानों के पास स्थापित होना; कोयले के उत्पादन तथा प्रसार में समय लगना और कोयला उद्योग का विकास गति पानी निकालने की कठिनाई के कारण मंद होना जिसे न्यूकोमेन के इंजन द्वारा दूर किया गया। स्पष्ट है, इन प्रविधियों के सफलतापूर्ण विकास में बहुत अधिक समय लगा। कोयला परिवहन की भी समस्या थी जो भाप के इंजनों की सहायता से बाद में किया जाने लगा। कारखानों के मंद विकास का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण तो यह था कि यंत्रों की कमियां और त्रुटियाँ उनके कुछ दिनों तक उपयोग तथा कार्य के बाद पता चलती थीं और उसको परिमार्जित करने और सामान्य उपयोग के लिए बाजार में लाने में काफी समय लगता था।

(५) अनेक उद्योगों में जहां उत्पादन की कारखाना पद्धति का उपयोग हो भी रहा था वहाँ मजदूर यंत्रों की सहायता से काम नहीं करना चाहते थे क्योंकि यंत्र

टूटने का डर रहता था। इसके अतिरिक्त बलवों की सम्भावना भी थी और कारखानों में सामान्य वातावरण बड़ा नीरस रहता था।

इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति पहले क्यों आई ?

कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि अन्य देशों की तुलना में इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति पहले क्यों आयी। इंगलैंड की जनसंख्या (१७८०-१७६० के बीच) ६० लाख थी जब कि फ्रांस की जनसंख्या १७८६ में २६० लाख थी और इसलिए फ्रांस बड़ी मात्रा में निर्मित वस्तुओं की खपत के लिये अच्छा बाजार था। फ्रांस के पास भी पूँजी थी, उसका निर्यात और आयात इंगलैंड की तुलना में अधिक था, उसका औपनिवेशिक व्यापार विस्तृत था और उपनिवेशों द्वारा निर्यातित वस्तुओं का पुनः निर्यात योरोप के अन्य देशों में करता था। परन्तु फ्रांस की इन सुविधाओं के साथ-साथ कुछ ऐसे अन्य लक्षण थे जिनके कारण इंगलैंड में क्रान्ति पहले आयी।

फ्रांस की तुलना में इंगलैंड में उधारदेय पूँजी की बहुतायत थी। यह पूँजी इंगलैंड को अन्य देशों के साथ व्यापार से बैंक आफ इंगलैंड की सहायता से प्राप्त हुई थी। लोग बचाते थे और पूँजी निर्माण की दर ऊँची उठती जा रही थी। बड़ी संख्या में लोगों की आय उनके उपभोग की आवश्यकताओं से अधिक थी। देश में राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिरता थी और इसलिए उनको आशा थी कि उनकी बचाई हुई पूँजी के विनियोग पर भविष्य में अच्छी आय होगी। आय में असमता बढ़ गयी थी और इसलिए पूँजी निर्माण प्रचुर मात्रा में हुआ। राष्ट्रीय ऋण के कारण भी निर्धन लोगों का द्रव्य धनी लोगों के पास चला जाता था। वाणिज्य बैंकों ने उद्योगों से बचत संग्रह करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। १७६३ में ४०० जिला बैंक (County Bank) थे। इनकी संख्या १८१५ में ६०० हो गई। ये बैंक हर स्थान से धन एकत्र करते थे और उसे वे लंदन मुद्रा बाजार में स्थानान्तरित करते थे। यहां से व्यापार और उद्योग की विभिन्न शाखाओं में यह धन पुनः कार्यकर पूँजी (working capital) के रूप में वितरित किया जाता था। उस समय इंगलैंड में कुछ विदेशी पूँजी विनियोजन भी होता था और इसके द्वारा अच्छी आय और लाभ की सम्भावना थी। रेल और भाप के जहाजों के विकास के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मध्य श्रेणी के पूँजी विनियोक्ता बाजार में आए। उन्नीसवीं शताब्दी में कई अधिनियम पास किए गए जिससे सीमित दायित्व वाली संयुक्त पूँजी कम्पनियों के लिए उपयुक्त कानूनी ढाँचा मिल गया, जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें अपना कारोबार संचालित करने के लिए पूँजी प्राप्त हो सकी।

GREAT BRITAIN

SCALE
0 25 50 75 100 MILES

COAL MINES
IRON ORE AREAS

NORTH SEA
SCOTLAND
ABERDEEN
DUNDEE
PERTH
TO COPENHAGEN
EDINBURGH
PAISLEY
GLASGOW
TO HAMBURG
NEW CASTLE
N. IRELAND
BELFAST
E
STOCKTON-ON-TEES
N
TO OSLO
IRISH SEA
BRADFORD
LEEDS
HULL
PRESTON
TO HAMBURG
BOLTON
MANCHESTER
GRIMSBY
TO DUBLIN
LIVERPOOL
G
SHEFFIELD
TO ROTTERDAM
CHESTERFIELD
NOTTINGHAM
DERBY
L
NORWICH
WALES
BIRMINGHAM
A
SWANSEA
LONDON
CARDIFF
N
BRISTOL
DOVER
TO NEW YORK
SOUTHAMPTON
D
PLYMOUTH
ENGLISH CHANNEL
TO MONTREAL
TO CAPE TOWN

अंग्रेजों की आबादी आरम्भ में इतनी कम थी कि वह हाथ के काम से विदेशों की तैयार माल की बढ़ती माँग को पूरी नहीं कर सकती थी। अतएव इंगलैंड ने आबादी की पूर्ति यंत्रों से की। उद्योगों की बढ़ती हुई संख्या के कारण श्रमिकों की माँग बढ़ रही थी इससे श्रमिकों की कमी हो गई थी।

औद्योगिक क्रान्ति के पहले कारीगरों और कुशल श्रमिकों की तो बहुतायत थी पर साथ ही सामान्य श्रमिकों की कमी भी थी। सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड ने योरोप के सर्वाधिक कुशल लोगों और कारीगरों को अपने यहाँ आकर्षित किया। शायद ही कोई उद्योग हो जिसने कि विदेशों से आए कुशल कारीगरों के ज्ञान का भरपूर लाभ न उठाया हो। इंगलैंड के पास लोहे और कोयले के बड़े साधनों की सुविधा थी। वह अन्वेषणों के क्षेत्र में अग्रणी था। उसके पास जल मार्गों और सड़कों की व्यवस्था थी जिससे सस्ता यातायात होता था। ब्रिटिश माल के लिए व्यापक विदेशी बाजार थे। इन बाजारों को ब्रिटिश माल सरलता से पहुँचाने में अंग्रेजी जहाजी साधन पूर्णतः निपुण थे। ग्रेट ब्रिटेन की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी जिससे वह संसार के किसी भी बाजार में माल बेंचने में असाधारण रूप से सुविधाजनक स्थिति में था। अंग्रेज व्यापारियों को एक सुविधा यह भी थी कि वे किसी भी शुल्क पद्धति (tariff barrier) से मुक्त थे। वहाँ आन्तरिक शान्ति भी थी जो कि अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में योरोप के अन्य देशों को प्राप्त नहीं थी।

आर्थिक और सामाजिक प्रभाव

(१) औद्योगिक क्रान्ति का प्रथम तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि इससे आश्चर्यजनक सम्पत्ति वृद्धि हुई, यद्यपि इसके फल जनता के एक वर्ग विशेष को ही अत्यधिक प्राप्त हुए। आर्थिक शक्ति नए लोहे के बड़े उद्योगपतियों और सूती कारखानों के उद्योगपतियों के हाथ केन्द्रित हो गई। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत तक उद्योगपतियों की शक्ति अत्यधिक बढ़ गई और इस शक्ति का मूल यंत्रों की उत्पादक और प्रति-स्पर्धात्मक योग्यता थी।

(२) ग्रेट ब्रिटेन में नए उद्योग बढ़े और वह बड़ी मात्रा में उत्पादन के लिए संघटित हो गया। इससे उत्पादन लागत में कमी हुई। कहा जाता है कि एक पौंड सूती तागे की लागत १८८२ में १७७९ की अपेक्षा केवल पचासवाँ भाग रह गई। एक पौंड सूत का दाम १७८६ में ३६ शिलिंग से गिर कर १८३२ में २ शिलिंग ११ पेंस रह गया। इससे सूत और कपड़े की माँग बढ़ी जिसके फलस्वरूप बड़ी मात्रा में उत्पादन को प्रोत्साहन मिला।

(३) इससे वाणिज्य में तीव्र परिवर्तन हुआ। ग्रेट ब्रिटेन विदेशी बाजारों के लिए माल तैयार करता था और वह न केवल बड़ी मात्रा में उत्पादन के लिए संगठित हुआ वरन् विश्वव्यापी आधार पर विनिमय और वाणिज्य के लिए सुसंगठित था। वह अभूतपर्व रूप में कच्चे माल, जैसे कपास और ऊन के लिए विदेशों पर निर्भर था। साथ ही साथ माल की बिक्री के लिए भी वह विदेशों पर निर्भर हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वह खाद्यान्नों की पूर्ति के लिए दूसरे देशों पर आश्रित था और इसका भुगतान कोयला, तैयार माल, जहाजी यातायात और आर्थिक सेवाओं के द्वारा किया। १७६० और १८५० के बीच इसके आयात में लगभग बारह गुनी और निर्यात में तेरह गुनी वृद्धि हुई।

औद्योगिक क्रान्ति बहुत कुछ वाणिज्य क्रान्ति के लिए उत्तरदायी थी। यद्यपि कुछ इतिहासकारों ने इसका बराबर श्रेय फ्रांसीसी क्रान्ति को भी दिया और इस तरह उन्होंने इसके योरोपीय या विश्वव्यापी आर्थिक प्रभावों का अलग से मूल्यांकन करने में कठिनाई उत्पन्न कर दी। श्रीमती एल० सी० ए० नोल्स का मत था कि उन्नीसवीं शताब्दी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के फ्रांसीसी विचारों और अंग्रेजी विधि के जोड़ तोड़ का परिणाम थी। ग्रेट ब्रिटेन ने अट्ठारहवीं सदी में वाष्प शक्ति का सफलता पूर्वक विकास किया, जबकि फ्राँस से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के वे विचार फैले जिन्होंने विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रीतियों के उपयोग से तथा वाष्पचालित इंजन और यंत्रों के सहयोग से योरोप की और योरोप के माध्यम से सारे संसार की अर्थव्यवस्था को बदला।

वाष्प शक्ति जलवायु और भौगोलिक स्थिति से स्वतंत्र थी। उसे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति में भिन्न-भिन्न विधियों से काम में लाया जा सकता था। इससे खदानों का पानी खींचा जा सकता था, यंत्र चलाए जा सकते थे, सुरंगे बनाई जा सकती थीं, बांध, जहाज माल का यातायात, समुद्र, रेगिस्तान और पहाड़ों को पार करने के काम में लाया जा सकता था। यह ऐसी शक्ति थी जो किसी भी देश में काम में लायी जा सकती थी। वाष्प शक्ति के अन्वेषण के पहले मनुष्य प्राकृतिक शक्ति के सामने असहाय सा था। वाष्प चलित इंजन ने उसे बाधाओं को पार करने में सहायता पहुँचाई और वह मनुष्य द्वार प्रकृति पर नियंत्रण करने में बहुत सहायक हुआ। उसी तरह फ्रांसीसी क्रान्ति का भी मानव जाति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। फ्रांसीसी क्रान्ति के विचार "स्वतंत्रता, समानता एवम् बन्धुत्व" शब्दों में निहित हैं।

(४) क्रान्ति ने नए औद्योगिक जिलों और शहरों का निर्माण किया। यद्यपि कृषि अब भी एक महत्वपूर्ण उद्योग था परन्तु औद्योगिक दृष्टि से इसका द्वितीय स्थान ही रहा। १८२१ में कृषि में ३३ प्रतिशत लोग और उद्योग में ४६ प्रतिशत लोग

लगे थे। १८५१ में केवल २१ प्रतिशत लोग कृषि में लगे थे तथा उद्योगों में लगे लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। केवल एक ही उद्योग, कपड़ा कारखानों, में १८५१ के समस्त कार्यशील लोगों (total occupied population) के ११ प्रतिशत लोग लगे थे। १७०० में सबसे अधिक आबादी वाले जिले मिडिलसेक्स, समरसेट, डेवन, वेस्टराइडिंग, लिंकनशायर और नारफोक थे। १७५० में दक्षिणी भाग इंगलैंड का सबसे धनी हिस्सा था। नारफाक, सफाक और पश्चिमी इंगलैंड के जिले सबसे अधिक माल तैयार करने वाले जिले थे। १८०० में लंकाशायर और वेस्टराइडिग सबसे अधिक आबादी वाले जिले हो गए। कोयले और लोहे के विकास के कारण नए जिले बने और ग्लासगो तथा पेसले (Paisley) के आस पास सूती कारखाने खड़े हो गए। १७५० में साउथ वेल्स में आबादी शुरू हुई और वह एक महत्वपूर्ण लोहा तैयार करने वाला केन्द्र बन गया। थोड़े ही समय में स्टेफर्डशायर, वारविकशायर, लंकाशायर, यार्कशायर, मिडिलसेक्स, लीड्स, फडर फील्ड, ब्रेडफार्ड, आदि महत्वपूर्ण औद्योगिक जिले प्रसिद्ध हो गए। शहरों का विकास भी हुआ। कोयले और लोहे के क्षेत्रों में बसे लोगों और नई नहरों ने उन्हें खाना और ईंधन पाने में सहायता की। इसके फलस्वरूप शहर बसे। उद्योग के पुराने केन्द्र कम महत्त्वपूर्ण हो गए। १७५० के पहले वे स्थान जैसे बरमिंघम, लिवरपूल, मैंनचेस्टर, ग्लासगो और लीड्स साधारण से करबे थे, अब महत्वपूर्ण शहर हो गए।

(५) औद्योगिक क्रान्ति ने घरेलू धंधे तोड़कर उनके स्थान में कारखाना पद्धति से उत्पादन को बढ़ावा दिया। घर में सादे औजारों से काम करने और साथ ही खेती का धंधा चलाने के स्थान पर नई औद्योगिक व्यवस्था ने पूँजी और श्रम को नवीन औद्योगिक इकाई में बांधा जिसमें पानी और वाष्प शक्ति का उपयोग हुआ। नवीन यंत्र बहुत मंहगे थे और उन्हें सामान्य मजदूर या कारखानेदार खरीद नहीं सकता था। शक्ति के उपयोग ने काम करने वालों को एक इमारत में जमा करना आवश्यक कर दिया। जिन परिस्थितियों के अन्तर्गत मजदूरों को उद्योग मालिक के सीधे अनुशासन में काम करना था वे घरेलू व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन से भिन्न थी। मजदूर कारखाने का काम कृषि के साथ-साथ नहीं कर सकते थे। उन्हें प्रातः काल अपना घर छोड़ना पड़ता था और रात्रि में देर से वापस होते थे। अधिकतर वे विभिन्न कारखानों में काम करते थे। वे यंत्रों को चलाने वाले हो गए अतएव उनकी सेवाएँ यंत्रों की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण हो गई। बहुत सी स्थितियों में काम पूर्णतः नीरस हो गया था।

(६) मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने से मजदूर अनिश्चित और घट-बढ़ी वाले बाजार पर ऐसे समय आश्रित हुए जब कि सम्पत्ति वृद्धि और

पूंजी संग्रह उद्योग का चरम लक्ष्य समझा जाता था और निजी पूंजी सम्बन्धी असीमित अधिकारों को उस समय के जीवन दर्शन का समर्थन प्राप्त था। निजी सम्पत्ति रखना और उसका विस्तार करना स्वाभाविक नियम समझा जाने लगा था। इसके परिणाम स्वरूप आय में असमानता को सामान्य और मानव स्वभाव के अनुरूप माना जाता था। समृद्धि के लिए असमानताओं को आवश्यक समझा गया और मानव क्रियाशीलता के लिए प्रेरक भी। इस सिद्धान्त का परिणाम यह हुआ कि इससे उन्नीसवीं शताब्दी की महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं का उदय हुआ। यद्यपि धन का बुरा और असमान वितरण रहा तथा यह वर्ग विशेष के हाथों ही केन्द्रित हुआ। अन्त में नवीन औद्योगिक व्यवस्था से मजदूरों को ही लाभ हुआ। प्राचीन युगों में जो विलास सामग्रियाँ राजाओं को प्राप्त थीं वे मजदूर घरों में सुविधा का अंग बन गई। उदाहरणार्थ सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में मजदूर वर्ग में थोड़े ही जन मोजे आदि ऐसी सामग्री प्रयोग करते थे। अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में वे सब के लिए सामान्य आवश्यक वस्तुएँ हो गईं। जो बात मोजों के लिए है वही सामान्य आवश्यकता की दर्जनों वस्तुएँ के लिए समान रूप से लागू है।

(७) प्रत्येक विधि से जिसके अनुसार मनुप्य या मनुष्यों के समूह को यंत्र से काम करना था किसी न किसी उद्योग में अस्तव्यवस्तता उत्पन्न हुई। इसके फलस्वरूप बहुत से लोग बेकार भी होने थे यद्यपि लम्बी अवधियों में परिस्थितियों में सुधार हुआ परन्तु कुछ तात्कालिक गम्भीर समस्याएँ तो उठ खड़ी हुई। उस समय कोई भी महत्वपूर्ण अन्वेषण उसके अन्वेषक के लिए मजदूर वर्ग द्वारा अभिशाप का कारण बन जाता था। हारग्रीव्ज को एक बार हिंसक भीड़ ने घेर लिया और उसे लंकाशायर से नाटिंघमशायर जाने को बाध्य किया जहाँ वह सुरक्षा पूर्वक स्पिनिंग जेनी को लगा सका। कई स्थानों पर उपद्रव हुए जिनमें हिंसक भीड़ ने मशीनों को तोड़-फोड़ डाला। इस प्रकार के प्रदर्शन दूसरे महत्वपूर्ण उद्योगों में भी होने लगे।

(८) क्रान्ति का प्रभाव महिलाओं और बाल मजदूरों पर अपूर्व बोझ के रूप में पड़ा। चूंकि महिलाओं और बच्चों को पुरुषों की अपेक्षा कम मजदूरी पर काम में लगाया जा सकता था, मालिक पुरुषों को काम से अलग करने लगे थे और उनके स्थान पर महिलाओं और बच्चों को काम देने लगे थे। इसके परिणाम स्वरूप सामान्य परिवारिक सम्बन्ध बहुत असंतुलित होने लगे थे।

(९) यह सत्य है कि कारखाने की घंटी और मालिक के कठोर निरीक्षण और अनुशासन के अन्तर्गत काम करने के प्रति मजदूरों में अरुचि बढ़ी। फलतः वे कारखानों में काम करने के लिए उत्साहित नहीं थे। बच्चों की स्थिति दयनीय थी। विवाहित महिलाओं के जीवन पर बरा प्रभाव पड़ा क्योंकि विभिन्न कारखानों और क्षेत्रों में

काम करने के कारण वे अपने पतियों से विलग हो गई थीं। औद्योगिक दुर्घटनाएँ अधिक होती थीं। काम के घंटे अधिक थे। पर यह सब कठिनाइयाँ बहुत सीमा तक अस्थायी थीं। यह आवश्यक नहीं है कि यह कारखाना पद्धति उत्पादन में निहित ही हों। उनका बहुत कुछ कारण युग के दोषपूर्ण सामाजिक विचारों में था। समाज को सस्ती और प्रचुर सामग्री उपलब्ध होने से स्थायी लाभ ही हुआ। क्रान्ति के विभिन्न प्रभावों के सफल संचालन के लिए समय और धैर्य की ही आवश्यकता थी।

मजदूर वर्ग को तात्कालिक और अधिक लाभ होता पर इसमें विलम्ब का कारण यह था कि औद्योगिक क्रान्ति ने पहले पूँजीगत सामग्री और यंत्र तैयार किए और जीवन की दो महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ खाद्यान्न और आवास को बहुत देर में सुलभ किया। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में जो यांत्रिक परिवर्तन हुए, उनसे मजदूरों के खाद्य और आवास की दृष्टि से तत्काल जीवन स्तर में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। इसमें संदेह नहीं कि खाद्य सस्ता था पर खाद्य के मुक्त व्यापार का पूर्ण प्रभाव १८६० तक नहीं पड़ा। कृषि क्षेत्र में भरपूर यंत्रीकरण अग्रिम वर्षों में ही हुआ है। यही स्थिति आवास के सम्बन्ध में भी थी। आवास स्थितियाँ बहुत काल तक बहुत ही असंतोषजनक थी। मजदूर वर्ग की आय का बहुत बड़ा भाग किराए में ही चला जाता था। इस कारण बहुत से लोगों का यह विश्वास हो गया कि जहाँ तक मजदूर वर्ग का सम्बन्ध था औद्योगिक क्रान्ति के लाभ बहुत बढ़ा चढ़ाकर बताए जाते हैं।

इस विचार में कि अत्यधिक औद्योगीकरण और संकुचित विशेषीकरण में लाभ ही लाभ हैं, संदेह किया जाने लगा। अब यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि अत्यधिक विशेषीकरण से राष्ट्र के जीवन पर उतना ही घातक और हानिकर प्रभाव पड़ा जितना कि किसी व्यक्ति पर पड़ा। सांस्कृतिक दृष्टि से विनिमय शक्तियों की अपेक्षा उत्पादक शक्तियाँ अधिक महत्वपूर्ण थीं।

(१०) कारखाना प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादन से जिस प्रतिस्पर्धा और व्यक्तिवाद का उदय हुआ वह मजदूर वर्ग के लिए कई प्रकार से बुरा था पर उसका उन पर कुछ अनुकूल सामाजिक प्रभाव भी रहा। वस्त्र और जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्रचुर और सस्ती हो गई। धीरे-धीरे उन्हें हवा और रोशनीदार कारखाने भी मिल गए। यह उनकी झोपड़ियों से निश्चय ही अच्छे थे। उनका वेतन भी बढ़ गया था काम के घंटे नियमित थे। बहुत से ऐसे कानून भी बन गए थे जिनसे बच्चों और स्त्रियों की नौकरी और काम करने की दशाओं में सुधार हो गया था।

(११) क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण प्रभाव पूँजी और मजदूरी के बीच सम्बन्धों पर पड़ा अर्थात् मालिक और मजदूर सम्बन्ध। नए प्रकार के औद्योगिक उत्पादन के लिए

भारी परिमाण में पूँजी की आवश्यकता थी और चूँकि पूँजी नए समाज का सबसे महत्व-पूर्ण अंग थी अतएव यह आलोचना और प्रहार की वस्तु बन गई थी। मजदूर अब अपने मालिक पर निर्भर था और एक नवीन धनवान वर्ग बढ़ रहा था। वर्गवाद के प्रति सजगता बढ़ी और श्रम संघों की स्थापना हुई। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में संघों का संख्या और सदस्यता दोनों की दृष्टि से विकास हुआ। आरम्भ में उनका उद्देश्य काम के उपयुक्त अथवा सीमित घंटे निर्धारित कराना था। शासन वेतन और काम के घंटों को निर्धारित करने के लिए तैयार था और इस प्रकार जब मजदूर संघों को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ तब उन्हें कानून के द्वारा निषिद्ध कर दिया गया। इसके फलस्वरूप औद्योगिक विवाद बढ़ने लगे और इनसे हड़तालें और ताले-बन्दियाँ होने लगीं।

(१२) आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के विकास से मंदी और तेजी तथा व्यापारिक चक्र औद्योगिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग बन गए। पूँजी लगाने के स्तर में उतार चढ़ाव, बचत और पूँजी लगाने के बीच अन्तर, बढ़ती बेकारी, चढ़ती तेजी जिसमें ब्याज की दर कम और पूँजी लगाने में चढ़ाव, मंदी के समय ब्याज की ऊँची दर और पूँजी लगाने की प्रवृत्ति में उतार, आदि का दौर दौरा होता रहता था। मंदी और गिरते मूल्यों की परिस्थिति में बेकारी बढ़ती थी और निर्यात घटता था। मनोवैज्ञानिक कारण, युद्ध, अच्छी और खराब फसलें, बचत तथा विनियोग में असंतुलन वाणिज्य चक्रों के उतार चढ़ाव पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते थे। औद्योगिक क्रान्ति के पहले उद्योग बहुत कुछ संतुलित था। पर उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से औद्योगिक गति-विधियों में नियमित रूप से उतार चढ़ाव होने लगा। तेजी से मंदी और मंदी से तेजी फैलती थी। इनसे निम्न संकट उत्पन्न होते थे: (क) औद्योगिक—क्योंकि उद्योग पर इसका कड़ा और गहरा धक्का लगता था, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय—क्योंकि समस्त संसार एक दूसरे से सम्बद्ध था, और (ग) सामयिक—क्योंकि वे दस ग्यारह वर्षों के बीच नियमित रूप से होते थे।

ऊपर जिन बहुत से घटनाक्रमों पर विचार हुआ है वे औद्योगिकता और औद्योगिक क्रान्ति के कार्य और कारण दोनों थे। उदाहरण स्वरूप विदेशी वाणिज्य का विकास, अन्वेषण, तैयार माल की माँग और पूर्ति, पूँजी में वृद्धि, औद्योगिक जिलों और शहरों का उदय, नए उद्योगों के उदय आदि से न केवल औद्योगिक विकास और कारखाना प्रणाली उत्पादन को प्रोत्साहन मिला पर ये सब क्रान्ति के दूरगामी और तात्कालिक परिणाम भी थे।

औद्योगिक क्रान्ति के बारे में यह कहा जाता है कि वह १८५० में पूरी हो चुकी थी। इसके बाद यद्यपि परिवर्तन होते रहे, अन्वेषण भी हुए पर उनका इतना आश्चर्य-

जनक प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि क्रान्ति का पड़ा था। उदाहरण स्वरूप बिजली एक महान् प्रगति थी जो कि बाद में आई और इसकी तुलना वाष्प से की जा सकती है। पर वाप्प के अन्वेषण का बिजली के अन्वेषण से भिन्न ही प्रभाव पड़ा। बाद में जो अन्वेपण हुए वे व्यावसायिक ही थे। क्रान्ति के बाद हर एक बड़ा कारखाना या कम्पनी वैज्ञानिकों को अपने यहाँ रखने लगे जो कि उद्योग के हित में सामान्य और विशिष्ट खोजें करें। नए कच्चे माल की निरन्तर खोज होने लगी। कई प्रकार का कपास पैदा किया जाने लगा। इस दृष्टि से हेर-फेर या परिवर्तन अभी भी दोष रहित नहीं है। दह कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता है। आधुनिक ब्रिटिश विचारों और १८०० के विचारों में इस प्रकार एक चौड़ी और गहरी खाई हैं। वर्त्तमान काल में तो सबके लिए उत्तम जीवन का अधिकार मुक्त रूप से स्वीकार किया जाता है। उद्योग और वाणिज्य में मानवतावादी वृत्तियों का विकास हुआ है। आरम्भ में कारखानों के अन्तर्गत मजदूरों की जो दुरावस्था थी वह बहुत कुछ दूर हुई है। हर एक को —सामाजिक जीवन, सार्वजनिक स्वास्थ आदि शिक्षा सामान्य सुविधाएँ सुलभ की गईं हैं। वृद्धावस्था और अशक्तता का दायित्व राज्य के कंधों पर डाला गया है।

अध्याय ५

यातायात और वाणिज्य में क्रान्ति

रेलों और वाष्प शक्ति से चलने वाले जहाजों के आगमन से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का स्थान विश्व-अर्थव्यवस्था ने ग्रहण कर लिया। इसका सामान्य परिणाम यह हुआ कि संसार में परस्पर निर्भरता एवम् प्रतिद्वंदिता बढ़ गई। यांत्रिक यातायात ने राज्यों में वाणिज्य और उद्योग सम्बन्धी क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इससे वस्तुओं और व्यक्तियों के आवागमन में नवीन गति आ गयी। रेलों को बनाने और उन्हें नियंत्रित रखने की राष्ट्रीय नीतियों पर प्रभाव पड़ने लगा। वाणिज्य वस्तुओं और वाणिज्य संगठन में भी क्रान्ति आयी। एक नवीन वित्तीय युग का उदय हुआ। इनके सामाजिक परिणाम दूरगामी थे। नवीन व्यक्तिगत गतिशीलता से शहरों का विकास हुआ। यातायात मजदूरों का एक नया वर्ग बन गया। दूकानदारों और वाणिज्य करने वालों का भी वर्ग बन गया। नवीन व्यवस्था में स्त्रियों की स्थिति में तीव्र परिवर्तन हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उत्प्रवासन और आप्रवासन की महत्वपूर्ण समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। इस तरह की समस्याओं के सम्बन्ध में सरकारी नीतियों पर भी प्रभाव पड़ा।

यातायात के साधन

औद्योगिक परिवर्तनों के सभी चरणों पर यातायात और संचार व्यवस्था के सुधार का प्रभाव पड़ा। नौपरिवहन के आरम्भिक विकास के फलस्वरूप व्यापारियों के लिए एशिया, अफ्रीका और अमरीका जैसे दूर देशों के बाजार खुल गए। सड़कों और जल यातायात से देश के बाजारों में भरपूर पहुँच हो सकी। जब रेलों और वाष्पचालित जहाजों का बहुत विकास हुआ तब इससे दूरी घट गई। महाद्वीपों तक पहुँच बढ़ गई और संसार के विभिन्न भागों से संचार व्यवस्था जुड़ गयी। वायुयान और मोटरों ने विकास को और भी आगे बढ़ा दिया जो कि उन्नीसवीं शताब्दी में सम्भव नहीं था।

यातायात और संचार व्यवस्था के हर सुधार ने न केवल इंगलैंड की औद्योगिक, वाणिज्य और वित्तीय व्यवस्था को वरन् योरोप और सारे संसार को भी प्रभावित किया। इसने बाजार का क्षेत्र विस्तृत कर दिया। वस्तुओं का वितरण बढ़ा दिया

तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को और भी तीव्र कर दिया। अतएव एक विश्व अर्थव्यवस्था का उदय हुआ जिसने अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा बढ़ाई तथा राष्ट्रीयता के अपकेन्द्रीय बल (centrifugal force) के लिए संकट पैदा किया। इस तरह वाणिज्य क्रान्ति का उदय हुआ।

हम यातायात को सामान्यतः दो भागों में विभक्त करेंगे :- (१) सड़कें और नहरें; (ख) रेलें और जहाज।

सड़कें. सड़क इंगलैंड की सबसे प्राचीन यातायात व्यवस्था थी। मध्य-काल में सड़कों की बहुत कुछ अच्छी स्थिति थी पर कालान्तर में उनकी दशा बिगड़ गई और वे वृद्धिशील व्यवसाय की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अपर्याप्त थीं। सोलहवीं शताब्दी में कुछ व्यक्तियों और ग्राम निवासियों ने सड़क सुधार में रुचि ली पर उनके साधन बहुत सीमित थे और उन्होंने अनमने ढंग से ही काम किया। एक प्रचलित प्रथा यह थी कि गाँव के निवासियों को अपने गाँव के निकट से जाने वाली सड़क को ठीक रखने के लिए अनिवार्यतः ६ दिन श्रम करना पड़ता था। उन्हें यह काम १७५५ के कानून के अन्तर्गत करना पड़ता था। सड़कों की दशा बिगड़ती ही गयी। ऐसी स्थिति में सड़क से यात्रा अधिकतर घोड़ों पर की जाती थी और माल भी घोड़ों पर ही ढोया जाता था। यातायात मँहगा, अरक्षित और अपर्याप्त था। सड़क यातायात में नीचे लिखे कारणों से सुधार करना अत्यन्त आवश्यक समझा गया : (क) डाक विस्तार और सामयिक राजनीतिक आवश्यकताएँ, (ख) जिलों में औद्योगिक विस्तार और शहरों का विकास, (ग) ऊन उद्योग और भेड़ पालन का विकास।

सत्रहवीं शताब्दी में सड़कें बनाने और उन्हें अच्छी दशा में रखने की समस्या टर्नपाइक दलों द्वारा हल हुई। कुछ व्यक्ति मिलकर ऐसा एक दल बना लेते थे जिसे संसद द्वारा रुपया उधार लेने की स्वीकृति मिल जाती थी। यह दल सड़कें बनाते और उनकी मरम्मत करते थे। साथ ही सड़क उपयोग करने वालों से कर वसूलते थे। पहला टर्नपाइक कानून १६६३ में बना पर यह प्रणाली अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में ही लोकप्रिय हो सकी और इसके अन्तर्गत कुछ अच्छी सड़कें बनीं जिनका नियंत्रण भी हुआ। सर्वप्रथम टर्नपाइकों को २१ वर्ष की कार्यावधि मिली। इसके बाद नया कानून बनाना पड़ा। टर्नपाइक व्यवस्था के प्रोत्साहन के लिए सरकार ने १७७३ और १८२१ में कानून बनाए।

सड़कों की उपेक्षा का मुख्य कारण अंशतः सड़क निर्माण कला का अज्ञान और अंशतः सड़क प्रशासन नियंत्रण की दोषपूर्ण व्यवस्था थी। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में सड़क निर्माण कला का पुनरुद्धार हुआ। टेलफोर्ड और मैकाड्म दो स्काट

इंजीनियरों ने ब्रिटिश सड़कों को बदलने के लिए कठिन परिश्रम किया। धीरे-धीरे उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक सड़क बनाने के ट्रस्ट समाप्त हो गए। आखिरी ट्रस्ट १८९५ में समाप्त हुआ। गाँव में अनिवार्यतः श्रम से सड़क बनवाने वाला कानून हाईवे ऐक्ट भी १८३५ में समाप्त कर दिया गया। सड़क प्रशासनों को कर वसूलने का अधिकार दे दिया गया। धीरे-धीरे प्रशासन इकाई क्षेत्र बढ़ा दिया गया। १८८९ के बाद जिला परिषदों ने मुख्य रेलों का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया। गाँव की कम महत्वपूर्ण सड़कों का प्रशासन सड़क प्रशासन परिषदों को सौंप दिया गया। ऐसे प्रशासन परिषदों की संख्या भी कम कर दी गयी। १९१० में एक केन्द्रीय सड़क कोष (Central Road Fund) स्थापित किया गया। इसकी आय मोटर-कर से होती थी। इस आय से स्थानीय संस्थाओं को सड़क सुधार के लिए अनुदान दिया जाता था।

रेल युग के आगमन से सड़कों की महत्ता बहुत घट गयी। वे रेलों की अल्प सहायक मात्र ही रह गयीं। पुनः मोटरकार के आगमन से सड़क यातायात में नए परिवर्तन आरम्भ हो गए और कुछ ही वर्षों में सड़क निर्माण कला में उल्लेखनीय प्रगति हुई।

नहरें. औद्योगिक क्रान्ति में नहरों का भी बड़ा हाथ है। उनसे सस्ता और सरल यद्यपि धीमा यातायात सुलभ हुआ। यातायात सुविधा के दृष्टिकोण से नहरों की तुलना सड़क यातायात से करना निर्मूल ही होगा क्योंकि नहर यातायात अत्यधिक लाभजनक था। इंगलैंड ने अपनी नहरों का विकास अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नहीं किया था यद्यपि वह लम्बी समुद्र सीमा और अनेक नौगम्य (navigable) नदियों से भरपूर था।

पहली नहर १७६१ में मैनचेस्टर और वोर्सले के बीच खोली गयी। ट्रेन्ट और मर्से नहर १७७७ में स्थापित हुई। इसके बाद १७९१-९४ तक नहर निर्माण का कार्य बहुत तेजी से हुआ। देश नहरों के लिए दीवाना सा हो गया। इस बीच बहुत से सट्टेबाज इस कारण बर्बाद भी हो गए। यह आन्दोलन बाद में स्काटलैंड और आयरलैंड में भी फैला।

नहरों का विकास इंगलैंड के औद्योगीकरण और वाणिज्य विकास में बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ, क्योंकि उससे सस्ता और सरल यातायात सुलभ हुआ। नहरों से माल ढोने का भाड़ा, सड़कों की अपेक्षा एक चौथाई से आधे तक कम था। भारी कृषि वस्तुएँ भी नहरों से दूर-दूर तक भेजी जा सकीं। इस तरह नहरें न केवल उद्योग और वाणिज्य वरन् कृषि के लिए भी बहुत ही उपयुक्त यातायात व्यवस्था सिद्ध हुई।

वे देश के लिए एक दूसरे रूप में भी हितकारी थीं। वे इंगलैंड के कई भागों के लिए वरदान स्वरूप भी सिद्ध हुई क्योंकि उनसे भूमि का मूल्य बढ़ गया। पत्थर और इमारती सामान जो वीरान स्थानों में पड़ा हुआ था अब नए शहरों में बिकने लगा।

नहरें नए औद्योगिक क्षेत्रों को खोल कर तथा पिछड़े क्षेत्रों और प्रदेशों के साधनों को सुलभ कर विकास में सहायक हुई। उन्होंने नए प्रकार के श्रम और वर्ग को जन्म दिया जिन्हें क्रमशः नहरी मजदूर और इंजीनियर कहते हैं। नहर निर्माण ने इंजीनियरिंग के उद्योगों को बड़ा प्रोत्साहन दिया। मिश्रित पूँजी कम्पनियों के द्वारा नहर निर्माण के लिए पूँजी सुलभ करने की व्यवस्था ने ग्रेट ब्रिटेन के लोगों में पूँजी लगाने का स्वभाव बनाया और पूँजीगत बाजार बढ़ाया।

अट्ठारहवीं सताब्दी की शमाप्ति तक वहुत सी नहरें बन गईं। इस लाभकारी उद्योग ने इतनी पूँजी आकर्षित की कि नहरों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो गई। इसके फलस्वरूप नहर कम्पनियों में घोर प्रतिस्पर्धा चल पड़ी। बहुत से तो बहुत ही कम भाड़ा लेने लगे थे। इससे कम्पनियों को घाटा हुआ। पूँजी लगाने वाले भयभीत हो गए। उनमें से वहुत से तो वर्बाद भी हुए। यही कारण है कि रेलों के आगमन के वाद नहरें यातायात साधन के रूप में कम महत्व की हो गईं। दूसरी बात यह थी कि नहर निर्माण में अकुशल संगठन व्यवस्था भी वढ़ रहीं थी, जिससे विभिन्न नहरों की चौड़ाई, गहराई और पुलों की ऊँचाई में वहुत भिन्नता थी। पानी की गहराई को बढ़ाने वाली रीतियों में भी एकरूपता नहीं थी। एक भाग से दूसरे भाग को वहुत से रास्तों को वदले बिना जाना शायद ही सम्भव था। तीसरी बात यह थी कि प्रबन्ध में भी एकसूत्रता का अभाव था। नहरों के विभिन्न भागों का प्रबन्ध विभिन्न कम्पनियाँ करती थीं। कभी-कभी तो एक-एक मार्ग का नियंत्रण आठ से दस कम्पनियों के हाथ में रहता था। जव भीतरी भागों में यातायात के लिए वाष्प शक्ति का प्रयोग किया गया तो यह अनुपयुक्त पायी गयी, क्योंकि नहरों के तट उस समय वनाए गए थे जव कि नहरों के आन्तरिक यातायात की सम्भावना की कल्पना भी नहीं की गयी थी।

अपनी उक्त प्रकार की निर्बलताओं के कारण नहरें रेलों की प्रतिस्पर्धा के सम्मुख न टिक सकीं। वे रेलों से प्रतिस्पर्धा में तभी टिक सकती थीं यदि वे वाष्प शक्ति चालित नावों का उपयोग करतीं। पर सामान्यतः इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता था। रेल कम्पनियों की नीति नहरों को खरीदने और अधिकतर उन्हें अविकसित छोड़ देने की थी। साथ ही नहर कम्पनियों के संचालकों को नौपरिवहन में रुचि नहीं रही और उन्होंने प्रतिस्पर्धा के अनुरूप प्रयास नहीं किए। रेलों ने नहरों के व्यवसाय में वाधा डालने की दो विधियाँ अपनाई। जिन नहरों को उन्होंने खरीदा

नहीं था, उनके व्यवसाय कार्य में बाधा डालते थे और जिन्हें खरीद लिया था उनका विकास नहीं करते थे। केन्द्रीय नहरों के कुछ कानूनी अधिकार थे जिनके अन्तर्गत नहरों को जोड़ने वाले मार्गों पर कर वसूला जाता था। रेलों ने केन्द्रीय नहरों को खरीद लिया। उन्होंने इस स्थिति से लाभ उठाकर छोटी नहरों से ऐसे भारी कर वसूलने शुरू किये कि वे उन्हें चुका न सकीं अतः उन्हें व्यावसायिक हानि हुई। इस तरह रेलों ने दूसरी नहरों के यातायात को भंग करने के लिए अनुचित और दुखदायी कानूनी अधिकारों का भी प्रयोग किया था।

संसद ने १८८३ में नहरों और रेलों के बीच अनुचित प्रतिस्पर्धा की जाँच के लिए 'कामंस कमेटी आन कनाल्स' नामक एक जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति की सिफारिशों के अनुसार संसद ने रेलों पर यह रोक लगा दी कि वे रेलवे कमीशन की पूर्व अनुमति प्राप्त किये बिना नहरों को न खरीदें। १९०९ में एक रायल कमीशन ने नहरों के बड़े भाग का राष्ट्रीयकरण करने की सिफारिश की। पर इस सिफारिश को लागू नहीं किया गया। इस काल में सबसे महत्वपूर्ण घटना ७ जल मार्गों के एकीकरण की हुई। 'ग्रैंडयूनियन कनाल' के अन्तर्गत २४० मील लम्बी नहरें आ गईं। नई कम्पनी ने नई नीति अपनाई। नहरों को गहरा किया और यातायात के लिए यांत्रिक विधियों का उपयोग किया। यह प्रयास बहुत लाभदायक सिद्ध हुए।

रेलें. औद्योगिक क्रान्ति में अग्रणी इंगलैंड ने सर्वप्रथम रेलों का विकास किया जो कि औद्योगिक केन्द्रों के माल के यातायात के लिए आवश्यक था। रेलों के युग का आरम्भ १८२५ माना जाता है जब स्टीफेंसन ने अपने छोटे से इंजन "लोकेमोशन" को स्टाकटन-डार्लिंगटन रेलवे पर चलाया। पहली बार वाष्प चालित इंजन से सार्वजनिक रेलवे पर माल ढोया गया। यह प्रयोग मुख्यतः सफल रहा। कुछ ही समय बाद सारा देश रेलों का भक्त हो गया और ग्रेट ब्रिटेन में रेलवे लाइन का जाल सा फैल गया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रेल ने आंतरिक यातायात पर बहुत कुछ एकाधिकार प्राप्त कर लिया। रेलों की सफलता स्पष्ट हो गयी। अतएव इनकी ओर पूँजी आकर्षित होने लगी। १८४० तक रेलों में पूँजी लगाना बहुत ही लोकप्रिय हो गया और थोड़े ही समय में असाधारण तेजी उत्पन्न हो गई।

रेल व्यवस्था के अंतर्गत भी प्रतिस्पर्धा चल पड़ी। इससे पूँजी लगाने वालों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। रेल भाड़े में गलाकाटू प्रति स्पर्धा के कारण कम्पनियों को भारी घाटा उठाना पड़ा। अतएव रेलों के एकीकरण की ओर कम्पनियों का ध्यान गया। १९२० तक १००० रेलवे कम्पनियों में से २०० कम्पनियाँ

ही स्थापित रहीं और उसी वर्ष रेलवे अधिनियम के फलस्वरूप १२० कम्पनियाँ मिल कर ४ मुख्य समूहों में विभाजित हो गयीं।

वाष्प नौ परिवहन. वाष्प चालित जहाज वाष्प चालित रेलों के पहले आ चुके थे। पर स्थल यातायात की अपेक्षा समुद्री यातायात की गति धीमी रही, यद्यपि पहला वाप्प चालित जहाज उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में चालू हो गया था। इस शताब्दी के अन्तिम दौर में ही समुद्री यातायात के लिए वाष्प शक्ति का उपयोग सामान्यतः प्रचलित हुआ।

यद्यपि वाष्प शक्ति चालित जहाज वाष्प शक्ति चालित रेलगाड़ी सेप हले बने परन्तु वे अनेक प्रतिकूलताओं से आवद्ध थे। आरम्भिक वाष्प चालित जहाजों को ईंधन सम्बन्धी कठिनाई थी क्योंकि उन्हें बड़ी मात्रा में कोयले की आवश्यकता थी जिसे जहाजों में ही रखना था। कोयला रखने के बाद माल के लिए बहुत कम जगह बचती थी। इस समस्या का आंशिक समाधान रास्ते में कोयले के स्टेशन खोल कर हल किया गया। १८५० के लगभग नया और सुधरे प्रकार का जहाज तैयार किया गया। इसकी गति बहुत तेज थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जहाजी इंजीनियरिंग और वाष्प शक्ति चालित जहाजों के क्षेत्र में ऐसे सुधार हुए जिनसे नौ परिवहन के मार्ग की कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर हो गई। ऐसा इंजन तैयार किया गया जिसमें कि कम कोयला खर्च होता था। इस अन्वेषण ने वायुचालित जहाजों को उखाड़ दिया। तेल के प्रयोग से भी कोयले के स्थान में अधिक कमी हो गयी। १८९२ में डीजल इंजन के अविष्कार से तो स्थिति बहुत ही सुधर गयी।

सड़क यातायात. सड़क पर यंत्र चालित गाड़ियों का प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। १८२० और १८४० के बीच वाष्प शक्ति चालित गाड़ियां नियमित रूप से लंदन और ब्राइटन, ग्लाउसेस्टर और चैल्टेन्हम, ग्लासगो और पैसले तथा अन्य कई स्थानों के बीच नियमित रूप से चलती थीं। लंदन की सड़कों पर बहुत सी वाप्प शक्ति चालित बसें चलने लगी थीं। पर विरोधी हितों ने जैसे बग्घियों, रेलों, और टर्नपाइक ट्रस्टों ने इस नए यातायात पर अनेक बाधाएँ डालीं और इस नए प्रयोग को शीघ्र ही समाप्त कर दिया।

शक्ति संचालित गाड़ियों को सड़क पर चलाने का दूसरा प्रयोग विद्युत चालित 'ट्रामवे' द्वारा हुआ। इसका परीक्षण १८९१ में लीड्स में किया गया। बाद में इसका चलन इंगलैंड के दूसरे शहरों में हुआ। पर नम्यता के अभाव और निश्चित मार्ग पर चलने के कारण यह केवल शहरी यातायात (municipal transport) रहा। इंजन में गैस का भी प्रयोग हुआ पर शीघ्र ही पेट्रोल का सुविधाजनक उपयोग होने लगा।

जर्मनी, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य देशों की तुलना में यंत्र चालित गाड़ियों के उपयोग में इंगलैंड प्रथम नहीं था। अप्रचलित कानूनों ने विकास में बाधाएं डालीं ; १९०३ के मोटर कानून ने इस बाधा को दूर किया। १८९५ में लैंचेस्टर ने सर्वप्रथम ब्रिटिश कार का निर्माण किया। उसी वर्ष आस्टिन ने एक नमूना तैयार किया जिसका निर्माण वूल्स्ले कम्पनी (Wolseley Company) ने किया। यहाँ से ब्रिटिश-मोटर उद्योग आरम्भ होता है। यह बर्मिंघम और कोवेन्ट्री, लन्दन, लंकाशायर, आक्सफोर्डशायर और अन्य पूर्वी जिलों में केन्द्रित हुआ। प्रथम महायुद्ध से यह उद्योग तीव्र प्रगति कर रहा है। सड़क पर चलने वाली गाड़ियों की संख्या १९२२ में ३६,००० थी। वह १९३२ में २२,१३,००० हो गई। यातायात के इस साधन से रेल कम्पनियों को बड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा और वे संसद से १९२८ में अनुमति प्राप्त कर यात्री सेवाएं और भार परिवहन का कार्य करने के क्षेत्र में उतर पड़ीं।

हवाई परिवहन. हवाई परिवहन की सफलता इस पीढ़ी की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। अन्तर दहन इंजनों (internal combustion engines) और पेट्रोल के कारण हवाई जहाज का निर्माण सम्भव हो सका। अमरीका, फ्रान्स और अन्य देश इस क्षेत्र में इंगलैंड से आगे थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ही अमरीका और फ्रांस ने हवाई जहाज़ों के लिए महत्वपूर्ण व्यावहारिक मशीन बना ली थी। १९१४ के महायुद्ध के समय से वाणिज्यिक हवाबाजी की प्रगति तीव्रगति से हो रही थी। ब्रिटेन में प्रमुख हवाई जहाज कम्पनी, इम्पीरियल हाईवेज लिमिटेड, की स्थापना १९२६ में हुई थी।

हवाई जहाज के द्वारा बड़ी मात्रा में माल का परिवहन सम्भव नहीं है क्योंकि यह बहुत छोटा होता है और कुशल भार-वाहक के रूप में सफल होने के लिए काफी ईंधन साथ रखना पड़ता था जो कि काफी स्थान घेरता है। हाल में हवाई परिवहन के कारण वाणिज्य में क्रान्ति आई और कुछ देशों ने हवाई परिवहन के क्षेत्र में अत्यधिक उन्नति की है।

वाणिज्य में क्रान्ति

वाणिज्य इतिहास की तीन विभिन्न अवस्थाएँ थीं। पहली अवस्था में स्थानीय अर्थव्यवस्था का प्रभाव था क्योंकि जागीरों में आत्मनिर्भरता पर जोर दिया जाता था और देश का एक भाग दूसरे भाग पर निर्भर नहीं था। इसके बाद विकास की दूसरी अवस्था आई जब वायुचालित समुद्री जहाजों, नदियों और पशुओं के द्वारा संचार व्यवस्था चलती थी। सड़कें कच्ची थीं और पशुओं के लिए ही उपयुक्त थीं।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में पक्की सड़कें बनीं, नहरें बनायी गईं और नदियों द्वारा यातायात में सुधार हुआ। तीसरी अवस्था में रेलों और नव परिवहन के नये साधनों का विकास हुआ और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के स्थान पर विश्व अर्थव्यवस्था की भावना पनपी। अब राष्ट्र अपने राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता की नीति छोड़ चुके थे। विश्व के हर भाग का सम्पर्क संयुक्त अर्थव्यवस्था से हो गया था और कोई भी देश एकल (isolated) नहीं रह सकता था। एक प्रकार से विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना १८७० में हुई जिसका आशय था विश्व उत्पादन, विश्व वितरण, विश्व परस्परावलम्बन और विश्व प्रतिद्वंद्विता। इस अवस्था में इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, और संयुक्त राज्य अमरीका में रेलों और जहाजों का इतना अधिक विकास हुआ कि संचार के साधनों में क्रान्ति मच गयी। रूस में संचार साधनों का विकास १८९०-१८९९ के बीच हुआ था। इन परिवर्तनों से वाणिज्य क्रान्ति के लक्षण प्रकट होने लगे थे।

रेलों और जहाजों के विकास से आर्थिक और वाणिज्य जीवन में नयी चेतना आयी क्योंकि अब भारी भरकम वस्तुओं को दूर-दूर के क्षेत्रों में तीव्रगति से सुरक्षित नियमित रूप से और कम भाड़े पर भेजा जा सकता था। यांत्रिक परिवहन के विकास के कारण पर्वत, जलवायु, तथा जलमार्ग की अनुपस्थिति की समस्या बहुत कुछ हल की जा सकी थी।

मुख्य लक्षण. वाणिज्य क्रान्ति के मुख्य लक्षणों का विवेचन निम्नांकित शीर्षों में किया जा सकता है :

(१) महाद्वीपीय देशों के महत्व में क्रांति. रेलों और जहाजों के आविष्कार के कारण उत्पादन बढ़ गया। इससे ग्रेट ब्रिटेन के लिए नई प्रतिद्वंद्विता आरम्भ हो गयी और विशाल ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई।

जब लोहे के वाष्प चालित जहाजों का आगमन ग्रेटब्रिटेन में हुआ तो अपने लोहे और कोयले के विशाल भंडार के कारण वह लोहे के जहाजों के कुशल निर्माता के रूप में प्रगट हुआ। ग्रेट ब्रिटेन के पास लोहे और यंत्रों के निर्माण तथा उपयोग सम्बन्धी सौ वर्ष से अधिक काल के अनुभव का लाभ था। जैसे ही जहाजों में यंत्रों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाने लगा, इंगलैंड अपने कोयले, लोहे और कुशल इंजीनियरों के उपयोग तथा औद्योगिक क्रान्ति में अग्रणी होने के कारण अपने सभी प्रतिद्वंदियों को पीछे छोड़ गया। सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में कोई भी देश ग्रेट ब्रिटेन के साथ परिवहन गाड़ियों और जहाज निर्माण के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा नहीं कर सका। एक के बाद एक अन्वेषण होते रहे और १८६० के बाद हर कार्य के लिए

वाष्प चालित जहाजों का उपयोग किया जाने लगा। स्वेज नहर के निर्माण से हवा से चलने वाले पालदार जहाजों के स्थान पर वाष्प चालित जहाजों का अधिकाधिक उपयोग बढ़ा। रेलों की तीव्र गति और निश्चित समय पर गंतव्य पर पहुंचने के कारण नौ परिवहन उद्योग का तीव्र विकास समन्वित परिवहन (coordinated transport) के रूप में हुआ। जहाज के निर्माण के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और इनके साथ औद्योगिक क्रान्ति के परिवर्तनों का समावेश होने के कारण नौ परिवहन संसार में ग्रेट ब्रिटेन को एकाधिकार की स्थिति प्राप्त हुई।

नौ परिवहन के विकास के कारण नए ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना में बड़ी सहायता मिली। ब्रिटिश साम्राज्य के हर भाग से द्रुतिगामी संचार साधनों के कारण सम्पर्क स्थापित हो गया और नए उपनिवेशों पर जहाजों और तार के द्वारा प्रभावी नियंत्रण रखा जा सका। स्थानों में दूरी और सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य में निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया। उपनिवेशों में नियुक्त मंत्री और राज्यपाल विचार विमर्श हेतु थोड़े समय में आ सकते थे और उत्तरदायी राजमर्मज्ञ उपनिवेशों में स्थिति अध्ययन के लिए आवश्यकतानुसार शीघ्र-शीघ्र आ जा सकते थे जिसके परिणाम-स्वरूप एक प्रकार से साम्राज्यवादी संविधान की रचना की जा सकी।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना में नौ परिवहन का महत्वपूर्ण स्थान तो था ही पर रेलें भी कम महत्वपूर्ण नहीं थीं। अट्ठारहवीं शताब्दी का ब्रिटिश साम्राज्य टापू और समुद्र के किनारे बसे हुए नगरों तक ही सीमित था परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में इसका विस्तार महाद्वीपों के आन्तरिक विभागों में फैल गया। रेलों के विस्तार के कारण अंग्रेजों के लिए भीतरी भागों में जा कर रहना सम्भव हो सका जिससे वे अपने मात्र देश की आवश्यकताओं के अनुसार कच्चा माल तैयार कर सकें। इस प्रकार नाइजीरिया, रोडेशिया, युगांडा, कनाडा के मैदानी क्षेत्र, सूडान तथा आस्ट्रेलिया के भीतरी भागों का विकास किया जा सका। कनाडा के गेहूँ निर्यात को महत्वपूर्ण स्थान मिला। आस्ट्रेलिया का ऊन, हिन्दुस्तान का जूट, पश्चिमी अफ्रीका और मलाया प्रायद्वीय की रबर, अफ्रीका के तटवर्ती प्रदेशों के तेल और कनाडा के निकिल पर ब्रिटेन का पूर्ण एकाधिकार था। ब्रिटिश साम्राज्य में सोने का उत्पादन भी सबसे अधिक था।

रेलों और जहाजों के विकास के कारण न केवल साम्राज्य का उदय हुआ वरन् संयुक्त राज्य अमरीका, जर्मनी और रूस के साम्राज्यों का भी जन्म हुआ। विश्व के कच्चे माल उत्पादक क्षेत्रों और बाजारों के नियंत्रण के लिए राष्ट्रों में अधिकाधिक प्रतिद्वंद्विता ठन गई। वे उपनिवेश प्राप्त करने तथा अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिए तत्पर हो उठे। हर प्रतियोगी देश की अर्थव्यवस्था में सरकार द्वारा हस्तक्षेप बढ़ने लगा और रेलें अधिकाधिक सरकार के नियंत्रण में आने लगीं।

(२) वाणिज्य की वस्तुओं में क्रान्ति. पन्द्रहवीं शताब्दी में मसालों के व्यापार के द्वारा बहुत लाभ होता था। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में मसालों और दास (slaves) का व्यापार बहुत बढ़ा। बाद में चाय, काफी, चीनी और तम्बाकू का व्यापार भी बढ़ा। उन्नीसवीं शताब्दी में यंत्र परिवहन के उपयोग के कारण कोयला, मशीन, खाद्य पदार्थ, कच्चा माल जैसी भारी वस्तुओं के व्यापार ने मसालों का स्थान ले लिया और ये व्यापार की नई प्रमुख वस्तुएँ बन गई। वस्तुओं के महत्व में भी परिवर्तन हुआ। कोयले और लोहे को अधिक महत्व का स्थान प्राप्त हुआ। रेलों और जहाजों के निर्माण और मरम्मत के लिए ही कोयले और लोहे की अपरिमित मांग उत्पन्न हुई। १८७० के बाद गोश्त, मक्खन, अंड़े, और फल के विशाल आयात को वाणिज्य में महत्वपूर्ण स्थान मिला। जहाजों और द्रुतगामी यात्राओं में समय की परिसीमा के कारण गोश्त के लिए काम आने वाले पशुओं को एक महाद्वीप से दूसरे में सुरक्षित ले जाया जा सकता था। १८८० के आरम्भ में ठंडे गोदाम (cold storage) स्थापित किए जाने लगे थे और ठिठरे गोश्त (chilled meat), डेरी पदार्थों और फलों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्थान प्राप्त हो गया था। बड़ी मात्रा में गेहूँ अब दूरगामी प्रदेशों में भेजा जा सकता था। सामान्यत: लोगों के भोजन में अधिक विविधता आ गयी थी। दूरगामी प्रदेशों और विभिन्न महाद्वीपों से अंडे, ताजे आड़ू, मक्खन, अनन्नास, केला और डिब्बा बन्द वस्तुएं जैसे खूबानी, खरगोश का गोश्त, सामन मछली, कस्तूरी के सुगंध वाला अंगूर, टमाटर, और गोमांश अब ब्रिटेन के बाजारों में सुलभ हो गया था। अत: खाद्य पदार्थों का मूल्य १८७३ के बाद घट गया और इस प्रकार वास्तविक मजदूरी (real wages) में वृद्धि रही।

१८५० से पहले गेहूँ का आयात ऊँचे मूल्य पर पोलैंड या प्रुशिया से किया जाता था। प्राय: जब योरोप के अन्य देशों में खराब मौसम रहता था तब इंगलैंड में भी खराब मौसम के कारण अधिक हानि होती थी। इस प्रकार जब इंगलैंड में खाद्य पदार्थों की कमी होती थी तब अन्य देशों में भी कमी रहती थी। फलत: इंगलैंड में खाद्य पदार्थों का आयात किसी भी मूल्य पर नहीं किया जा सकता था और वहाँ अकाल पड़ जाता था। ऐसी स्थिति में यंत्र परिवहन का महत्व जीवन रक्षा के लिए कितना बढ़ गया था इसका पहले अनुमान नहीं लगाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त जहाजों की अधिक गति के कारण व्यापार में चोरों और लुटेरों का भय भी कम हो गया था।

(३) व्यावसायिक संगठन में क्रान्ति. दूरगामी प्रदेशों से अब माल सुरक्षित रूप से प्राप्त हो सकता था और अनिश्चितता की स्थिति समाप्त हो गयी थी। इस-

लिए स्थानीय बाजारों और मेलों का कोई महत्व नहीं रह गया था। यंत्र परिवहन के कारण व्यावसायिक संगठन में विशेषज्ञता समाप्त हो गई थी।

थोक व्यापार और फुटकर व्यापार का भेद किए जाने के कारण इससे वाणिज्य विशेषज्ञता के लक्षण प्रगट होने लगे थे। वाणिज्य और व्यापार के हर क्षेत्र में अनन्य रूप से कार्यरत बड़ी संख्या में वाणिज्यिक अहलकार (functionaries), दलाल, आढ़तिए और वाणिज्य यात्रियों का प्रादुर्भाव हुआ।

(४) आधुनिक विनिमय मंडियाँ. ये वाणिज्य क्रान्ति की देन हैं। मंडियों में विक्रेता हर समय आपस में मिलते थे। जिन वस्तुओं का व्यापार किया जाता था उनकी उपस्थिति आवश्यक नहीं थी। उनकी बिक्री नमूनों और विवरण से की जा सकती थी। यहाँ अधिकतर कच्चे माल और खाद्य पदार्थों का व्यापार किया जा सकता था क्योंकि उनका श्रेणीकरण और विवरण सरलतापूर्वक हो सकता था। लंदन में अट्ठारहवीं शताब्दी की इस प्रकार की दो पुरानी मंडियाँ थीं जिन्हें बाल्टिक और मार्क लेन मंडियाँ कहा जाता था। बिक्री के इस नए तरीके से गेहूँ का व्यापार विवरण देकर किया जा सकता था। विभिन्न प्रकार के गेहूँ को रंग, भार, नर्मी और अशुद्धि प्रतिशत के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में बाटा जाता था। अनाज अधि-पत्र (warrant) के अनुसार बिकता था। यह अधिपत्र किसी विशेष अनाज के ढेर की रसीद नहीं होता था, वरन् इसमें किसी विशिष्ट श्रेणी के अनाज की निश्चित मात्रा का उल्लेख रहता था। वस्तुओं की बिक्री तुरन्त सुपुर्दगी (delivery) करके की जा सकती थी और इसे "तत्कालीन बिक्री" (spot sale) कहा जाता था। किसी भविष्य तिथि के लिए भी वस्तुओं की बिक्री की जा सकती थी जिसे "वायदे का सौदा" (future) कहा जाता था। वायदे का सौदा अंशतः सट्टेबाजी के लिए किया जाता था और अंशतः यह बीमा का संविदा (insurance contract) था। जिन वस्तुओं की बिक्री विवरण और श्रेणी के अनुसार नहीं की जा सकती थी उनको नीलाम के द्वारा बेचा जाता था। इस प्रकार के व्यापार का उदाहरण ऊन है जिसे या तो नमूने के अनुसार या निरीक्षण के बाद बेंचा जा सकता था। इन व्यापारिक कार्यों के कारण लन्दन ऊन मंडी (London Wool Exchange), लिवरपूल और मैनचेस्टर कपास मंडी, लिवरपूल अनाज मंडी, ग्लासगो लोहा मंडी, और लंदन तथा अन्य स्थानों पर असंख्य मंडियाँ स्थापित हुई जहाँ रबर, चाय, काफी, चीनी, टीन, सीसा, ताँबा और कोयले का व्यापार होता था।

(५) कृषि मंडियाँ. वाणिज्य क्रान्ति के अन्तर्गत कृषि मंडियों को नया महत्व प्राप्त हुआ। इस काल में सार्वजनिक मंडियों का जन्म हुआ जिन पर नगर पालिकाओं और अन्य संस्थाओं या ऐसे व्यक्तियों का नियंत्रण रहता था जिन्हें वैधानिक

एकाधिकार प्राप्त था। ७ मील के क्षेत्र में कोई अन्य मंडी स्थापित नहीं की जा सकती थी। इनके अतिरिक्त निजी मंडियां भी थीं जिन पर निजी कम्पनियों या व्यक्तियों का स्वामित्व था पर उनको वैधानिक विशेषाधिकार नहीं प्राप्त थे।

कृषि मंडियाँ दो प्रकार की थीं। कुछ मंडियाँ उत्पादन क्षेत्रों में स्थित थीं और कुछ मंडियों में माल उत्पादन क्षेत्रों से नगरों में बिक्री के लिए या अन्य जिलों या स्थानों पर भेजने के लिए प्राप्त होता था। पहले प्रकार की मंडियों में अधिकतर साग सब्जी और फल बिकता था; दूसरी प्रकार की मंडियों में लन्दन का 'कान्वेन्ट गार्डन' प्रसिद्ध था। सत्रहवीं शताब्दी में साग सब्जी और फल के व्यापारी कान्वेन्ट गार्डन, लन्दन के निकट एक स्थान पर एकत्र होते थे जिसे पिआजा (Piazza) कहा जाता था। धीरे-धीरे यह वैधानिक मंडी बन गयी और १९१८ तक यही स्थिति रही। १९१८ में इस मंडी को कान्वेन्ट गार्डन एस्टेट कम्पनी के हाथ बेच दिया गया। पशु धन की बिक्री के लिए अन्य स्थानों पर मंडियाँ थीं और पशुओं के नीलाम का तरीका भी क्रियान्वित हुआ। धीरे-धीरे अनेक विनियमित मंडियाँ स्थापित हुईं। आरम्भ में खुली मंडियाँ गलियों में लगती थीं पर बाद में अधिकतर मंडियाँ भवनों में लगने लगीं। रेलों के आगमन से पशु व्यापार में केन्द्रीकरण होने लगा और छोटी-छोटी अनेक मंडियों के स्थान पर कुछ बड़ी मंडियाँ लगने लगीं। कुछ स्थानों पर अकेली मंडियों ने पशुओं के नीलाम के व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया।

ऐसी भी विभिन्न प्रकार की और विभिन्न विशेषताओं वाली वस्तुएँ थीं जिनका व्यापार उनके विवरण और नमूने के अनुसार नहीं किया जा सकता था। इन वस्तुओं को बिचौलियों (chain of intermediaries) की सहायता से बेचा जाता था जिनमें एक या अधिक थोक व्यापारी होते थे और अंत में एक फुटकर व्यापारी भी होता था। थोक व्यापारियों के पास गोदाम होता था जहाँ वे उत्पादकों से खरीद कर या विदेशों से मँगा कर माल सुरक्षित रखते थे। इस नए प्रबन्ध में उत्पादकों के लिए अब आवश्यक नहीं था कि वे बड़ी मात्रा में निर्मित वस्तुओं का भंडार भी रखें। यह कार्य अब थोक व्यापारियों ने अपने हाथ में ले लिया था और वे अपनी माँग उत्पादकों के पास भेजते रहते थे। इससे उत्पादकों को यह लाभ था कि वे वस्तु निर्माण का कार्य लगातार चलाते रहते थे। फुटकर व्यापारी को नई वस्तुओं के बारे में सूचना मिलती रहती थी और वे छोटी मात्रा में अपना भंडार बाजार की आवश्यकता के अनुसार पूरित रखते थे। उत्पादकों, थोक और फुटकर व्यापारियों के बीच सूची पत्रों (catalogues), परिपत्रों (circulars), विज्ञापनों, और एजेन्टों या यात्रियों का ताना बाना बुन गया था।

वाणिज्य क्रान्ति काल में फुटकर व्यापार का विकास एक महत्वपूर्ण समाजार्थिक (socio-economic) घटना थी। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत तक साप्ताहिक बाजार फुटकर व्यापार का केन्द्र था और इसके लिए मेलों का भी महत्व था। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में लंदन और कुछ बड़े नगरों में आधुनिक ढंग की विशिष्ट दूकानें खुल गई थीं। इस प्रकार की दूकानें भीतरी भागों और ग्रामीण क्षेत्रों में धीरे-धीरे फैल गई थीं। १८०० से १८५० का समय छोटे दूकानदारों का काल था। इसके पश्चात् बड़ी मात्रा में फुटकर व्यापार तेज़ी से विकसित हुआ। दो प्रकार की फुटकर दूकानें नगरों और जिलों में खुलीं, जिन्हें (१) बहुविभागीय भंडार (departmental store) और (२) बहुखण्डीय विक्रयशाला (multiple firms) कहा जाता था। बहुविभागीय भंडारों के अन्तर्गत एक ही भवन में कई छोटी-छोटी दूकानों या विभागों का समूह होता था। उनकी यह विशेषता थी कि वहाँ हर प्रकार की वस्तुएँ मिलती थीं पर वहाँ महिलाओं की आवश्यकता की वस्तुएं विशेष रूप से उपलब्ध थीं। बहुखण्डीय या शृंखला भंडार (chain stores) उन्हें कहा जाता था जिनकी शाखाएं देश या प्रांत के हर भाग में होती थीं। गृहणियों की सुविधा के लिए बहुखण्डीय विक्रयशालाएँ नगर के हर भाग में स्थापित की जाती थीं। इस प्रकार यद्यपि छोटी-छोटी दूकानें अब लोकप्रिय नहीं थीं परन्तु कुछ कार्यों के लिए उनका महत्व कम नहीं था। साग सब्जी, दूध, केराना, गोश्त, इत्यादि के लिए गली कूचों में छोटी-छोटी दूकानें स्थापित थीं और वाणिज्य क्रान्ति में उनका अपना महत्व था।

वाणिज्य और उद्योग में एक रोचक घटना यह घटी कि वाणिज्य क्रान्ति के कारण वे एक दूसरे से प्रथक हो गए। एक समय ऐसा था कि जब उद्योग और वाणिज्य दोनों के कार्यों को एक ही व्यक्ति करता था। उदाहरणार्थ मध्य काल में कारीगर वस्तुओं का निर्माण भी करते थे और उनके बेचने के लिए उपभोक्ता से भी सम्पर्क रखते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में परिवहन के अच्छे साधनों के विकास के कारण ये कार्य अलग-अलग किए जाने लगे और इनके पृथक होने के लाभ प्रगट होने लगे थे। विपणन (marketing) तथा निर्माण कार्य (manufacturing) को अलग-अलग वाणिज्य की विशिष्ठ शाखा के रूप में स्थान मिला। आगे चल कर यांत्रिक परिवहन में विकास और वाणिज्यिक क्रान्ति के कारण इस प्रवृत्ति में रुकावट पैदा हुई। निर्मातागण (manufacturers) स्वयं ही विपणन करने लगे और इस प्रवृत्ति को वाणिज्य और उद्योग का पुनर्एकीकरण (re-integration) कहा गया था। उदाहरणार्थ मोटर गाड़ी उद्योग में थोक व्यापारी लोग पूर्णरूप से समाप्त हो गये क्यों कि निर्मातागण का सम्बन्ध सीधे फुटकर व्यापारियों से होने लगा। यह रीति

टाइपराइटरों, ग्रामोफोन, सिलाई की मशीनों, कपड़ों, तम्बाकू, बियर और शराबों के विक्रय में आरम्भ हुई। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप उत्पादक संघों या विक्रय संस्थाओं की स्थापना हुई। कुछ ऐसे उदाहरण भी थे जिनमें फुटकर व्यापारियों ने वस्तु निर्माण प्रक्रिया भी अपने हाथ में ले ली। उदाहरणार्थ पंसारी लोग पनीर और औषध विक्रेता दवाएँ भी बनाने लगे।

रेलों और जहाजों के विकास के परिणामस्वरूप व्यवसायों में नयी और तीव्र प्रतिस्पर्धा आरम्भ हुई। पहले दूकानदार स्थानीय या राष्ट्रीय स्तर पर माल पहुँचाते थे। रेलों के कारण अब इस प्रकार की रुकावट नहीं रह गई थी और स्थानीय या राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतिस्पर्धा आरम्भ हुई और १८७० के पश्चात् यह स्थिति और भी उग्र हुई। घातक प्रतियोगिता के कारण लाभ बहुत कम रह गया था और कहीं-कहीं पर तो प्रतियोगी व्यवसायों में हानि भी होने लगी जिससे वे संयुक्त होने लगे। इस प्रकार संयोजन आन्दोलन (combination movement) ने जोर पकड़ा और इसने क्रान्ति का रूप ले लिया। रेल कम्पनियों ने समामेलन (amalgamation) संगठित करके मार्ग प्रदर्शन किया और उन्होंने विशाल परिवहन एकाधिकारों की स्थापना की। सरल परिवहन उपलब्ध होने के कारण व्यावसायिक संस्थाओं के लिए अब यह सम्भव हो सका कि निर्माता लोग कच्चे माल के उत्पादन से लेकर तैयार माल बनाने तक उद्योग की सभी प्रक्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण रखें। इसे शीर्ष संयोजन (vertical combination) कहा जाता था और यह धातु कर्म (metallurgical) व्यवसाय में अधिक लोकप्रिय हुआ जहाँ कोयले की खान, खनिज लोहा, धमन भट्टियाँ, बेलन और फॉलाद मिल, फॉलाद का तार बनाने और इस प्रकार के अन्य कार्यों को एक ही प्रबन्धक के नियंत्रण में संयोजित किया जाता था। इसका उद्देश्य यह था कि उत्पादन लागत कम आए और बाजार पर काबू रखा जा सके। दूसरे प्रकार के संयोजनों को भी संगठित किया गया जिसे क्षैतिज संयोजन कहा जाता है। इसमें एक ही प्रकार की व्यावसायिक संस्थाओं का संयोजन हुआ। इनका उद्देश्य यह था कि मूल्यों को निर्धारित करने या लाभ प्राप्त करने के लिए देश के भीतर या बाहर बिक्री को बढ़ावा दिया जाय। इनके अतिरिक्त कच्चामाल खरीदने, वस्तु निर्माण, और निर्यात के लिए बेचने के लिए भी व्यावसायिक संयोजनों और संघों की भी स्थापना की गयी। साथ ही, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, विक्रय कार्य में भी संयोजनों की स्थापना की गयी।

यांत्रिक परिवहन और संचार पद्धति के कारण राष्ट्रों की आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी। सारा संसार एक दूसरे पर आश्रित रहने लगा और ऐसा लगता था कि आर्थिक एकलन (isolation) की संभावनाएँ समाप्त हो गई हैं। परिणाम

यह हुआ कि व्यापार का इतना अधिक विकास हुआ कि उस पर राष्ट्रीय स्तर नियंत्रण रखना सम्भव नहीं रहा और उसके अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण की रीतियों पर छान बीन शुरु हुई।

(६) नए वित्तीय काल की उत्पत्ति. यांत्रिक परिवहन के विकास के कारण वित्त के क्षेत्र में नई घटनाएँ घटित हुई। पूँजी और वित्त का क्षेत्र राष्ट्रीय सीमाओं और राष्ट्रीय विनियमन को लाँघ गया था और उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्थान प्राप्त हुआ। नए परिवहन साधनों का मौलिक प्रभाव लोक वित्त (Public Finance) और निवेश वित्त (investment finance) पर पड़ा। इससे कर लगाने की नई समस्या सामने आई और वित्तीय संगठन (financial organization) के नए प्रतिरूप और पद्धति का जन्म हुआ। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह हुई कि रेलों के कारण राज्यों के राष्ट्रीय ऋण में विकास हुआ और लोक वित्त का क्षेत्र बढ़ने के कारण राज्य के कार्यों में विस्तार हुआ। यद्यपि, ग्रेट ब्रिटेन में रेलों के निर्माण में सरकार को धन नहीं लगाना पड़ा पर अन्य देशों में किसी न किसी रूप में राज्य सरकार को देश की रेलों के निर्माण में धन विनियोग करना पड़ा। उन्होंने रेलों के निर्माण और साज सामान के लिए या तो ब्याज चुकाने का विश्वास दिलाया या ऋणों की व्यवस्था की। दूसरे, रेलों ने पूँजी लगाने के लिए नया और व्यापक क्षेत्र खोल दिया। निजी पूँजी लगाने वालों ने योरोप के बाहर आश्रित भूभागों में रेलों का निर्माण किया। इसके लिए राज्य द्वारा ब्याज प्राप्ति का विश्वास मिला। तीसरे, रेलों के निर्माण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के आदान प्रदान से संसार में वित्तीय ऋण प्रणाली के कारण और भी निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया। नए देशों या आश्रित देशों ने रेलों और इंजनों के रूप में ऋण लिए और उनका भुगतान कच्चे माल और खाद्यान्नों के रूप में किया। स्वयं ग्रेट ब्रिटेन ने रेल निर्माण के लिए सरकारों को भारी धन ऋण में दिया या बहुत से देशों में रेल निर्माण के लिए कम्पनियाँ संगठित कीं। चौथे, रेलों ने विभिन्न देशों में पूँजी लगाये जाने पर कर सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न कर दीं। बहुत से व्यवसाय केवल एक ही देश में नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय रूप में विकसित हुए। फलतः दोहरे, तिहरे, और चौगुने करों की समस्या उत्पन्न हो गयी। इससे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विश्व आर्थिक व्यवस्था से संतुलित करना, विशेषतया अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी लगाने की दृष्टि से कठिन हो गया। इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय समझौते होने लगे। पाँचवें, रेलों से अधिकाधिक देशों में माल के यातायात की सुविधा के लिए साख सम्बन्धी व्यवस्था का विस्तार हुआ। इसके फलस्वरूप बैंकिंग कम्पनियों, विनिमय व्यवसाय, मितिकाटा गृहों (discount houses), और सट्टा बाजारों का साख संस्था पर दूरगामी प्रभाव पड़ा।

(७) विदेशीय वाणिज्य विस्तार. ब्रिटिश विदेशी वाणिज्य विस्तार के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें महत्वपूर्ण हैं। (१) १८१५-१९२१ में वाणिज्य बहुत बढ़ गया। (२) आयात और निर्यात के रूप में परिवर्तन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में तैयार और आधे तैयार माल का विशेषत: निर्यात होता था और खाद्यान्नों और कच्ची सामग्री का आयात होता था। (३) मुख्य निर्यात सूती कपड़े, खनिज पदार्थ, लोहा, इस्पात, इंजीनियरिंग सामग्री आदि थे। (४) क्रान्ति काल में उसने निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक किया पर ऋणग्रस्तता के चिन्ह प्रगट नहीं हुए क्योंकि जहाजी और वित्तीय सेवाओं तथा विदेशों में पूँजी लगाने के फलस्वरूप अदृश्य आय से ब्रिटेन को भारी लाभ हुआ जिससे भुगतान की स्थिति ब्रिटेन के अनुकूल रही और वह अपनी बचत को दूसरे देशों में पूँजी के रूप में लगा सका। (५) ग्रेट ब्रिटेन अपने अधिक विकास के लिए अपने विदेशी वाणिज्य पर बहुत अधिक निर्भर था। यदि उसे नए विदेशी स्थान और बाजार अपने सामान की खपत के लिए न प्राप्त होते तो उसे अपनी औद्योगिक जनसंख्या को भोजन देना सम्भव नहीं था।

(८) सामाजिक विकास. यांत्रिक यातायात से वस्तुओं और व्यक्तियों की गतिशीलता (mobility) बढ़ गई। इसके फलस्वरूप न केवल सामाजिक क्रान्ति वरन् समानरूप से महत्वपूर्ण राजनीतिक, वाणिज्य सम्बन्धी और वित्तीय दृष्टि से भी क्रान्ति हुई। एक तो, नए नगरों का उदय हुआ; इनकी जनसंख्या न केवल नौकरी की सम्भावनाओं वल्कि शहरी जीवन के आकर्षण के कारण भी बढ़ने लगी। महिलाओं ने ग्रामों को त्यागा। एक बार शहरी जीवन से अभ्यस्त हो जाने के कारण उन्होंने विवाह की चिन्ता नहीं की। शहरी जीवन विशेषत: गरीब वर्ग की महिलाओं के लिए आकर्षण पूर्ण था। दूसरे, नवीन व्यक्तिगत गतिशीलता से एक देश से दूसरे देश में बसने को भी प्रोत्साहन मिला। इसका प्रभाव हर देश की विदेशियों के आवास सम्बन्धी नीति पर पड़ा। इसके लिए शर्तें निर्धारित की जाने लगीं जिनके अन्तर्गत एक देश से दूसरे देश में जाकर बसना सम्भव था। तीसरे, रेलों के विकास ने विभिन्न कार्यों के लिए नवीन विभिन्न वर्ग के लोगों को तैयार करना शुरू कर दिया। रेल की सड़कें बनाने वाले, ड्राइवर, कोयला झोंकने वाले, इंजन साफ करने वाले, गार्ड, स्टेशन मास्टर आदि वर्ग के नए लोग थे। साथ ही वाणिज्य सम्बन्धी क्रान्ति के फलस्वरूप सामग्री का क्रय विक्रय और विनिमय करने वाला वर्ग भी पैदा हुआ। इस वर्ग में शहरों, बन्दरगाहों और जिलों के विस्तार के साथ और भी वृद्धि हुई। अन्त में, स्थानीय कारीगरों पर भी इन सबका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। भारी भंडारों के विकास से वस्तुओं को रेलों और जहाजों से भेजना सुलभ हो गया।

अध्याय ६

अबन्ध नीति का उत्थान और पतन

अट्ठारहवीं शताब्दी में वाणिज्यवाद का ह्रास हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में एक नयी आर्थिक नीति अबन्ध नीति (Laissez Faire) का उदय हुआ। इस नीति के अनुसार यदि राज्य औद्योगिक, कृषिक और वाणिज्य सम्बन्धी मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाए तो देश धनी और समृद्धशील होगा।

अबन्ध नीति के विस्तार में अनेक तत्व सहायक थे। प्रथम, जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, कि वाणिज्यवाद के फलस्वरूप विदेशों में उसके प्रति विरोध उत्पन्न हुआ और उन्होंने बदला लेने की भावना अपनाई जिससे ब्रिटिश उद्योग और वाणिज्य विस्तार को धक्का लगा। द्वितीय, जनमत भी धीरे-धीरे आर्थिक जीवन पर लगने वाले नियंत्रण और प्रतिबन्धों के विरुद्ध होता जाता था। व्यापारी वर्ग की रुचि आर्थिक स्वतन्त्रता में बढ़ गई। उद्योग और वाणिज्य विस्तार के साथ व्यापारी वर्ग व्यापार और उद्योग के सभी मामलों में अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता चाहने लगा। इंगलैंड औद्योगिक क्रान्ति में अग्रणी था और उद्योगपति यह अनुभव करते थे कि यदि उन्हें अपने देश के बाहर स्वतन्त्रतापूर्वक माल भेजने की स्वतन्त्रता हो तो वे विश्व वाणिज्य क्षेत्र में दूसरे देशों को परास्त कर सकते थे। १८०० में 'लंदन चैम्बर आफ कामर्स' ने सरकार से प्रार्थना की कि सभी प्रकार की शुल्कदर (tariff) पद्धति समाप्त कर दी जाय क्योंकि नवीन मशीनों के क्षेत्र में इंगलैंड का एकाधिकार है। तृतीय, औद्योगिक मजदूर जिनकी संख्या और शक्ति पर्याप्त बढ़ चुकी थी, ख़ाद्यान्नों के आयात पर किसी प्रकार के कर लगाने के विरुद्ध थे क्योंकि करों से खाद्यान्नों का भाव और जीवन स्तर व्यय बढ़ जाता था। चतुर्थ, इंगलैंड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री राज्यनियंत्रण और राज्य हस्तक्षेप के विरुद्ध थे और उन्होंने जो कुछ लिखा उसने स्वतंत्र व्यापार को प्रोत्साहन दिया। आदम स्मिथ ने १७७६ में 'दि वेल्थ आफ नेशंस' पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि व्यक्तिगत आर्थिक स्वतंत्रता से आर्थिक विकास होगा। उन्होंने यह प्रकाशित किया कि व्यक्ति अपने निजी हितों का पालन करेंगे और इसके फलस्वरूप वे अदृश्यरूप से राष्ट्र सम्पत्ति की भी वृद्धि करेंगे। आदम स्मिथ का तर्क दो मूलभूत पूर्वागृहों (basic assumptions) पर आश्रित था। पहला, प्रत्येक व्यक्ति अपना हित साधन

अपने ही प्रयत्नों से राज्य की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से कर सकता है। दूसरा, व्यक्ति और राज्य के हितों में निश्चित रूप से साम्य है। आदम स्मिथ के विचारों ने अपने शिष्यों के माध्यम से इंगलैंड की नीति को बहुत प्रभावित किया और अबन्ध नीति के बहुत से समर्थक हो गए, जैसे पिट, विलियम हस्किसन, सर राबर्ट पील, रिचर्ड कावडेन, जान ब्राइट और ग्लैडस्टोन। तृतीय, पूर्णतः वित्तीय दृष्टि से वाणिज्य क्षेत्र में अबन्ध प्रणाली प्रचलित होने से मुद्रा नियंत्रण अति सफल रहा। नैपोलियन के युद्धों के बाद निर्यात वृद्धि और स्वर्णमान (gold standard) अंगीकृत करने के फलस्वरूप विदेशों से आने वाली वस्तुओं पर से संरक्षण कर हटाना आवश्यक हो गया। इंगलैंड सर्वदा अपने ग्राहकों को सोने के रूप में भुगतान करने के लिए बाधित नहीं कर सकता था। यदि वह दूसरे देशों से उनका कच्चा माल और खाद्यान्न अपनी वस्तुओं के विनिमय में स्वीकार न करता तो उसके वाणिज्य को काफी धक्का लगता।

व्यवहार में अबन्ध नीति

सरकार ने विभिन्न क्षेत्रों में नीचे लिखे कदम उठाए जिनसे यह नीति पूर्णतः व्यवहार में आ गयी।

मुक्त वाणिज्य और शुल्क दर परिवर्तन. अट्ठारहवीं शताब्दी में ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों के विचारों के फलस्वरूप वस्तु निर्माताओं और व्यापारी वर्ग के रुख में वाणिज्य और शुल्क दरों के सम्बन्ध में परिवर्तन हुआ। इसके फलस्वरूप वाणिज्य सम्बन्धी नियंत्रणों में नर्मी आई। अट्ठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में पिट ने आदम स्मिथ के विचारों को व्यावहारिक रूप देना चाहा। १७८६ में उसने फ्रांस से एक वाणिज्य संधि कराई जिसे 'ईडन ट्रीटी' कहते हैं। इससे व्यवहारतः मुक्त व्यापार हो गया और उसने आगामी वर्ष कर प्रणाली को सरल बना दिया। इस सन्धि से दो देशों के बीच आयात निर्यात पर जो अनुबन्ध (restriction) थे उन्हें हटा दिया गया और एक दूसरे देश को पारस्परिक सुविधायें दी गईं। फ्रांसीसी शराब के आयात को वही सुविधाएँ प्रदान की गई जो फ्रांस ने ब्रिटिश वस्तुओं के आयात को प्रदान की। इसके फलस्वरूप तीन वर्ष में दोनों देशों के बीच दूना व्यापार हो गया।

१७९३ में फ्रांस के विरुद्ध युद्ध छिड़ जाने से ईडन सन्धि स्वतः ही भंग हो गई और नैपोलियन के युद्धों ने और भी कुछ समय तक मुक्त व्यापार में बाधाएँ डालीं। पिट की समता का उत्तराधिकारी बहुत समय तक नहीं प्राप्त हो सका और फ्रांस से युद्ध ने मुक्त व्यापार आन्दोलन की सफलता में कठिनाई डाली। कर सुविधानुसार बढ़ रहे थे और राजनीतिक कारणों के आधार पर शुल्क नीतियाँ नियंत्रित हो रही थीं जिससे सुस्थित व्यापार प्रणाली असम्भव हो गयी।

मुक्त व्यापार के विकास का द्वितीय चरण उस समय आरम्भ हुआ जब विलियम हस्किसन ने शुल्क दरों में परिवर्तन कराया। उन्होंने अनुभव किया कि युद्ध करों में परिवर्तन होना चाहिए और पुराने कानूनों के स्थान पर नए कानून बनने चाहिए। वह मुक्त व्यापार के प्रबल समर्थक नहीं थे। उन्होंने जो कदम उठाए उनसे एक हल्की नियंत्रित प्रणाली चली जो उनके कथनानुसार जनता की आवश्यकताओं से मेल खाती थी। १८२३ और १८२७ के बीच बोर्ड आफ ट्रेड के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने ऐसे कार्य किए जिनसे (क) ऊंचे संरक्षक करों के स्थान पर सामान्य संरक्षक कर लगे; (ख) कच्चे माल के आयात पर कर घटे; (ग) वाणिज्य संधियों द्वारा परस्पर सुविधायें मिलीं। जहाँ भी सम्भव हुआ जहाजी कर भी इस आधार पर घटाए गए कि सम्बद्ध देश भी ऐसा ही कदम उठाए। कोई भी देश जो अपने कर बढ़ाए हुए था उसे उसके माल के आयात पर ऊंचे कर लगा कर दण्डित किया जाता था। उसने 'भेद मूलक' कर लागू किया और साम्राज्य अधिमान (Imperial preference) का प्रसार किया। उपनिवेशों को खाद्यान्न व्यापार पर कम कर के अधिमान प्रदान करे और विदेशी प्रतियोगियों की तुलना में उन्हें वाणिज्य की मात्रा के आधार पर कर निर्धारण की निश्चित सुविधा प्रदान की। यह सुविधा १८२५ के 'स्लाईडिग स्केल ऐक्ट' के अनुसार दी गयी। इस कानून से उपनिवेशों में खाद्यान्न पैदा करने वालों को उनके विदेशी प्रतिस्पर्धियों की अपेक्षा अधिक सुविधा मिली। १८२४-२५ में करों का सरलीकरण किया गया और कर-योग्य (taxable) वस्तुओं की संख्या बहुत कुछ घटा दी गई। उसने १५०० तटकरों का वर्गीकरण कर उन्हे ग्यारह कर दिया जिससे कर संग्रह खर्च घट गया क्योंकि एक वस्तु पर भारी कर संग्रह अनेक वस्तुओं पर अल्प कर संग्रह की अपेक्षा सरल था। महान प्रसिद्ध अंग्रेजी वित्तीय राजनेताओं में सर रावर्ट पील का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उनके द्वारा मुक्त व्यापार का और भी विकास हुआ। १८४१ और १८४६ के बीच उन्होंने आयकर लगाया जिससे उन्हें इतनी बचत हुई कि उन्होंने तट कर घटा दिए। उन्होंने कच्चे माल के आयात को कर मुक्त कर दिया और बहुत सीमा तक निर्मित और अर्धनिर्मित वस्तुओं पर आयात कर घटा दिया। १८४६ तक कोयले को छोड़ सभी निर्यात कर समाप्त कर दिया। कच्चे माल पर से भी अधिकांश कर हटा लिया गया। पील की कार्यप्रणाली के सिद्धान्त निम्नलिखित थे: (१) हस्किसन की तरह उनका लक्ष्य सभी तरह के नियंत्रणों को हटाना था। (२) उनकी इच्छा कच्चे माल पर सभी प्रकार के करों को घटा कर उन्हें नाम मात्र कर देने की थी। (३) उनकी इच्छा तैयार माल पर कर घटा कर उसे औसत २०% कर देने की थी।

जिस प्रकार हस्किसन ने पील के लिए भूमिका तैयार की उसी तरह पील ने ग्लैडस्टोन के लिए मुक्त व्यापार चक्र पूरा करने की नींव डाली। ग्लैडस्टोन वित्त मंत्री हो गए और १८५३ में उन्होंने पहला आय-व्यय लेखा प्रस्तुत किया। उनकी नीति मुख्यतः पील की नीति को स्थायी रखना था पर उनकी लोकप्रियता के कारण मुक्त व्यापार में सफलता बहुत कुछ निश्चित थी। आयकर फिर भी जारी रहा यद्यपि इसे १८६० में समाप्त करने का वचन दिया गया था। क्रीमियन युद्ध ने इसे असम्भव कर दिया अतएव दाय कर (Legacy Duty) वास्तविक सम्पत्ति तक लागू कर दिया गया। साबुन कर हटा दिया गया और चाय कर घटा दिया गया। समाचार पत्रों के विज्ञापनों पर कर कम किया गया और बाद में समाप्त ही कर दिया गया। इस सबका लगभग सौ वस्तुओं पर प्रभाव पड़ा। तैयार वस्तुओं के आयात पर कर १८६० में हटा दिया गया। इस प्रकार इंगलैंड पूर्णतः एक मुक्त व्यापार का देश हो गया।

ब्रिटिश मुक्त व्यापारियों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि १८६० में फ्रांस के साथ कावडन संधि बनने पर हुई। यह बहुत ही महत्वपूर्ण इस कारण भी थी, जैसा कि कावडन ने कहा है, कि हर दस फ्रांसीसियों में से नौ इसके विरुद्ध थे। फ्रांसीसी सरकार सभी नियंत्रणों को समाप्त करने तथा ब्रिटिश कोयले, लोहे, मशीनों और सूती कपड़ों पर कर घटा कर नए रूप से उन्हें ३० प्रतिशत करने के लिए राजी हो गई। इंगलैंड ने फ्रांसीसी रेशम और शराब को कर से मुक्त कर दिया। दोनों देशों के बीच व्यापार बढ़ने के लिए पारस्परिक सुविधायें दी गईं। समयानुसार ब्रिटेन ने इन सुविधाओं को विश्वव्यापी बना दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रिटिश शुल्क प्रणाली में से रहे बचे शुल्क भी समाप्त कर दिए गए।

अन्न अधिनियमों की समाप्ति. कृषि के क्षेत्र में अन्न अधिनियमों (corn laws) के कारण बड़ा मतभेद उत्पन्न हो गया था। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में उनका महत्वपूर्ण स्थान था और जब इंगलैंड में अबन्ध नीति को अपनाने का प्रश्न उठा तो अर्थशास्त्रियों और राजनेताओं में वाद विवाद हुआ। इन अधिनियमों के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए गए : (१) कृषि सुधार में पूँजी लगाई गई थी और मुक्त आयात के कारण जमींदार और कृषक बर्बाद हो जायेंगे; (२) कृषि कार्यों में कमी के कारण कृषि मजदूरों की स्थिति और भी खराब हो जाएगी। इन लोगों की सामाजिक स्थिति कृषि क्रान्ति के कारण वैसे ही बिगड़ गई थी। अब अन्न अधिनियमों की समाप्ति के कारण उन पर और बुरा प्रभाव पड़ेगा; (३) युद्धों की आवश्यकताओं और राजनीतिक कारणों से भी कृषि संरक्षण नीति की आगे भी आवश्यकता थी। आत्म निर्भरता प्राप्त करने के लिए भी यह आवश्यक था कि इंगलैंड अपनी आवश्यकता के लिए खाद्यान्नों का उत्पादन करे।

परन्तु देश के सामान्य हितों की रक्षा के लिए विशेषतः निर्माताओं के हितों की दृष्टि से अन्न अधिनियम की समाप्ति की माँग की गई थी। लोगों का कथन था कि अन्न अधिनियम के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाई थी। औद्योगिक मजदूर चाहते थे कि उन्हें सस्ता खाद्यान्न प्राप्त हो। उद्योगों में भी सस्ते कच्चे माल की अत्यधिक आवश्यकता थी। करों में सरलीकरण की जो माँग हस्किसन और पील ने की थी वह उचित ही थी और इससे हर दिशा में करों की कमी करवाने के लिए मार्ग खुल गया। अब खाद्यान्न ही ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु थी जिस पर संरक्षण की नीति लागू थी। नई अवन्ध नीति में यह स्थिति विरोधात्मक थी।

ये बातें पील को स्पष्ट हो गयी थी जिन्होंने अन्न अधिनियम को समाप्त करने का उत्तरदायित्व तथा श्रेय लिया। १८१५ के अन्न अधिनियमों के अन्तर्गत खाद्यान्नों के आयात पर भारी शुल्क लगता था और जब तक गेहूँ का घरेलू भाव किसी निश्चित दर से कम न हो जाए, उसके आयात पर लगभग निपेध की स्थिति थी। बाहर से ऐसा लगता था कि अन्न अधिनियमों के सिद्धान्तों में दुर्गुण थे। औद्योगिक आवादी के सभी लोग साधारणतया अन्न अधिनियमों को शंका की दृष्टि से देखते थे। १८२० में लन्दन के व्यवसायियों के एक समूह ने संसद के पास एक याचिका (Petition) भेजी जिसमें वाणिज्य की स्थिति का व्यौरा दिया था और १८२१ में लार्ड्स और कामंस की जाँच समिति ने लम्बी जाँच के बाद अपनी रिपोर्ट दी। इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट था कि अन्न अधिनियमों के प्रति समिति का विश्वास हट गया था। अन्न अधिनियमों की समाप्ति के लिए माँग बढ़ी। संसद के बाहर और भीतर इस आन्दोलन ने गम्भीर रूप धारण किया। आन्दोलन चलाने वाली प्रमुख संस्था का नाम 'अन्न अधिनियम विरोधी लीग' था जिसकी स्थापना १८३९ में की गई थी। १८४४ और १८४५ की खराब फसलों और १८४५-४६ में आयरलैंड के अकाल के कारण अन्न अधिनियमों का विरोध हर क्षेत्र से हुआ। २७ जनवरी, १८४६ को पील ने निम्नलिखित सुझाव दिए : (१) अन्न अधिनियम पूर्णतः समाप्त कर दिया जाय; और (२) खाने की अन्य १५० वस्तुओं, कच्चे माल और तैयार माल पर शुल्क या तो समाप्त कर दिया जाय या कम कर दिया जाय। लम्बी गरमा गरम वहस के बाद उपरोक्त सुझावों को स्वीकार कर लिया गया। अन्न अधिनियमों की समाप्ति के कारण इंगलैंड में विनियमन तथा संरक्षण नीति हटा ली गई और इस प्रकार इंगलैंड मुक्त व्यापार के लिए प्रसिद्ध हो गया।

नौ परिवहन अधिनियमों की समाप्ति. नौ परिवहन अधिनियम उस समय पास किए गए थे जब वाणिज्यवाद की नीति प्रचलित थी। अनेक नौ परिवहन अधिनियमों का (जिनका आरम्भ १३८१ में हुआ था) यह उद्देश्य था कि प्रतिरक्षा

(defence) के उद्देश्य से अंग्रेजी नौ परिवहन का विकास किया जाय। उस समय विशेष रूप से नौ सेना नहीं थी, इसलिए हर जहाज से देश में सुरक्षा की भावना बढ़ती थी। उनका उद्देश्य यह था कि उपनिवेश तैयार माल के लिए महत्वपूर्ण बाजार होने के साथ-साथ कच्चे माल की पूर्ति के श्रोत भी हों। अंत में १८२२ और १८५४ के बीच इन अधिनियमों को समाप्त कर दिया गया।

प्रुशिया, डेनमार्क, स्वीडन, संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रिया, फ्रैंकफोर्ट, हालैंड और अन्य देशों के साथ १८२५ और १८४३ के बीच होने वाले समझौतों के कारण नौ परिवहन अधिनियमों में परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे शतक में कई राष्ट्रों ने ब्रिटिश नौ परिवहन के प्रभुत्व के प्रति रोष प्रगट किया और उन्होंने अपने नौ परिवहन अधिनियम के द्वारा बदला लेने की धमकी दी। फलतः १८२४ में ग्रेट ब्रिटेन ने आपसदारी के आधार पर नौ परिवहन सम्बन्धी संधियाँ करने का निश्चय किया।

१८२२ और १८२५ के बीच इन अधिनियमों में संशोधन किया गया जिससे उपनिवेशों के साथ मुक्त व्यापार किया जा सके। इस प्रकार उपनिवेशों से व्यापार का एकाधिकार समाप्त हो गया और अब उन्हें विदेशों से सीधे व्यापार करने की अनुमति प्राप्त हुई। फिर भी कुछ नियंत्रण लागू रहे। १८४० तक मुक्त व्यापार आन्दोलन पूर्ण गति से चलने लगा और अन्न अधिनियम की समाप्ति तथा तटकर में संशोधन आदि सुधार हो चुके थे। इस अवधि में अमरीका के व्यापारिक समुद्री बेड़ों की तैयारी तेजी से हुई। उनके जहाजों की गति तीव्र थी और वे कम भाड़े पर माल ले जाते थे। फलतः ब्रिटिश व्यवसायियों ने भाड़ा कम करने और प्रतिस्पर्धा के द्वारा बाजार पर अधिकार प्राप्त करने का निश्चय किया। अन्त में १८४९ में नौ परिवहन अधिनियम समाप्त कर दिए गए। अब मुक्त व्यापारियों की बन आयी। १८५४ में तट व्यापार (coasting trade) सबके लिए खोल दिया गया। इसके पश्चात् जहाजों में ब्रिटिश नाविकों को रखने का बन्धन भी समाप्त कर दिया गया।

औद्योगिक अधिनियमों की समाप्ति. उद्योग के क्षेत्र में अबन्ध नीति वाणिज्य और व्यापार के पहले ही लागू कर दी गयी थी। सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक विकास के कारण उद्यमकर्ताओं ने हर प्रतिबन्ध का विरोध किया, फलतः सरकार द्वारा कोई भी नियमन जिसका वे विरोध करते थे प्रभावी नहीं हो सकता था।

श्रम और उद्योग के क्षेत्र में अबन्ध नीति का प्रभाव निम्नलिखित प्रमुख दिशाओं में हुआ: (१) एलिजाबेथ काल का औद्योगिक विधान जिसे कारीगरों या अपरेंटिसों का

अधिनियम कहा जाता था, १७५६ में समाप्त कर दिया गया। (२) संगठन नियमों (combination laws) को १८२४-२५ में समाप्त कर दिया गया। वैसे तो मजदूरी की दरों को मजिस्ट्रेटों द्वारा नियंत्रित करने से सम्वन्धित पुराना अधिनियम तो १८१३-१४ में समाप्त कर दिया गया था पर संगठन नियमों की समाप्ति का प्रभाव यह हुआ कि मजदूर स्वयं ही मजदूरी के लिए सौदा करने लगे। (३) मजदूरों को अपने हितों की रक्षा करने के लिए संघ बनाने का अधिकार १८७५ के ट्रेड यूनियन अधिनियम के द्वारा मिला। इस आन्दोलन को नई यूनियनों ने बल प्रदान किया जिनमें सबसे महत्वपूर्ण इंजीनियरों की सम्मिलित समिति (Amalgamated Society of Engineers) थी। इस संस्था का नेतृत्व योग्य तथा कुशल व्यक्तियों के हाथ में था जिन्हें "जुन्टा" (Junta) कहा जाता था। (४) १८३०-७० का काल ब्रिटिश नगरों के इतिहास में अशुभ काल था। नगरों के प्रवन्ध तथा आयोजना पर कोई नियंत्रण नहीं था। पानी, जल विकास और हवा का प्रवन्ध नहीं किया जाता था। गन्दी बस्तियों की समस्या विकट हो गई थी। उनके सुधार के लिए जो प्रयत्न अवन्ध नीति के नाम पर किए जाते थे उनसे सम्वन्धित विधान शीघ्र ही पुराना पड़ जाता था। १८७० के बाद ही ब्रिटेन सामाजिक स्वच्छता की आवश्यकताओं के प्रति सतर्क हो सका। (५) १८३४ तक दरिद्र रक्षा कानून (Poor Law) और अधिवासन अधिनियम (Settlement Law) का पालन ठीक से नहीं किया जाता था। दरिद्र रक्षा कानून के अन्तर्गत सहायता को मजदूरी के पूरक के रूप में उपयोग किया जा सकता था जिससे मजदूर हतोत्साहित हो उठे थे। दरिद्र रक्षा कानून की इस निराशाजनक स्थिति में सुधार का कार्य १८३४ में आरम्भ हुआ था। इसके सिद्धान्त मूल अधिनियम से भिन्न थे और सुधार आन्दोलन के अग्रणी लोगों का विचार था कि दरिद्र-रक्षा कानून की उपेक्षा करके वे कंगाली को दूर कर सकते थे। अब पेशेवर आवारागर्द और व्यापारिक मंदी से प्रभावित मजदूरों में कोई अन्तर नहीं माना जाता था। (६) मुद्रा और वित्त के क्षेत्र में अवन्ध नीति प्रभावी ढंग से क्रियान्वित की गई थी। इंगलैंड इस बात के लिए वचनबद्ध था कि राजस्व (revenue) के लिए ही कर लगाए जायँगे। राष्ट्रीय ऋण जो अब तक सत्तर करोड़ पौंड हो गया था, उसकी अदायगी या उसको कम करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। अब तक संयुक्त पूँजी बैंकिंग का जो एकाधिकार बैंक आफ इंगलैंड को प्राप्त था वह समाप्त कर दिया गया।

औपनिवेशिक अवन्ध नीति. नई औपनिवेशिक नीति से केवल यह तात्पर्य है कि औपनिवेशिक प्रशासन में अवन्ध नीति का प्रसार करना। अमरीका के तेरह उपनिवेशों में सफल विद्रोह होने के कारण अंग्रेजी औपनिवेशिक नीति में परिवर्तन हुआ। उपनिवेशों को अप्रिय और अविश्वास की दृष्टि से देखा जाने लगा। यह प्रश्न

उठा कि ग्रेट ब्रिटेन उपनिवेशों की रक्षा करने का दुष्कर उत्तरदायित्व क्यों ले और उन्हें स्वतन्त्र क्यों न कर दिया जाय। यह धारणा पैदा हुई कि उपनिवेशों से कोई लाभ नहीं है और बिना उनके इंगलैंड की स्थिति अधिक अच्छी रहेगी। इस प्रकार उपनिवेशों के प्रति उपेक्षा का भाव जागता गया। दास प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन से उपनिवेशों के प्रति उपेक्षा और बढ़ गयी। १८०७ में दास व्यापार समाप्त हो गया और ब्रिटिश उपनिवेशों में यह प्रथा केवल १८३३ तक ही रह सकी। इस प्रकार १७८३ और १८७० के काल में औपनिवेशिक अबन्ध नीति का प्रचलन हुआ। उपनिवेश भार स्वरूप हो गए।

पीछे इस बात पर विचार किया जा चुका है कि नौ परिवहन अधिनियम वाणिज्य-वाद काल की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी परन्तु इन्हें अबन्ध नीति के अन्तर्गत समाप्त कर दिया गया था और अब उपनिवेश स्वतंत्र रूप से अन्य देशों से व्यापार कर सकते थे और उनके साथ वाणिज्यिक संधि कर सकते थे। १८६७ में कनाडा को स्वशासी (self-governing) डोमीनियन घोषित कर दिया गया जिससे कनाडा को भीतरी मामलों के ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया था।

अबन्ध नीति के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ

ग्रेट ब्रिटेन ने स्वतंत्र व्यापार की नीति तभी तक अपनायी जब तक वह उसके व्यापार और वाणिज्य के विस्तार में सहायक हुई। अन्य क्षेत्रों में भी तब तक कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया जब तक यह नीति ब्रिटेन के औद्योगिक हितों के लिए लाभ-प्रद थी क्योंकि इससे देश के राष्ट्रीय हितों की रक्षा होती थी। परन्तु अब अबन्ध नीति से लाभ का समय समाप्त हो चुका था। आर्थिक स्थिति इतनी अनिश्चित हो चुकी थी कि सरकार के लिए अबन्ध नीति के बहिष्कार के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया था। विवश होकर सरकार को आर्थिक व्यवस्था का पुनर्संगठन करना पड़ा, जिससे व्यापार और वाणिज्य में लोगों का विश्वास पुनः स्थापित हो सके। अबन्ध नीति के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ १८७० के बाद आरम्भ हो गयी थीं परन्तु इसका पूर्ण परित्याग १९२९ की मंदी तक नहीं हो पाया था। इस नीति के परित्याग के कई कारण थे।

व्यापारिक मंदी. ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में मंदी का काल समय-समय पर आता रहा और इसका प्रमुख कारण "राज्य द्वारा नियंत्रण का सर्वथा अभाव" था। औद्योगिक क्रान्ति के समय तथा तत्पश्चात् आर्थिक विकास पर व्यापारियों, निर्माताओं, अर्थशास्त्रियों और राज्यमर्मज्ञों के अबन्ध नीति सम्बन्धी विश्वास का सन्तोषजनक प्रभाव पड़ा। परन्तु इस विश्वासजनक स्थिति पर १८७९, १८८६, १८९४,

१९०३, १९२१ और १९२९ की मन्दी का बुरा प्रभाव पड़ा जिससे कि अबन्धीय ब्रिटिश अर्थव्यवस्था टूटने लगी। राज्यमर्मज्ञों और अर्थशास्त्रियों को यह लगने लगा कि आर्थिक नीति सम्बन्धी वर्तमान विचारों में संशोधन अत्यन्त आवश्यक हैं। स्वतंत्र व्यापार के कारण उत्पन्न विपरीत स्थिति का मामना करने के लिए पारस्परिकता, प्रतिकार, प्रत्युत्तर में कर लगाना, औपनिवेशिक अधिमानता, आदि कुछ उपायों की सहायता ली गई। साथ ही विदेशियों पर कर लगाने और साम्राज्य के देशों के बीच सम्बन्धों को दृढ़ करने के लिए सुझाव भी दिए गए। आरम्भ में मंदी का प्रभाव कृषि क्षेत्र में प्रगट हुआ जिससे कि कृषि उत्पादन, लगान, और किसानों के लाभ में भारी कमी आयी। बाद में इसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों में प्रगट होने लगा। मंदी का प्रमुख कारण यह था कि संसार के नए कृषि प्रधान देशों से दिनों दिन प्रतिस्पर्धा बढ़ती जा रही थी और बाद में योरोप और अमरीका के औद्योगिक देशों से भी प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी। इसके लिए यही उपचार रह गया था कि कृषि उपज और निर्मित वस्तुओं के आयात पर शुल्क प्रतिबन्ध लगाया जाय।

१८८० के पश्चात् औद्योगिक तथा वाणिज्यिक लाभ घटने के कारण उद्योगपतियों और वाणिज्यिक नेताओं को घरेलू उद्योगों के विकास में संरक्षण नीति के महत्व पर विश्वास हुआ।

प्रतिकूल व्यापार संतुलन. १८८५-९० में यह पता लगा कि देश का आयात बहुत तेजी से बढ़ा और निर्यात में विकास की गति बहुत धीमी थी। सरकार को विवश होकर निर्यात को बढ़ाने और आयात पर प्रतिबन्ध लगाने के उपाय अपनाने पड़े जिससे व्यापार सन्तुलन में प्रतिकूलता समाप्त हो गयी।

अन्य क्षेत्रों में प्रतिक्रियाएँ. राज्य के यथोचित कार्यों के प्रति जनमत में तीव्र परिवर्तन हुआ। राज्य औद्योगिक मजदूरों और जनसंख्या के अन्य निर्बल वर्गों के हितों की रक्षा के लिए अनेक उपायों का सहारा लेती थी। कारखाना विनियमन, अनिवार्य शिक्षा, कारखाना मालिकों के दायित्व सम्बन्धी विधान तथा अन्य उपायों के द्वारा मजदूरों के हितों की रक्षा होती थी। राज्य के इन सामाजिक तथा आर्थिक विनियमन के कार्यों से जनता परिचित हो चुकी थी और तटकरों द्वारा व्यापार नियंत्रण की पद्धति के प्रति जनता का झुकाव स्पष्ट रूप से प्रगट हुआ।

अबन्ध नीति के विरोध में प्रतिक्रियाएं केवल वाणिज्यिक नीति के विरोध में ही नहीं हुई वरन् १८७० के बाद राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में ऐसी प्रतिक्रियाएं हुईं। सरकार द्वारा अनेक उपायों के कारण मजदूरों की स्थिति में सुधार हुए। मजदूर संघों, एकीकरण और ट्रस्टों के कार्यों में विधिकारों का एक विशिष्ट समूह विशेष रुचि लेने लगा। कृषि के क्षेत्र में राज्य द्वारा विनियमन की क्षमता बढ़ी। परिवहन

के क्षेत्र में भी भाड़ा और भारद्ररों का विनियमन किया गया। नगरपालिकाओं ने भी अपना कार्य क्षेत्र अधिक बढ़ा लिया। कुछ नगरपालिकाओं ने गृह निर्माण योजनाओं को संचालित किया और कुछ ने ट्रामों और बिजली संस्थानों को संगठित किया।

अन्य देशों में संरक्षणवाद. स्वतत्र व्यापार नीति के कारण ग्रेट ब्रिटेन इस समय अकेला पड़ गया था। फ्रांस, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य योरोपीय देश पूर्णतः संरक्षण नीति का पालन करने लगे थे। ब्रिटिश स्वशासित उपनिवेश भी अपने नए और विकसित उद्योगों के प्रति संरक्षण नीति पर जमे रहे। इस प्रकार ब्रिटेन ही एक ऐसा देश रह गया जो अन्य देशों से निःशुल्क आयात करता था जबकि अन्य देशों में उसे अपने निर्यात पर भारी शुल्क चुकाना पड़ता था।

समाजवाद की विभिन्न विचारधाराएं. अबन्ध नीति की आलोचना करने वाले अनेक विचार-धाराओं के प्रवक्ता उठ खड़े हुए जो समाजवाद के पक्ष में थे। कुछ विचारकों ने जो आगे चलकर प्रारम्भिक अंग्रेजी समाजवादी के नाम से प्रसिद्ध हुए, अवन्ध नीति का घोर विरोध करना आरम्भ किया। इनमें चार्ल्स हाल, राबर्ट ओवेन, विलयम टाम्सन, जान ग्रे, टामस हॉजस्किन, जान ब्रे आदि प्रमुख हैं। ये विचारक रिकार्डो की विचारधारा के ऋणी थे, विशेष रूप से उनके इस सिद्धान्त के कि "श्रम मूल्य का श्रोत" है। इस सिद्धान्त से वे उत्पादक तथा अनुत्पादक वर्गों में स्पष्ट भेद करने लगे। पूँजीपति को उन्होंने अनुत्पादक आलसी व्यक्तियों के समूह में रखा। उन्होंने भूसम्पत्ति के पुनर्वितरण, सहकारी ग्रामों के निर्माण, और सामाजिक साख के कुशल प्रयोग पर जोर दिया। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स को नहीं भुलाया जा सकता। उन्होंने पूँजीपति अर्थव्यवस्था की असफलता का मर्म-भेदी विवरण दिया है और अपने ऐतिहासिक निबन्ध में उन्होंने संकेत किया कि श्रमिक वर्ग एक दिन अत्याचारियों (पूँजीपति वर्ग) के विरुद्ध उठ खड़ा होगा। संपत्तिहरण करने वालों (expropriators) को बेदखल कर दिया जायगा तथा राज्य उत्पादन के श्रोतों पर पूर्ण नियंत्रण कर लेगा। मार्क्स के विचारों को इंगलैंड के कई लेखकों ने लोकप्रिय बनाया और राज्य की नीति को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। इंगलैंड में फेबियन समाजवाद का भी जन्म हुआ। फेबियन विकासवादी (evolutionist) थे और उनमें से अधिकतर मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी, नौकरी पेशेवाले, विश्वविद्यालय अध्यापक और साहित्यकार थे। इनमें सिडनी वेब और बर्नार्डशा अग्रणी थे। उन्होंने राज्य के कार्यों और राष्ट्रीयकरण के प्रसार पर और महत्वपूर्ण सामाजिक सेवाओं को नगरपालिकाओं के शासन में लाने के लिए जोर दिया। उनके विचार में इस प्रवृत्ति से समस्त आर्थिक क्रियाओं पर सामाजिक नियंत्रण हो जाएगा। फेबियन लोग समाजवाद के आगमन की भविष्यवाणी उसी विश्वास से करते थे जैसा कि

मार्क्स का अपना विचार था। संघ समाजवाद (guild socialism) का आन्दोलन १९१० में विकसित हुआ जिसके अनुसार राज्य को, उत्पादकों और उपभोक्ताओं के परस्पर विरोधी दावों की समस्या के समय मध्यस्थ के रूप में कार्य करना चाहिए।

फासिस्टवाद का विकास कम महत्वपूर्ण नहीं था और इसके कारण भी अबन्ध नीति का परित्याग किया गया। फासिस्टवाद का आन्दोलन समाजवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण आरम्भ हुआ था। परन्तु उसके आर्थिक कार्यक्रम में वर्तमान अर्थव्यवस्था की आलोचना निहित थी और उसमें वर्द्धमान अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के सुझाव भी दिए गए थे। ये समस्त आन्दोलन संयुक्त तथा पृथक रूप से अबन्ध नीति के विरोधी थे।

प्रथम विश्व महायुद्ध. प्रथम विश्व महायुद्ध में आय हेतु वस्तुओं के आयात पर भारी कर लगे। ये भारी कर युद्ध के बाद भी जारी रहे। इस तरह युद्ध कुछ सीमा तक अबन्ध व्यापार नीति को छोड़ने के लिए उत्तरदायी था। तटकरों से व्यापार संरक्षण को भी अधिक सुविधा मिली। १९१५ में 'मैकना ड्यूटीज ऐक्ट' पारित हुआ, इसमें विलास सामग्रियों जैसे सिनेमा, फिल्मों, घड़ियों, मोटर गाड़ियों और वाद्य-यंत्रों पर कर लगे। परम्परागत व्यापार से यह महत्वपूर्ण विच्छेदक कदम था। युद्ध के बाद १९२१ में 'सेफगार्डिग आफ इंडस्ट्रीज ऐक्ट' के अन्तर्गत मौलिक उद्योगों के लिए विदेशों से मंगाई जाने वाली कुछ वस्तुओं पर राजस्व करों से भिन्न संरक्षक कर लगाए गए। आयात पर ३३⅓ प्रतिशत यथामूल्य कर (ad valorem) लगाया गया। यह विशेषतः उन उद्योगों पर लागू था जो राष्ट्रीय सुरक्षा और औद्योगिक संरक्षण के लिए आवश्यक थे जैसे वैज्ञानिक यंत्र निर्माण, प्रकाशीय कांच; बेतार के तार के वाल्व और विभिन्न रासायनिक यंत्र और अन्य यंत्र। बोर्ड आफ ट्रेड को घरेलू उद्योगों को अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्धा तथा विनिमयजन्य असमता से बाजार में वस्तु बाहुल्य रोकने के विषयक संरक्षक अधिकार दिए गए।

साम्राज्य अधिमानता नीति. युद्धोत्तर काल में समस्त संसार में आर्थिक राष्ट्रीयता की प्रबल लहर आयी। आर्थिक आत्म निर्भरता के आदर्श पूर्ति के लिए योरोप के विभिन्न देशों और अन्य महाद्वीपो में नए उद्योगों के संरक्षण की कार्यवाही हुई। इसके फलस्वरूप आर्थिक युद्ध और गुट बन्दियां आरम्भ हो गई। तटकर बढ़ा दिए गए और हर एक देश अपना माल तो दूसरों को बेचना चाहता था पर दूसरों का माल नहीं खरीदना चाहता था। १९२६ के 'मर्केन्डाइज मार्क्स ऐक्ट' के अनुसार "ब्रिटिश माल खरीदो" का नारा बुलंद किया गया और इंगलैंड में आर्थिक राष्ट्रीयता की लहर छा गई। चूँकि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ४ करोड़ जनसंख्या के

लिए अन्न उत्पादन करने में समर्थ नहीं था अतएव उसने साम्राज्य- अबन्ध व्यापार या साम्राज्य अधिमानता का आन्दोलन आरम्भ किया।

अबन्ध व्यापार के अन्तर्गत अर्थात १८७० के पहले, इंगलैंड ने औपनिवेशिक अबन्ध व्यापार नीति अपनाई थी और उपनिवेशों को कम महत्व के क्षेत्र माना था। पर १८७० के बाद स्थिति फिर बदली। इटली, बेल्जियम, पुर्तगाल, जर्मनी और फ्रांस ने अफ्रीका को हथियाने की दौड़धूप तेज की और रेलों तथा जहाजों ने न केवल ब्रिटिश उपनिवेशों को मातृभूमि के वरन् सभी देशों को एक दूसरे के निकट ला दिया। आन्तरिक भागों में प्रवेश की सम्भावना ने महाद्वीपों का मूल्य बढ़ा दिया। जर्मनी ने राष्ट्रीयता और भावुकतावंश अफ्रीका के क्षेत्र को इस तरह प्राप्त करना शुरू किया जैसे उपनिवेशवाद एक अच्छा धंधा है। ब्रिटेन को ऐसा प्रतीत हुआ कि फ्रांस, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य संरक्षणवादी देश नए क्षेत्रों को हस्तगत करेंगे और मुक्त प्रवेश की नीति नहीं अपनाएंगे। अतएव ब्रिटेन को अपनी औपनिवेशिक नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया।

रेलों और जहाजों के आगमन से अन्य योरोपीय देशों का विकास और नई कम्पनियों का संगठन आरम्भ हुआ। १८९५ में एक नया रचनात्मक साम्राज्य शाही युग आरम्भ हुआ। यूनाइटेड किंगडम की संसार में स्थिति पुनः बदली। विदेशी सरकारों ने जहाजों को उपदान दिया, रेलों का वाणिज्य क्षेत्र के संवर्ष में प्रभावशाली हथियार के रूप में उपयोग किया, तटकरों को बढ़ाया, और उपनिवेशों तथा बाजारों की प्राप्ति के लिए कठिन परिश्रम किया। रेलों ने तीन महान भूमि साम्राज्यों—संयुक्त राज्य अमरीका, रूस और जर्मनी—को जन्म दिया जबकि समुद्री यातायात ने चौथे साम्राज्य जापान को बढ़ावा दिया। इन परिस्थितियों में यूनाइटेड किंगडम को औपनिवेशिक मामलों में अबन्ध व्यापार त्यागना पड़ा जिससे वह अपने समुद्र पार के अधिकार क्षेत्रों से निकट सम्बन्ध स्थापित कर सके और विदेशियों से सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्धा कर सके।

१८९५ में जोसफ चैम्बरलेन के हाथ में उपनिवेशों के प्रबन्ध का कार्य आया और उन्होंने विस्तारवादी नीति के स्थान में रचनात्मक साम्राज्यशाही के नए तरीके अपनाए। ब्रिटिश साम्राज्य के दो भाग थे। एक भाग ऐसा था जहाँ श्वेतांग अपना घर बसा कर रह सकते थे और उन्हें स्वायत्त शासन प्राप्त उपनिवेशों का दर्जा मिला था। उन्हें स्वायत्त शासन प्राप्त राज्यों का साम्राज्य कहा जा सकता था और वे मित्र देशीय साम्राज्य भी कहलाते थे। इसे 'ब्रिटिश कामन्वेल्थ आफ नेशंस' भी कहा जाता था। दूसरी ओर ऐसा भाग भी था जो ऊष्ण कटिबन्धीय और उपोष्णकटिबन्धीय क्षेत्र में स्थित था और जहां स्वायत्त शासन नहीं था। उनका

शासन ब्रिटिश संसद से होता था और वे अनिवार्यतः अवन्ध व्यापार करने को वाध्य थे। इन्हें शासन-अन्तर्गत साम्राज्य (empire in trust) भी कहा जाता था। ये दो प्रकार के साम्राज्य थे जिनका शासन भिन्न स्तरों और सिद्धान्तों के अनुसार होता था।

स्वायत्त शासन प्राप्त उपनिवेशों में औपनिवेशिक सम्मेलन होने आरम्भ हुए। हर सम्मेलन के फलस्वरूप आर्थिक सहयोग बढ़ा। इन सहयोग का आधार उपनिवेशों द्वारा स्वीकृत सुविधायें थीं। इनके अन्तर्गत मातृभूमि सुरक्षा का पूर्ण बोझ उठाती थी और इसके बदले में समान वाणिज्य कानून, पेटंट ला जहाज नीति, निर्गमन नीति में एक सूत्रता बढ़ाई जाती थी।

शासनान्तर्गत साम्राज्य क्षेत्रों को इंगलैंड ने तीन तरह की सहायता दी। पहली, रेलों को सीधी वित्तीय सहायता; दूसरी, उन देशों में स्वास्थ्य के अध्ययन के लिए संस्थाओं को प्रोत्साहन; तीसरी, वैज्ञानिक विधि से कृषि विकास और कृषि ज्ञान का विकास। उन्होंने साम्राज्य अधिमानता की अन्य प्रणाली का भी विकास किया। ब्रिटिश वस्तुओं को विभिन्न देशों में अनेक सुविधाएं प्राप्त थीं। साम्राज्यशाही तटकर योजना की एक नवीनता यह भी थी कि साम्राज्यशाही उपयोग के लिए कच्चे माल की सुविधाएं प्राप्त थीं।

संरक्षण की नीति

युद्धोत्तर काल की परिस्थितियों ने इंगलैंड के वाणिज्य और व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डाला क्योंकि नए देशों और क्षेत्रों का औद्योगीकरण हो रहा था। विभिन्न सरकारों द्वारा की गयी मुद्रास्फीत विरोधी कार्यवाही से योरोपीय देशों की शक्ति घट गयी थी। इसके फलस्वरूप ब्रिटिश निर्यात को काफी धक्का लगा। जहाजों की कमी के कारण संसार के बहुत से देशों ने अपने ही व्यापारी जहाजी बेड़े का निर्माण किया जिसका ब्रिटिश व्यापारी जहाजी बेड़े और जहाज निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। कुछ नए साम्राज्य बन गए और उन्होंने भी संरक्षण नीति अपनाई। कोयले के उपयोग में मितव्ययिता के कारण और कोयले के स्थान पर दूसरे पदार्थों के उपयोग से ब्रिटिश कोयला खनन उद्योग को धक्का पहुंचा। पूर्वी देशों में सूती कपड़े के उद्योग की स्थापना से लंकाशायर के माल की मांग घट गई जिससे ब्रिटेन के सूती कपड़ा उद्योग को धक्का लगा। ब्रिटिश बाजारों में अच्छे और सस्ते यातायात तथा मुक्त व्यापार की वृद्धि से और भी बुरा प्रभाव पड़ा। काम के घंटों में कमी और मजदूरों के वेतन में वृद्धि से ब्रिटिश उद्योगों को और भी कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। मालिक और मजदूरों के संघर्ष से मजदूरों में बड़ा असन्तोष फैला जिसका परिणाम

१९२५ की कोयला मजदूर हड़ताल और १९२६ की आम हड़ताल हुआ। इसके अतिरिक्त युद्ध पीड़ित देशों की निर्धनता ने ब्रिटिश माल विशेषतः लोहे और फौलाद की मशीनों, बिजली और अन्य भारी यंत्रों की खरीद घटा दी। ऐसी स्थिति में यह आश्चर्य की बात नहीं है कि युद्धोत्तर काल में ब्रिटिश आर्थिक स्थिति बिगड़ी हुई थी।

ब्रिटिश उद्योगों और बाजारों में इन आर्थिक उलझनों के अतिरिक्त १९२९ की महान मन्दी और आ गयी जिससे कच्चे माल और खाद्यान्नों के भाव अत्यधिक गिर गए इससे मूल उत्पादकों की क्रय शक्ति और भी घट गयी। ग्रेट ब्रिटेन पर निर्भर बहुत से देशों में राजनीतिक प्रगति, उनके बाजारों में ब्रिटिश माल का विरोध आदि से वाणिज्य में कमी हुई, बेकारी बढ़ गयी और लाभ में कमी के कारण ब्रिटिश आर्थिक स्थिति असंतुलित हो गयी।

ऊपर लिखे कारण अबन्ध व्यापार नीति त्यागने के लिए उत्तरदायी थे। राष्ट्रीय सरकार ने अक्टूबर १९३१ में संकटकालीन कदम उठाए। उसने ऐबनार्मल इम्पोर्टेशनम् ऐक्ट, हार्टीकल्चरल प्रोडक्टस ऐक्ट पारित किए। पहले कानून से बोर्ड आफ ट्रेड के अध्यक्ष को वस्तुओं के असाधारण मात्रा में आयात को रोकने के लिए ५० से १०० प्रतिशत कर लगाने का अधिकार मिला। दूसरे कानून के अनुसार ताजे फलों और दूसरे फलों के आयात पर अधिक से अधिक १०० प्रतिशत कर लगाने का अधिकार मिला। इस अस्थायी संरक्षण को १९३२ के इम्पोर्ट ड्यूटीज ऐक्ट से स्थायी बना दिया गया। इस ऐक्ट से उन सभी वस्तुओं पर जिनपर कर नहीं लगा था या जो कर मुक्त नहीं थे, १० प्रतिशत का सामान्य संरक्षण कर लगा। जिन वस्तुओं पर १९१५ और १९२१ में संरक्षण कर लगाया जा चुका था उन पर नऐ कानून के अन्तर्गत कर नहीं लगा था। इस कानून के द्वारा इम्पोर्ट ड्यूटीज एडवाइजरी कमेटी नियुक्त की गई जो सामान्य तटकर के स्थान पर अतिरिक्त कर लगाने के लिए सुझाव दे सकती थी। यह समिति बाद में चल कर प्रभावी कर लगाने वाली निकाय (body) बन गयी।

१९३२ के इम्पोर्ट ड्यूटीज ऐक्ट ने दो प्रकार के तटकर लगाए—(१) सामान्यतः विदेशों के लिए कर था। ये इम्पोर्ट ड्यूटीज एडवाइजरी बोर्ड या द्विपक्षीय पारस्परिक समझौतों की सिफारिशों के आधार पर सामान्य कानून के अन्तर्गत लगाए जाते थे। (२) अधिमान्य कर जो साम्राज्य अन्तर्गत देशों के आयात पर लगाए जाते थे।

इम्पोर्ट ड्यूटीज एडवाइजरी कमेटी ने १९३१ में लगाए गए व्यस्थायी करों पर पुनर्विचार किया और अनेक वस्तुओं पर २० प्रतिशत तक अतिरिक्त कर लगाने

की सिफारिश की। विलास सामग्री पर २०-२५ प्रतिशत तक और साइकिल या साइकिल के हिस्सों पर ३३ प्रतिशत तक कर बढ़ा दिए गए।

सरकार ने कुछ देशों जैसे नार्वे, स्वेडन, डेनमार्क आदि से द्विपक्षीय व्यापार समझौते किए। इन देशों से मांग की गयी थी कि वे आयात निर्यात में इस तरह की समता लाएं कि जिससे वे अधिक ब्रिटिश माल खरीद सकें और ब्रिटेन भी उनका अधिक माल खरीदे। ये द्विपक्षीय समझौते तटकरों को घटाने पर आश्रित थे। ग्रेट ब्रिटेन ने बहुत से देशों के तटकर घटाए जिनसे उसकी अधिमान्य राष्ट्र विषयक संधि थी।

१९३४ में इंगलैंड ने फ्रांस पर बदले की कार्यवाही के सम्बन्ध में भारी आयात कर लगाए। इसके फलस्वरूप शीघ्र ही दोनों देशों में समझौता हो गया और बदले की कार्यवाही त्याग दी गई। इसी तरह इंगलैंड ने जापान के विरुद्ध भी प्रतिकार किया क्योंकि जापान ने ब्रिटिश बाजारों में अपने माल की भरमार (dump) कर दी और ब्रिटिश साम्राज्य में भारी प्रतिस्पर्धा पैदा कर दी। चूंकि जापान और ब्रिटेन में समझौता नहीं हो सका अतएव ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों में जापानी माल के आयात का कोटा (quota) बांध दिया।

इस काल में ब्रिटिश अधिमान्य नीति जारी रही। इस सम्बन्ध में १९३१ में ओटावा में आयोजित इम्पीरियल सम्मेलन का विशेष महत्व है क्योंकि इस सम्मेलन में ब्रिटिश सरकार ने अधिमान्य नीति को सुदृढ़ किया। ओटावा समझौते के अनुसार ब्रिटिश साम्राज्य के देशों को ब्रिटिश माल के खरीद के बदले में उनके निर्यात की रियायतें दी गई। इन देशों के माल को १९३२ के इम्पोर्ट ड्यूटी ऐक्ट के अन्तर्गत कर नहीं देने पड़े।

सीमा शुल्क (customs duty) के अतिरिक्त १९३२ और १९३३ में कुछ गैर तटकर कदम (non-tariff measures) भी उठाए गए। उदाहरण स्वरूप, कई कोटा प्रणालियां चालू की गईं जैसे १९३२ का 'व्हीट ऐक्ट'। ये नए तटकर और कोटा विदेशों से वाणिज्य समझौते करने में सहायक हुए, जिससे ब्रिटिश व्यापार बढ़ा और विशेषतः निर्यात करने वाले उद्योगों की स्थिति सुधरी।

१९३५ में 'सेफगार्डिंग आफ इंडस्ट्रीज ऐक्ट' समाप्त होने वाला था परन्तु बोर्ड आफ ट्रेड द्वारा नियुक्त एक समिति की सिफारिश पर इस कानून के अन्तर्गत शुल्कों को दस वर्षों के लिए लगाने की अनुमति मिल गई। जिन वस्तुओं पर यह शुल्क लगा था उनके निर्माताओं के लिए स्वतंत्रता थी कि यदि वे चाहें तो शुल्क दर बढ़ाने के लिए इम्पोर्ट ड्यूटीज एडवाइजरी कमेटी से अनुरोध कर सकते थे। १९३८ में 'मेकना

ड्यूटीज' समाप्त कर दी गई और इसके बदले में उसी प्रकार के कर इम्पोर्ट ड्यूटीज ऐक्ट के अन्तर्गत लगाए गए। इस प्रकार इम्पोर्ट ड्यूटीज एडवाइजरी केमेटी द्वारा लगाए गए करों का क्षेत्र जो १९३२ में ही अधिक था अब और भी विस्तृत हो गया। राजस्व आय के क्षेत्र को छोड़ कर समस्त क्षेत्रों में इम्पोर्ट ड्यूटीज एडवाइजरी कमेटी कर लगा सकती थी।

आधुनिक तटकर नीति. द्वितीय महायुद्ध में शासकीय खरीद और विभिन्न आयात नियंत्रणों के कारण तटकर संरक्षण का अपेक्षाकृत कम महत्व था। १९४९ में तटकर फिर संरक्षण का प्रभावशाली अंग बना। युद्ध काल से तटकरों के क्षेत्र में अनेक तरह की प्रगति हुई है।

(क) यूनाइटेड किंगडम के तटकर में पर्याप्त हेर फेर हुआ। इस हेर फेर का आधार जनरल एग्रीमेंट ऑफ टैरिफ एण्ड ट्रेड नामक एक सामान्य समझौता है। इस से वर्तमान सुविधायें तो लागू रहेंगी पर नई रियायतों पर रोक है। जनरल एग्रीमेंट समझौते का उद्देश्य धीरे-धीरे वाणिज्य स्वतंत्रता देना था। इसके अन्तर्गत इंगलैंड कुछ देशों के माल पर आयात कर नहीं बढ़ा सकता। इसका उसके लगभग आधे व्यापार पर प्रभाव पड़ता है। कुछ मामलों में दूसरे देशों और राष्ट्र मण्डलीय (Commonwealth) देशों की सलाह से रियायतों को कुछ घटाया गया है।

(ख) हाल के दो कानूनों ने ब्रिटिश तटकर नीति पर बड़ा प्रभाव डाला है। ये हैं:—कस्टमस ड्यूटी ऐक्ट (१९५७) और इम्पोर्ट ड्यूटी ऐक्ट (१९५८)। पहले कानून के अन्तर्गत बोर्ड आफ ट्रेड को किसी भी प्रकार के आयात माल पर कर लगाने का अधिकार है। इसमें वह सब माल सम्मिलत है जो अनुदान प्राप्त हो या जिसकी बाजार में भरमार की जानी हो या जो ब्रिटेन के किसी उद्योग को आर्थिक दृष्टि से हानिप्रद हो। दूसरे कानून का सम्बन्ध संरक्षक तटकरों से था। इस कानून को वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप बना दिया गया। इस कानून से तटकरों को अन्तर्राष्ट्रीय सर्वसम्मति रूप प्रदान कर दिया गया। यह कानून १ जनवरी १९५९ से लागू है।

(ग) १९५९ में योरोपीय आर्थिक सहकार संघ (O. E. E. C.) के सात सदस्य—आस्ट्रिया, डेन्मार्क, नार्वे, पुर्तगाल, स्वेडन, स्वीजरलैंड और यूनाइटेड किंगडम—योरोपीय स्वतंत्र वाणिज्य संघ स्थापित करने के लिए तैयार हुए, जिसका उद्देश्य योरोप में वाणिज्य क्षेत्र के गतिरोधों को घटाना था। इसके कारण योरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community) तथा योरोपीय आर्थिक सहकार संघ के अन्य देशों में वैमनस्य बढ़ गया। नवम्बर १९५९ में एक संगमन (Convention) पर हस्ताक्षर किए गए जिसकी पुष्टि सदस्य देशों के द्वारा

१९६० के आरम्भिक काल में कर दी गई। इसके अनुसार योरोपीय आर्थिक सहकार संघ के सदस्य देशों में औद्योगिक वस्तुओं के पारस्परिक व्यापार पर सीमा शुल्क दस वर्षों में धीरे-धीरे कम करने की योजना थी। जूलाई १९६१ तक ३० प्रतिशत की कमी की जा चुकी थी। मार्च १९६१ में फिनलैंड और योरोपीय स्वतंत्र वाणिज्य संघ में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सीमा शुल्क में उत्तरोत्तर कमी करने की व्यवस्था थी।

(घ) यूनाइटेड किंगडम ने फरवरी १९५७ में यह सुझाव दिया कि फ्रांस, वेल्जियम, लक्जमवर्ग, नीदरलैंड, इटली और पश्चिमी जर्मनी (जिन्होंने रोम की संधि मार्च १९५७ के अनुसार योरोपीय आर्थिक समुदाय की स्थापना की थी) और योरोपीय आर्थिक सहकार संघ के अन्य देश योरोप के एक स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र से सम्बद्ध रहेंगे जिसमें औद्योगिक वस्तुओं की प्रधानता रहेगी। यूनाइटेड किंगडम का यह सुझाव नहीं लागू किया गया परन्तु सामान्य तटकरों पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा।

(त) ३१ जुलाई १९६१ को यूनाइटेड किंगडम ने घोषित किया कि वह योरोपीय आर्थिक समुदाय की सदस्यता चाहता है पर शर्त यह है कि इससे यूनाइटेड किंगडम राष्ट्रमण्डलीय देश और योरोपीय स्वतंत्र वाणिज्य संघ के सदस्यों के हितों को आधात न पहुँचे। इसके बाद वार्ताएं आरम्भ हुई पर वे सफल नहीं हुई। यदि इंगलैंड सामान्य बाजार में सम्मिलित होता तो उसके तटकरों के समूचे ढांचे में परिवर्तन हो गया होता।

(थ) अक्टूबर १९६४ में नई लेवर सरकार ने देश की आर्थिक परिस्थिति पर कावू पाने के लिए सारे आयात पर १५ प्रतिशत तुरन्त अतिरिक्त कर की घोषणा की। मँहगाई, मुद्रास्फीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में ह्रासजनक परिस्थिति, कुछ ऐसी समस्याएँ थीं, जिनका शीघ्र निवारण लेवर सरकार का प्रमुख उद्देश्य वन गया। इस प्रकार लेवर सरकार ने पुनः संरक्षण की नीति को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किया जिसके कारण देश-विदेश में अत्यधिक चिन्ता व विरोध भी उत्पन्न हुआ। सरकार ने आश्वासन दिया कि परिस्थिति सुधारने पर अतिरिक्त कर क्रमशः कम होता जाएगा और ब्रिटेन की मौलिक व्यापारिक नीति पुनः वैसी ही हो जायगी जैसे इसके पूर्व थी।

अध्याय ७

सन् १८५० से कृषि विकास

क्रान्ति के बाद कृषि विकास अनेक दशाओं से गुजरा। प्रथम विश्व महायुद्ध में कृषि अर्थव्यवस्था को कृत्रिम तेजी का लाभ प्राप्त था और बाद में यह तेजी से मंदी की ओर अग्रसर हुई और इस बीच महान मंदी (Great Depression) आ गयी। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक इस स्थिति को सम्भालने के लिए कई कदम उठाए गए। युद्ध काल की कृषि समस्याएं प्रथम विश्वयुद्ध काल से विशेष भिन्न नहीं थीं। केवल सरकारी नियंत्रण अधिक पूर्ण था। युद्ध की समाप्ति से कुछ नवीन समस्याएँ आरम्भ हुईं और कृषि के प्रति राज्य के रुख में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ।

स्वर्ण युग (१८५०–७३). इस युग को ब्रिटिश कृषि का स्वर्ण युग कहा जाता है क्योंकि इसमें कीमतें ऊँची हुई, भरपूर खेती हुई, वाणिज्य बढ़ा, काम की स्थितियों में सुधार हुआ और तीव्र गति से रोजगार बढ़ा। जनता के आर्थिक जीवन में भी सामान्य सुधार हुआ। वे धनी हो गए और उन्हें अधिक लाभ हुआ। भूमि की घेराबन्दी जारी रही। जहाँ भी किसानों ने छोटे खेत छोड़ दिए उन्हें बड़े खेतों में मिला दिया गया। उद्योगों के तीव्र विकास से कृषि आबादी घटने लगी। यह १८११ में पूरी आबादी की केवल ३४ प्रतिशत थी जो १८२१ में ३२ प्रतिशत; १८३१ में २८ प्रतिशत; १८४१ में २२ प्रतिशत; १८५१ में १६ प्रतिशत; १८६१ में केवल १० प्रतिशत रह गई। समस्त काल १८५०-१८७० में कृषि विधियों में उत्तरोत्तर सुधार हुआ। जल निकासी की नई विधियों और नए प्रकार के खादों का उपयोग हुआ। नए प्रकार के यंत्रों जैसे हल, बीज बोने के यंत्र, फसल काटने के यंत्र, अनाज साफ करने के यंत्र काम में लाए गये जो या तो घोड़ों से या जल शक्ति से काम करते थे। १८६४ में सरकार ने कृषि आंकड़ों का विधिवत संग्रह और प्रकाशन आरम्भ किया।

कारण. यद्यपि मूलभूत परिवर्तन १७५०–१८५० में हुए पर उनके फल बाद में मिले। साथ ही उद्योगों की बढ़ती और परिवहन तथा संचार के धंधों के विस्तार के कारण खाद्यान्नों और कच्चे माल की बहुत मांग बढ़ गई। औद्योगीकरण के कारण नागरीकरण या शहरों का विकास हुआ। इससे कीमतें और समृद्धि बढ़ी। १८४६ में अन्न अधनियम समाप्त कर दिए गए। पर विदेशी प्रतिस्पर्धा का प्रभाव तुरन्त नहीं पड़ा। कृषि को १८४६ तक संरक्षण मिलता रहा। यद्यपि रेलों

और जहाज़ों के आगमन से वाद के वर्षों में प्रतिस्पर्धा बढ़ी पर १८५० के बाद २५ वर्षों में उन्होंने सदियों के बन्धन तोड़ दिए और भौगोलिक सीमाओं पर विजय प्राप्त कर अपूर्व मात्रा में विनिमय को प्रोत्साहन दिया। इसने ब्रिटिश खेती के लिए नवीन युग प्रस्तुत किया। आस्ट्रेलिया और कैलीफोर्निया में सोने की खानों की खोजों ने मूल्यों और नए धंधों के अवसर बढ़ा दिए। सोने की पूर्ति में वृद्धि के कारण सामान्य मूल्यों में वृद्धि सुनिश्चित थी।

मंदी (१८७४-१९१४). १८७५ के समाप्त होते होते मंदी की छाया पड़ने लगी। इसने ग्रेट ब्रिटेन की कृषि अर्थव्यवस्था में गड़बड़ी पैदा कर दी। यद्यपि मंदी संसार व्यापी थी पर ब्रिटेन में इसका प्रभाव अधिक प्रतिकूल था। खेती योग्य भूमि का क्षेत्र एक चौथाई घट गया। खाद्यान्नों की क्षतिपूर्ति कम सीमा तक मांस, कच्चा माल (मुख्यतः ऊन) के अधिक उत्पादन से पूरी हुई। विदेशी खाद्यानों पर निर्भर आबादी तेजी से बढ़ती गई। यूनाइटेड किंगडम में १८४१-४५ में इतना गेहूँ उत्पन्न होता था जो ६० प्रतिशत आवादी के लिए काफ़ी था। वह घट कर १९०६ तक केवल १०.६ प्रतिशत आवादी के लिए ही पर्याप्त रह गया। १८७६-१९०६ में घास का क्षेत्र एक तिहाई बढ़ गया पर घरेलू पशुओं से मिलने वाले मांस में केवल ७ प्रतिशत वृद्धि हुई।

कारण. कृषि के अवनति के कारणों पर अर्थशास्त्रियों ने अध्ययन और विचार किया है पर बहुत कुछ चर्चा वैज्ञानिक होने के स्थान पर पक्षपातपूर्ण है क्योंकि इसमें सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न शुल्क पद्धति का था। तथापि कुछ मूल तथ्यों के सम्बन्ध में निम्न बातें विचार योग्य हैं। पहला, अवन्ध व्यापार नीति जो उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन की अधिकांश समृद्ध का कारण था। कृषि के विकास में रुकावट का कारण वनी। संसद में उद्योगपतियों और वाणिज्य पतियों के प्रभुत्व के कारण अवन्ध व्यापार की नीति अपनाई गई और वाणिज्य पर नियंत्रण घटाए गए। औद्योगिक और वाणिज्य सम्बन्धी सर्वोच्चता अबन्ध व्यापार का फल था पर इसके दूषित परिणाम १८७३ के बाद दिखलाई पड़ने लगे जब मूल्य गिरने लगे और कृषि को भारी धक्का लगा। नए राष्ट्रों ने अपने नवीन उद्योगों को संरक्षण देने के लिए सीमा शुल्क बढ़ाए और निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए उपदान व्यवस्था की। इंगलैंड ही एक मात्र स्वतंत्र बाजार था जो क्रान्ति के बाद कच्चे माल और खाद्यानों के लिए विदेशों पर आश्रित था। दूसरा, संयुक्त राज्य अमरीका के मध्य पश्चिमी भाग और कनाडा के प्रेरी (Praries) के विकसित हो जाने से मन्दी आयी। उन्होंने प्रतिस्पर्धा बढ़ा दी। अर्जनटाइना, भारत, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी रूस और वाल्टिक देशों से भी प्रतिस्पर्धा बढ़ गई। तीसरा, रेलों और जहाजों के विकास ने आन्तरिक भूमि के विशाल

क्षेत्रों के सदुपयोग की सम्भावनाएँ बढ़ायीं। रेलों और जहाजों ने कच्चे माल तथा खाद्यान्नों को दूर-दूर भेजना सुलभ कर दिया और उन्होंने उपनिवेशवाद के लिए मनुष्यों और धन दोनों को आकर्षित किया। चौथा, शीतगृहों की विधियों के विकास से न्यूजीलैंड, डेनमार्क, हालैंड, नार्वे, आस्ट्रेलिया, अर्जनटाइना और अन्य देशों से मांस और दूध जैसी कम समय में खराब होने वाली वस्तुओं का आयात सुलभ हो गया। पांचवां, तीन महत्वपूर्ण देशों की मुद्रा नीति के कारण सोने के वितरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जर्मनी पहले सोने और चांदी दोनों के सिक्के चलाता था पर १८७३ के बाद उसने सोने के सिक्कों को ही मान्यता दी। अतएव आगामी वर्षों में उसे बहुत सोना विदेशों से मंगाना पड़ा। फ्रांस भी सोने और चांदी के सिक्के चलाता था। पर उसने भी सोने के सिक्कों को ही प्रधानता दी और इसके लिए सोने का अधिक आयात किया। कैलीफोर्निया के सोने का निर्यात योरोप को नहीं हुआ। वहां का सोना संयुक्त राज्य अमरीका में ही खपने लगा। इस प्रकार जर्मनी, संयुक्त राज्य अमरीका और फ्रांस के सोने की मांग के सामने ग्रेट ब्रिटेन के लिए नाम मात्र सोना बचा। फ्रांस और जर्मनी के द्वारा चांदी के सिक्कों को त्यागने से सोने की तुलना में चांदी का मूल्य गिर गया। अंत में मौसम की खराबी, अकाल और महामारी का प्रभाव भी कृषि पर पड़ा। सैकड़ों किसान बर्बाद हो गए और हजारों एकड़ कृषि योग्य भूमि नष्ट हो गई।

आर्थिक तथा सामाजिक परिणाम. आर्थिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से परिणाम भयानक थे। मंदी का कृषि कला पर बुरा प्रभाव पड़ा तथा कृषि विधियों के सुधार में रुकावट आई। तीव्र प्रतिस्पर्धा के कारण कृषि धंधा अलाभकारी हो गया, अतएव कृषि योग्य भूमि चरागाह में बदल गई। इससे उत्पादन में अपूर्व गिरावट आई। किसान गरीब हो गए और उनमें से बहुत से दिवालिया हो गए क्योंकि उनके पास निजी पूँजी नहीं रही। कृषि में पूँजी और लाभ की दृष्टि से १८७५ से १९०५ तक लगभग १६० करोड़ के घाटे का अनुमान किया जाता है। लोगों का कृषि धंधे से विश्वास उठ गया। शहरों में मकानों के किरायों में वृद्धि हो गई क्योंकि लोग गांव छोड़ कर शहरों में जा रहे थे। उद्योगों में लगे मजदूरों का वेतन बढ़ा पर कृषि मजदूरों का वेतन घटा, जिससे शहरी-ग्रामीण सम्बन्धों में गड़बड़ी उत्पन्न हो गयी। गेहूँ और आंटे के अबन्ध आयात ने स्थानीय आंटा मिलों का विनाश कर दिया।

इसका बहुत कुछ दोष घेरेबन्दी को लगा। लोग सोचने लगे कि घेरेबन्दी के कारण ही तीव्र मन्दी और जनता में गरीबी बढ़ी। १८८१-१९०६ में कृषि आबादी में ह्रास विषयक रिपोर्ट बोर्ड आफ एग्रीकल्चर ने इस बात पर जोर दिया कि विदेशी प्रतिस्पर्धा और यंत्रों के बढ़ते उपयोग के कारण मूल्यों में गिरावट आई, जिससे खेतिहर

मजदूरों की मांग घट गई। एक दूसरी समिति ने तटकरों के विषय में सूचना देते हुए १९०६ में कृषि के सम्बन्ध में इन्हीं कारणों की पुष्टि की। इस समिति का कथन था कि खाद्य-पदार्थों के मूल्य में ह्रास के कारण भूस्वामियों ने खेती योग्य भूमि को चरागाहों में बदल दिया और खेतिहर मजदूर बेरोजगार हो गये। ऐसे खेतों पर जहाँ अब भी खेती होती थी, सुधरे-यंत्रों के अधिक उपयोग होने के कारण बहुत से खेतिहर मजदूर बेकार हो गए।

गांवों में कृषि आबादी की कमी न केवल ग्रेट-ब्रिटेन में वरन् जर्मनी, इटली और संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ भागों में हो रही थी पर अन्यत्र यह परिवर्तन इतना तीव्र नहीं था जितना ग्रेट ब्रिटेन में और न स्थिति ही वहाँ इतनी गम्भीर थी। कृषि में ह्रास के बाद ग्रामीण मजदूरों की स्थिति बड़ी दयनीय और गम्भीर हो गयी थी। उनकी मजदूरी उनके पेट भरने के लिए भी पूरी नहीं थी। उनके लिए खेतों का स्वामित्व प्राप्त करने के कोई अवसर नहीं थे और यदि उन्हें मनुष्यों के रहने योग्य मकान मिल जाता था तो वे अपने को बड़ा भाग्यशाली समझते थे। एक अंग्रेज इतिहासकार बैनट के कथनानुसार कृषक मजदूर अत्यधिक निर्धन व्यक्ति था जिसके रहन सहन और खान पान से निर्धनता झलकती रहती थी। एक दूसरे इतिहासकार के अनुसार वह इंगलैंड के सामाजिक जीवन में अत्यधिक दयनीय व्यक्ति था जो निरन्तर श्रम और शान्ति के साथ मुसीबतों को झेलते हुए समृद्धि के बीच भुखमरी का सामना कर रहा था। उसके जीवन में भविष्य के लिए कोई आशा नहीं थी। उसके लिए कारखाना और कब्रिस्तान ये ही दो स्थान थे।

गांव में आबादी घटने के तीन अनुचित प्रभाव पड़े। पहला, औद्योगिक शहरों की आबादी बढ़ गयी और उनमें बेकारी, अच्छे गृहों की कमी और गरीबी की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं। दूसरा, यद्यपि मजदूरों की मांग घट गयी पर मजदूरी की पूर्ति और भी तेजी से घट गयी, जिससे कृषक उपयुक्त काम और वेतन नहीं पा सके। तीसरा, गांव में उपलब्ध मजदूरों की कार्यशक्ति में गिरावट आ गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि गांव में सामान्यतः बूढ़े, कमजोर, असहाय और पतित लोग बच रहे जो उपेक्षित थे और जिन्हें भौतिक प्रगति की एक पूर्ण शताब्दी में सबसे कम लाभ हुआ।

मंदी का एक अच्छा प्रभाव भी पड़ा। इससे कृषि धंधे में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। लोगों ने खेती के स्थान पर भेड़ पालना शुरू किया। इससे दुग्धशालाओं की प्रणाली आरम्भ हो गयी। गेहूँ और अनाजों के भाव गिरने के कारण फलों, शाकों और डेरी पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हुई। दूध, अण्डों, मक्खन और पनीर के उपभोग और उत्पादन में वृद्धि होने लगी। डेरी चलाना और कुक्कुट पालन शहरों के निकट

लाभदायक धंधे के रूप में चल निकला। मांस की खपत बढ़ गयी। यद्यपि मांस का आयात किया जाता था, तथापि इसकी मांग पूरा करना कठिन था। इन वस्तुओं ने विदेशी प्रतिस्पर्धा बढ़ गयी, पर विदेशी वस्तुएँ घरेलू वस्तुओं की तुलना में घटिया समझी जाती थीं।

कृषि पुनर्गठन के उपाय. यद्यपि बाद के वर्षों में कुछ सुधार हुए और भाव भी चढ़े, पर कृषि समस्याओं में मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ। सरकार ने इन समस्याओं के समाधान तथा ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ आधार पर रखने के अनेक प्रयास किए।

पहला, सदियों तक आजीवन भूमि अधिकार प्रणाली लागू रही। अंग्रेजी इतिहास में निरन्तर भूमि पिता से पुत्र को उत्तराधिकार में मिलती आयी थी। इसे सामाजिक स्थायित्व के लिए आवश्यक माना गया था और कभी-कभी इस प्रकार के उत्तराधिकार को कानूनी तौर से अनिवार्य और अपरिवर्तनशील भी बना दिया गया था। यह सिद्धान्त पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक लागू रहा। बहुत काल पहले एक प्रणाली अपनायी गयी जिसमें इस कानून की मूलभूत बातें सुलभ रहीं। पूँजीपतियों और जमींदारों के लिए आजीवन भूमि अधिकार एक महत्वपूर्ण व्यवस्था थी जिससे इंगलैंड की भूसम्पत्ति प्रणाली पैदा हुई और कायम रही। इस स्थिति में सुधार के लिए १८८२ में सेटेल्ड लैंड ऐक्ट पारित हुए जिसके अनुसार सीमित स्वामित्व वाले मालिकों को बिक्री तथा पट्टे आदि के अधिकार दिए गए।

दूसरा, भूमि में दूसरों द्वारा कृषि कराने की प्रथा फिर से प्रोत्साहित की गयी। इस प्रथा के अनुसार जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े खेतिहर मजदूरों को किराए पर इस शर्त पर दिए जा सकते थे कि वे अपने खाली समय में जोतने बोने के लिए तैयार हों। ऐसा अनुभव किया गया कि छोटे किसानों का गांवों में रहना आवश्यक था। इसके लिए उन्हें छोटे खेतों को अपनाने और कृषि करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। लम्बे समय के लिए खेत देने की व्यवस्था स्वेच्छित निजी प्रबन्ध के अनुसार होती थी। पर १८८२ में एक अलाटमेंट एक्सटेन्शन ऐक्ट पारित हुआ। इसके बाद १८८७ में एक दूसरा कानून पास हुआ। इसमें पहली बार भूमि को अनिवार्यतः प्राप्त (acquire) करने की प्रणाली स्वीकृत की गयी। स्थानीय स्वायत्त शासन को अधिकार दिया गया था कि वह भूमि को खरीद सकती थी, किराए पर उठा सकती थी या छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित करके उसका वितरण सुयोग्य एवम् आवश्यकता ग्रस्त लोगों में कर सकती थी। १८९४ में यह अधिकार जिला कौंसिलों को दे दिया गया। १९०७ में स्माल होल्डिंग और अलाटमेंट के अन्तर्गत कौंसिल के लिए

यह अनिवार्य कर दिया गया कि वह कौंसिल के अधिकार क्षेत्र के भीतर या बाहर पर्याप्त भूमि की व्यवस्था करे जिससे स्थानीय आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।

तीसरा, बड़े खेतों के स्थान पर छोटे खेतों की स्थापना का आन्दोलन फिर चल पड़ा। १८९० में एक संसदीय समिति ने छोटे खेतों के सम्बन्ध में सिफारिशें कीं। १८९२ में संसद में एक स्माल होल्डिंग ऐक्ट पारित किया जिसने कौंसिलों को पब्लिक वर्क्स लोन कमीशन से ऋण लेने का अधिकार दिया। इस ऋण से छोटे-छोटे हिस्से में जमीन खरीदी और बेची जा सकती थी। इस कानून से कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि यह व्यवहारतः कार्यान्वित नहीं हुआ। १९०७ के बाद जब स्माल होल्डिंग और अलाटमेंट ऐक्ट पारित हुआ तब स्थिति सर्वथा भिन्न थी। इसके अनुकूल परिणाम निकले।

चौथा, ग्रामीण विकास की कुछ अन्य संस्थाएं भी थीं। ये संस्थाएँ सहकारिता, ग्रामीण ऋण सुविधाओं के विकास, कृषि की वैज्ञानिक शिक्षा के विकास और ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं को व्यवसायिक संघों में सम्मिलित करने विषयक थीं। यद्यपि कृषि में सहकारिता के विकास के लिए तीव्र आन्दोलन था, इसके विस्तार को व्यापक रूप से सफलता नहीं मिली क्योंकि सरकार ने अन्य आवश्यक कदम नही उठाए। लोगों में भी गहरी व्यक्तिवादी और स्वातंत्र्य भावना थी। कृषि साख के क्षेत्र में भी स्थिति असंतोषजनक थी। इंगलैंड और वेल्स में १९१५ में केवल ४५ ऋण देने वाली संस्थाएँ थीं। यहां भी अंग्रेजों की व्यक्तिवादी और कट्टरपंथी वृत्तियां स्पष्ट दिखलाई पड़ती थीं। कृषि शिक्षा का अवश्य कुछ विकास हुआ। कृषि परिषद् और शिक्षा परिषद् ने ग्रेट ब्रिटेन में कृषि शिक्षा विस्तार के लिए उल्लेखनीय कार्य किया। कृषि मजदूरों को व्यवसायिक संगठन के आधार पर संगठित करने की दिशा में कुछ प्रगति हुई। १८७२ में नेश्नल एग्रीकल्चरल लेबर वर्क्स यूनियन स्थापित हुई यद्यपि यह अल्प जीवित ही रही। एक दूसरा संघ भी स्थापित किया गया जिसका नाम नेश्नल एग्रीकल्चरल लेबरर्स और रूरल वर्क्स यूनियन था। इसकी शाखाएँ तेजी से सारे देश में फैल गई। यह महत्वपूर्ण संगठन बन गया जिससे बड़ी आशाएँ थीं।

अंतिम, कुछ अन्य परिवर्तन भी प्रस्तावित हुए, यद्यपि ये विवादात्मक थे। इनमें से एक, भूमि के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित था और दूसरा भूमि के मूल्यों पर कर निर्धारण विषयक था। तीसरा तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपाय यह था कि संरक्षण-वादी शुल्क नीति अपनायी जाय और कृषि आयात पर संरक्षण कर लगाए जायं। पहले दो सुझाव नहीं स्वीकृत किए गए, यद्यपि तीसरे का कुछ मनोवैज्ञानिक तथा प्रशासकीय प्रभाव पड़ा। अबन्ध नीति का विरोध आरम्भ हो गया था परन्तु इसका

पूर्ण परित्याग १९२९ की महान मंदी तक नहीं किया गया, भले ही इस दिशा में परिवर्तन प्रथम महायुद्धकाल से होने लगा था।

प्रथम विश्व महायुद्ध (१९१४-१९१९). महायुद्ध काल में ब्रिटिश कृषि तकनीक और कृषि स्थिति में दूरगामी परिवर्तन हुए। जहाजों की कमी और नौसेना युद्धों के कारण आयात में भारी कमी हो गयी थी जिससे कि कृषि वस्तुओं की आन्तरिक आवश्यकता वहुत वढ़ गयी थी। जब महायुद्ध आरम्भ हुआ था, उस समय ग्रेट ब्रिटेन अपने खाद्य वस्तुओं की आवश्यकता के $\frac{२}{५}$ भाग से कम और गेहूँ $\frac{१}{५}$ भाग से अधिक नहीं पैदा करता था। १८७० के काल की तुलना में खेतिहर क्षेत्र ४७.५० लाख एकड़ कम हो गया था। कृषि में रोजगार पाने वालों की संख्या में लाखों की कमी हो गई थी। घरेलू खाद्य पैदावार से केवल १२५ दिन की आवश्यकता पूरी होती थी और शेष २४० दिनों के लिए विदेशी आयात पर निर्भर रहना पड़ता था। परिवर्तित परिस्थिति के वावजूद पिछली पीढ़ी से प्रस्तुत ग्रामीण जीवन में ह्रास जारी रहा।

खाद्य सामग्री की कमी के कारण मूल्यों की वृद्धि में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति बढ़ी और कृत्रिम तथा अस्वास्थकर मंदी आयी। इससे लोगों को धक्का सा लगा। महायुद्ध छिड़ जाने से मूल्यों में भारी वृद्धि हुई और जुलाई १९१७ में तीन वर्ष पहले के मूल्यों की तुलना में १२० प्रतिशत की वृद्धि हुई। उत्पादन और कृषि क्षेत्रों को बढ़ाने के लिए अपीलें की गई और अभियान चलाए गए। वास्तविकता तो यह है कि १९१३ की तुलना में १९१६ में कृषि क्षेत्रफल कम हो गया था। गेहूँ और आलू की खेती में अधिक कमी हुई थी। वड़ी संख्या में खेतिहर मजदूर कृषि धंधा छोड़कर फौज में भरती हो गए थे और वहुत से लोग हथियार बनाने के कारखानों में काम करने लगे थे। खाद्य सामग्री के आयात की स्थिति जर्मनी की पनडुब्बी लड़ाई के कारण अनिश्चित हो गयी थी।

सरकारी नीति. अब ऐसी स्थिति आ गई थी जिसमें सरकार को अवन्ध नीति में थोड़ा वहुत हेर फेर करना पड़ा। एक नया दौर आरम्भ हुआ जिसमें सरकार ने प्रभावी विनियमन तथा नियंत्रण की नीति अपनायी जिससे कि मूल्यों को नियंत्रित किया जा सके और कृषि उत्पादन वढ़ाया जा सके। १९१६ में कृषि परिषद् (Board of Agriculture) को खाद्य सामग्री सम्भरण तथा वितरण सम्बन्धी आज्ञाएँ जारी करने के विस्तृत अधिकार मिले और खाद्य सम्भरण तथा मूल्यों से सम्बद्ध एक विभागीय समिति नियुक्त की गई। यह समिति उपभोग वस्तुओं के मूल्यों में तीव्र वृद्धि के कारणों की जांच करती थी। १९१६ में एक कानून पारित किया गया जिससे खाद्य मंत्रालय के अन्तर्गत खाद्य नियंत्रक (Food Controller) की नियुक्ति की गयी। खाद्य नियंत्रक को अधिकार दिए गए जिससे कि वह खाद्य सामग्रियों

के उत्पादन, उपभोग, परिवहन, तथा संग्रह को विनियमित तथा निर्देशित कर सके। खाद्य नियंत्रक को यह भी अधिकार था कि वह अपनी शर्तों पर खाद्य पदार्थों को प्राप्त कर सकता था और खाद्य पदार्थों का उत्पादन करने वाले या विक्रय करने वाले कारखानों को अपने अधिकार में ले ले या खाद्य पदार्थों की मूल्य सम्बन्धी सूचनाएँ प्राप्त करें और ऐसे उपाय करें जिससे देश में खाद्य उत्पादन बढ़े। एक ऐसे विभाग की भी स्थापना की गयी जिसका विशेष काम उत्पादन में वृद्धि करवाना था।

१९१७ में अन्न उत्पादन अधिनियम (Corn Production Act) पारित किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य (१) कृषि परिषद् के द्वारा न्यूनतम कृषि मजदूरी निश्चित करवाना और (२) गेहूँ और जई के न्यूनतम मूल्यों की गारंटी ६ वर्ष (१९२२) तक करना था।

सुधार. महायुद्ध काल में अनेक उपायों तथा समय की आवश्यकताओं के कारण १९१६ और १९१८ के बीच कृषि क्षेत्र में १४ लाख एकड़ की वृद्धि हुई। खाद्य मंत्रालय ने तो २६ लाख एकड़ की वृद्धि की योजना बनाई थी, परन्तु उपरोक्त वृद्धि भी कम नहीं थी। इन उपायों से घरेलू खाद्य पदार्थों के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। सर टामस मिडिलटन का कथन था कि जबकि १९१४ में घरेलू खाद्य पदार्थों का उत्पादन केवल १२५ दिनों के लिए था, १९१८ में १५५ दिनों के लिए खाद्य पदार्थ पैदा होने लगा। गेहूँ के उत्पादन में ५४ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी और आलू का उत्पादन ६८ प्रतिशत बढ़ा था। कृषि क्षेत्रफल में आश्चर्यजनक विस्तार हुआ था और कम से कम ३० लाख एकड़ भूमि में जिसमें पहले घास उगाई जाती थी अब खेती की जाने लगी थी। इसका श्रेय सरकार के प्रभावी विनियमन तथा नियंत्रण को था। इस काल में छोटे खेतों की संख्या में भी वृद्धि हुई।

प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के बीच का काल (१९२०-१९३९). उपर्युक्त उपलब्धियों से प्रोत्साहित होकर लोग खाद्य सामग्रियों के उत्पादन में आत्मनिर्भरता के स्वप्न देखने लगे। उनका विचार था कि यदि युद्धोत्तर काल में सरकार उपदान तथा विनियमन की नीति अपनाए तो खाद्यपदार्थों के उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त हो सकती थी। यह आशा इस बात पर आधारित थी कि महायुद्ध से वापस आने वाले सिपाहियों को गांवों में बसने के लिए सरकार द्वारा प्रोत्साहन तथा सुविधाएँ दी जायँगी। परन्तु यह आशा भी पूरी नहीं हो पायी क्योंकि अंग्रेजी कृषि में तकनीकी उपकरण तथा संगठन ऐसा नहीं था जिससे कि खाद्य उत्पादन में विशेष वृद्धि होती। इसलिए युद्धोत्तर काल में मुख्य समस्या उत्पादन में वृद्धि करना नहीं थी वरन् यह थी कि युद्धकालीन उत्पादन में वृद्धि का जो स्तर प्राप्त हो गया था, उसे स्थायी रखा जाय।

१९२०-२१ में कुछ महत्वपूर्ण देशों की मुद्रा संकुचन (deflationist) नीति पालन करने और कनाडा और संयुक्त राज्य अमरीका में कृषि के अत्यधिक विस्तार से मूल्यों में तीव्र मंदी आयी जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश कृषि के विकास को भी धक्का लगा। विदेशी प्रतिस्पर्धा अधिक बढ़ गयी थी और कृषक बहुत दिनों से उपदान तथा संरक्षण की माँग कर रहे थे यद्यपि नगर वासी तथा उपभोक्ता इसके पक्ष में नहीं थे। १९१७ का कार्न प्रोडक्शन ऐक्ट जिसमें न्यूनतम मूल्य, निश्चित लगान तथा श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी की गारंटी की व्यवस्था थी, १९२१ में समाप्त कर दिया गया, परन्तु १९२४ के एग्रीकल्चरल वेज़ेज (रेगुलेशन) कानून के अन्तर्गत मजदूरी की दर निश्चित करने की व्यवस्था पुनः जारी की गयी। १९२१ में पारित एक नए कानून के अनुसार हर प्रकार का नियंत्रण समाप्त कर दिया गया और ब्रिटिश कृषि में एक बार फिर अबन्ध और व्यक्तिवाद जन्य नीति लागू हो गयी।

जब नियंत्रण समाप्त हुआ तब फिर खेती करने के स्थान पर भूमि घास उगाने के लिए उपयोग में आने लगी और देश में मूल रूप से युद्ध पूर्व प्रचलित कृषि नीति का पालन किया जाने लगा। कृषि के लिए १९२१ से १९२९ का समय 'अंधा युग' के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि इस काल में कृषि को अनेक संकट का सामना करना पड़ा। इसके निम्नलिखित कारण थे:—(१) महायुद्ध के पश्चात् कृषि में मंदी आयी, (२) १९१७ के अधिनियमों के समाप्त होने और १९२१ के नए अधिनियम के कारण किसानों को न्यूनतम मूल्य सम्बन्धी गारंटी का आश्वासन समाप्त हो गया, और (३) खेती में अधिक व्यय की आवश्यकता उत्पन्न हुई।

उपाय. यद्यपि ब्रिटेन की मुख्य आर्थिक नीति अभी तक अबन्ध नीति ही थी परन्तु कृषि की स्थिति सुधारने के लिए मामूली उपाय काम में लाए गए। इन उपायों में वर्तमान अबन्ध नीति के ढाँचे में ही हल्के फुल्के विनियमन तथा उपदानों के द्वारा कृषि तथा कृषकों को सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था थी। ये उपाय निम्नांकित हैं: (१) एग्रीकल्चरल क्रेडिट ऐक्ट, १९२३ के अनुसार पब्लिक लोन कमिश्नरों को अधिकार प्राप्त हुआ कि वे स्वीकृत लैंड मारगेज संस्थाओं को भूमि रहन रखकर दीर्घकालीन ऋण दें जिसकी अदायगी ६० वर्षों में की जा सकती थी। इस कानून में बैंकों द्वारा किसानों को अल्पकालीन ऋण की व्यवस्था भी थी। (२) १९२३ के कानून द्वारा सेन्ट्रल वेज़ेज बोर्ड के अन्तर्गत एग्रीकल्चरल वेज़ेज कमेटी पुनः स्थापित की गयी जो मजदूरों की कार्य क्षमता तथा आवश्यकताओं के अनुरूप न्यूनतम मजदूरी निश्चित करती थी। (३) १९२३ के ला आफ प्रापर्टी ऐक्ट के अनुसार माफीदारी तथा पट्टेदारी भू-धारण व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य सभी व्यवस्थाओं को समाप्त

कर दिया गया । १९२६ में जिला कौंसिलों को भूमि खरीदने या पट्टा पर प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हुआ जिससे कि वे खेतिहर मजदूरों को छोटी जोतें दे सकें जिसके मूल्य की अदायगी ६० किश्तों में की जा सकती थी । (४) १९२३ में जमींदारों को स्थानीय शुल्कों से छुटकारा मिला और स्थानीय शासन की यह क्षति पूर्ति राज्य के कोष द्वारा की जाती थी । (५) विपणन व्यवस्था के क्षेत्र में, १९२६ के मर्चेन्डाइज ऐक्ट के अनुसार किसी आयातित माल पर विना उसके उद्गम देश का चिन्ह अंकित किए किसी प्रकार के सील लगाने को अवैधानिक कर दिया गया था और १९२८ के बाद कुछ घरेलू वस्तुओं में श्रेणी निर्धारण (grading) अनिवार्य कर दिया गया था ।

इन सब उपायों के होते हुए भी स्थिति बिगड़ती गयी, मूल्य गिरते रहे और एक ऐसा समय आया जब मंदी के कारण संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी । इंगलैंड ऐसी स्थिति में था कि उसे हर ओर संकट का सामना करना पड़ता था । १९३१ में संकट पूर्णावस्था पर पहुँच चुका था और मूल्य यथासम्भव कम हो चुके थे । वित्त, वाणिज्य तथा उद्योग में गड़बड़ी मच गयी थी । इंगलैंड ही एक ऐसा देश था जहाँ अबन्ध नीति लागू थी और इस कारण उसे गम्भीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था ।

नयी कृषि नीति. कृषि को पुनर्संगठित करने के लिए सरकार ने निम्नांकित प्रमुख कदम उठाए :

पहला, आयात को सीमित करने, विदेशी प्रतिस्पर्धियों की भेदमूलक नीति से रक्षा करने तथा सार्वजनिक राजस्व बढ़ाने के लिए १९३२ में इम्पोर्ट ड्यूटीज ऐक्ट पारित किया गया । इस ऐक्ट के अनुसार फल, फूल, साग सब्जियों जैसी विलासिता की वस्तुओं, जयी तथा आलू तथा कुछ कृत्रिम खादों तथा खेती के औजारों के आयात पर शुल्क लगाया गया । संरक्षण सम्बन्धी आवश्यकताओं की जांच करने तथा अनेक वस्तुओं पर शुल्क बढ़ाने तथा शुल्क लगाने के सम्बन्ध में सरकार से सिफारिश करने के लिए टैरिफ ड्यूटी एडवाइजरी कमेटी स्थापित की गयी ।

दूसरा, १९२२ के व्हीट ऐक्ट के अनुसार गेहूँ उत्पादकों को उपदान देने और गेहूँ के उत्पादन का कोटा निश्चित करने की व्यवस्था थी । गेहूँ का प्रमाणिक भाव १० शिलिंग प्रति हंड्रेडवेट तय कर दिया गया । गेहूँ उत्पादक को यदि प्रमाणिक भाव से कम मूल्य मिलता था तो उसकी क्षतिपूर्ति सरकार द्वारा उपदान के रूप में होती थी । इस कानून के अनुसार व्हीट कमीशन नियुक्त किया गया जो वर्ष के अंत में समस्त बिक्री की औसत कीमत निकालता था । यदि किसी वर्ष औसत कीमत प्रमाणिक कीमत से कम होती थी तो हर उत्पादक को क्षति पूर्ति हेतु उपदान मिलता था । इस

भुगतान के लिए देश में एक कोष स्थापित किया गया था जिसकी आय देश में उपयोग आने वाले आंटे पर लगे कर से होती थी। इस उपाय की आलोचना की गयी कि राज्य द्वारा गेहूँ के उत्पादकों को सहायता या उपदान देना अनुचित है क्योंकि इंगलैंड विश्व के गेहूँ उत्पादन करने वाले सशक्त देशों की तुलना में नहीं ठहर सकता था।

तीसरा, १९३१ में एक एग्रीकल्चरल मार्केटिंग ऐक्ट पारित किया गया जिसका उद्देश्य किसानों को विभिन्न वस्तुओं के लिए हाट व्यवस्था हेतु उत्पादक संयोजन बनाना था। इंगलैंड में कोई ऐसी संस्था नहीं थी जो कृषि उपज की हाट व्यवस्था करने, उनके परिवहन, श्रेणीकरण, इत्यादि सेवाएँ प्रस्तुत करे। इस कानून के पूरक के रूप में १९३३ में एग्रीकल्चरल मार्केटिंग ऐक्ट पारित किया गया जिसके अनुसार सरकार को अधिकार मिला कि वह ऐसी वस्तुओं के आयात को विनियमित करे जिनका वितरण सहकारी हाट व्यवस्था द्वारा होता था। दूध, हॉप (एक प्रकार का फल), सुअर के गोश्त और आलू के वितरण के लिए हाट व्यवस्था बोर्ड थे। मूल्यों के अधिक ह्रास को रोकने के लिए १९३७ में एग्रीकल्चरल ऐक्ट पारित किया गया जिसके अनुसार जौ और जई की प्रमाणिक तथा गारंटी सहित कीमतें निश्चित की गयीं। इस अधिनियम में जौ और जई के खेतों के क्षेत्रफल में ह्रास को रोकने की व्यवस्था भी थी। हॉप, दूध, सुअर, तथा आलू के बोर्ड सम्बन्धित वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण को नियंत्रित तथा विनियमित करते थे। इनमें से दूध की हाट व्यवस्था योजना सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। यह योजना दूध के पुनर्संगठन आयोग के प्रतिवेदन के बाद क्रियान्वित हुई। इसके अनुसार समस्त दूध उत्पादक पंजीकृत कर दिए गए और वे किसी भी उपभोक्ता को निश्चित कीमत पर दूध दे सकते थे परन्तु क्रेता के लिए अनिवार्य था कि वह क्रय का भुगतान बोर्ड को सीधे करे। उत्पादकों का हिसाब चुकता बोर्ड द्वारा होता था। बोर्ड सारे खर्चों और कीमतें नियमित रखने के लिए उगाही (levy) काट कर भुगतान करता था। यदि कोई उत्पादक अपना दूध नहीं बेच पाता था तो बोर्ड उसके लिए बाजार की व्यवस्था करता था या दूध का दाम देता था। इस योजना में सबसे बड़ी कमी यह थी कि बोर्ड द्वारा निश्चित मूल्य बहुत ऊँचे थे।

इस अधिनियम के अन्तर्गत फल, अंडों, कुक्कुट और चुकन्दर के लिए भी आवश्यक उपाय अपनाए गए। गेहूँ, चीनी, पशुधन और सुअर के गोश्त के लिए कमाडिटी कमीशन नियुक्त किए गए। ये आयोग (commission) राज्य द्वारा नियुक्त संगठन थे जिनको कार्य करने की अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ये संगठन सम्बन्धित वस्तु की उत्पादन वृद्धि के लिए राज्य द्वारा दिए जाने वाले उपदानों या वित्तीय सहायता देने के लिए सिफारिशें देता था।

इन सब उपायों के होने पर भी कृषि क्षेत्रफल में ह्रास आता रहा। गेहूँ और जौ को छोड़कर सभी फसलों का कृषि क्षेत्रफल घटा। मूल्य और भी कम हो गया। इनमें अधिक गिरावट रोकने के लिए १९३७ में एग्रीकल्चरल ऐक्ट पारित किया गया जिसके अन्तर्गत जौ और जयी की गारंटी सहित प्रमाणिक कीमतें निश्चित की गयीं। इस अधिनियम में जयी और जौ के क्षेत्रफल में गिरावट रोकने के लिए भी व्यवस्था थी।

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-१९४५). द्वितीय महायुद्ध काल में राज्य द्वारा कृषि पर कड़ा नियंत्रण रखा गया, जिससे देश के अन्दर ही अधिक से अधिक अन्न पैदा किया जाय और विदेशी आयात पर कम से कम आश्रित रहा जाय। सरकार को नियंत्रण तथा विनियमन की नीति अपनानी पड़ी और अन्न, विशेषतः पोषक पदार्थों, गोश्त, गेहूँ, जयी, आलू, दूध, साग-सब्जी, फल, और अंडों के अधिकाधिक उत्पादन के लिए अभियान चलाना पड़ा। यह नियंत्रण कार्य कंट्री वार एग्रीकल्चरल एक्जीक्यूटिव कमेटियों द्वारा होता था, जिसमें कृषि हितों के स्थानीय प्रतिनिधि रहते थे और जो सरकार के स्थानीय प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते थे। सरकारी नियंत्रण, राज्य द्वारा क्रय तथा राशन पद्धति के कारण हाट व्यवस्था परिषदों (Marketing Board) और वस्तु आयोगों (Commodity Commissions) के कार्य को रोक दिया गया।

किसानों और खेतिहर मजदूरों के लिए समुचित जीवन स्तर आश्वासित एवं कायम रखने के लिए अधिकतर कृषि फसलों का भाव अधि-प्राप्ति (procurement) भाव से कम रखा जाता था और इस घाटे की पूर्ति राज्यकोष द्वारा किया जाता था। यह कार्यप्रणाली तब तक चालू रही जब तक खाद्य पदार्थों की राशनिंग चलती रही।

चरागाहों को तोड़ कर खेतों में बदलने के लिए राजकीय प्रोत्साहन, वित्तीय सहायता तथा उदार अनुदान उपलब्ध था। उदाहरणार्थ, चरागाहों को खाद्य उत्पादन के लिए जोतने, उद्यानों को अन्न उत्पादन के लिए खेतों में बदलने, उनमें गेहूँ या राई (rye) बोने के लिए अलग-अलग अनुदान मिल सकता था। जल निकास नालियों और खाइयों को बनाने के लिए व्यय का आधा भाग और कृषि कार्य में उपयोग आने वाले चूने के मूल्य के आधे भाग के बराबर उपदान किसानों को मिल सकता था। किसानों को ट्रैक्टर तथा खाद भी दिया जाता था। "अधिक दूध पिओ" अभियान भी चलाया गया और बच्चों तथा उनकी माताओं को दूध निर्मूल्य या उचित मूल्य पर दिया जाता था। वार एग्रीकल्चरल एक्जीक्युटिव कमेटी को विस्तृत अधिकार दिए गए। किसान अब पूर्णतया स्वतंत्र नहीं थे और उनको जिला कमेटी के निर्देश के अनुसार खेती करना पड़ता था। जिला कमेटी को यह अधिकार था कि वह

यह निश्चित करे कि भूमि के कितने भाग में कौनसी फसल उगायी जाय। कमेटी को अयोग्य किसानों को उनकी भूमि से अलग करने का अधिकार भी प्राप्त था। कृषि यंत्रीकरण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कृषि अभियंत्रण तक यंत्र प्रशिक्षण संस्थाएँ खोली गयीं और उनको वित्तीय सहायता भी दी गयी। नेशनल इंस्टीट्यूट आफ एग्रीकल्चरल इंजीनियरिंग की स्थापना बेडफोर्डशायर में की गयी। इस संस्था ने किसानों तथा कृषि प्रबन्धकों के लिए महत्वपूर्ण सेवाएँ उपलब्ध की।

परिणाम. इन सब उपायों के परिणाम अत्यधिक अनुकूल एवम् लाभजनक थे। चरागाहों को खेतों में बदला जाने लगा। युद्ध के बाद स्थायी चरागाहों पर फिर ध्यान दिया गया परन्तु जिन चरागाहों को तोड़ दिया गया था उस क्षेत्र में खेती अब भी लाभप्रद थी। युद्धकाल में स्थायी चरागाहों की ७० लाख एकड़ भूमि जोती गयी। आलू, गेहूँ तथा जौ के क्षेत्र दूने हो गए। पशु संख्या में भी वृद्धि हुई। युद्धकाल में सभी फसलों और मांस तथा दूध की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हुई। युद्ध पूर्व स्थिति की तुलना में १९४६–४७ में कृषि उत्पादन २४ प्रतिशत बढ़ गया। यद्यपि इंगलैंड की जन-संख्या में भी वृद्धि हुई पर राष्ट्र की खाद्यपूर्ति के स्थानीय साधनों में भी वृद्धि हुई। युद्ध पूर्व ग्रेट ब्रिटेन गेहूँ और आटे के कुल उपभोग का केवल १२ प्रतिशत उत्पादन करता था। १९४५ में यह ३२ प्रतिशत हो गया।

युद्धोत्तर काल. युद्ध समाप्ति के बाद जई और आलू को छोड़ सभी प्रकार की फसलों, मांस और दूध का उत्पादन बढ़ा। १९३९ के पश्चात् यूनाइटेड किंगडम की जन-संख्या लगभग ५० लाख या १० प्रतिशत बढ़ गयी। फिर भी गृह साधनों से राष्ट्रीय खाद्यान्नों की पूर्ति बढ़ी। युद्धपूर्व ग्रेट ब्रिटेन मूल्य की दृष्टि से लगभग एक तिहाई खाद्य पदार्थ उत्पादित करता था। अब यह केवल आधा उत्पादित करता है।

सरकार के कार्य. युद्धोपरान्त १९४५ में सरकार की कृषि नीति में प्रथम युद्ध की १९१९-२० की स्थिति से भिन्न क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। १९१९ में सरकार ने चार वर्षों तक कृषि को प्रोत्साहित और नियंत्रित किया पर बाद में उसे अपने ही साधनों पर छोड़ दिया। १९४५ में ऐसा नहीं हुआ। इसका मूल कारण यह था कि विश्व की परिस्थितियाँ कई दृष्टि से बदल गयीं थीं। पहली, १९४५ तक संसार की आबादी बढ़ गयी थी जिससे खाद्य साधनों की कमी बढ़ गयी। साथ ही संसार के बहुत से क्षेत्रों में कृषि की ध्वंसकारी रीतियों के कारण उत्पादन घट गया। दूसरी, १९२९ के पहले संसार के हर क्षेत्र में छोटे और स्वतंत्र किसान होते थे और उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। बाजार की स्थिति चाहे जैसी हो उन्हें फसल को कटने के बाद तुरन्त बेच देना पड़ता था। तीसरी, १९३० के पहले इंगलैंड में खाद्यान्नों के आयात पर कोई रुकावट नही थी। १९४५ में स्थिति

पूर्णतः बदल गयी। विदेशों में कई स्थानों पर सरकारी सहायता तथा प्रोत्साहन से और कई स्थान पर स्वेच्छा से उत्पादकों ने एकत्रीकरण संस्थाओं और बिक्री संगठनों की सहायता से मूल्यों और उत्पादन को विनियमित किया। और अन्तिम, युद्ध काल में उनका जीवन स्तर ऊँचा हो रहा था और पहले की उपेक्षा वे अपने उत्पादन के अधिक भाग का उपभोग करते थे। इन परिस्थितियों के कारण सरकार को युद्ध काल की नियंत्रण नीति को युद्धोत्तर काल में भी दृढ़तापूर्वक जारी रखा।

सरकारी नीति १९४७ के कृषि कानून पर मूलतः आश्रित है। इसका मुख्य उद्देश्य है कि एक दृढ़ और कार्यकुशल कृषि उद्योग की स्थापना हो जो यूनाइटेड किंगडम की राष्ट्रीय आवश्यकताओं और हितों के अनुरूप कृषि उत्पादन करे और यह उत्पादन निम्नतम खर्च से हो। साथ ही यह किसानों और मजदूरों को उपयुक्त प्रतिफल दे सके और इस उद्योग में लगी पूँजी समुचित प्रतिफल दे।

सरकार की युद्धोत्तर काल की नीति दो भिन्न कालों में है। पहला १९४७ से १९५४ तक और दूसरा १९५४ के बाद।

पहले काल में मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश कृषि के परम्परागत तरीकों के अनुसार विस्तार को प्रोत्साहित करना था। उत्पादन के उद्देश्य प्रत्येक मुख्य कृषि पदार्थ के लिए निश्चित कर दिये गये थे जैसा कि युद्ध काल में होता था, यद्यपि सरकार ने धीरे-धीरे कृषकों को उत्पादन विषयक दिशा दर्शन करना बन्द कर दिया। वार्षिक मूल्यों के निर्धारण में वृद्धि करके प्रति वर्ष ४ करोड़ पौंड की पूँजी कृषि विस्तार के लिए बढ़ा दी गयी।

संसार और ग्रेट ब्रिटेन में कृषि उत्पादन वृद्धि को देखते हुए राज्य ने धीरे-धीरे खाद्य पदार्थों के आयात और उनके घरेलू व्यवसाय का काम गैर सरकारी व्यवसायियों को दे दिया। ३ जुलाई, १९५४ को उपभोक्ता राशन प्रणाली समाप्त कर दी गयी। तब से सरकारी नीति के उद्देश्यों में परिवर्तन हुआ। आवश्यक कृषि वस्तुओं के उत्पादन पर विशेष जोर दिया गया। अविवेकपूर्ण उत्पादन विस्तार को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। १९५७ के अंत तक ६० प्रतिशत उत्पादन का तात्कालिक लक्ष्य पूरा हो गया और दूरवर्ती उपायों पर ध्यान दिया जाने लगा।

यद्यपि १९५४ में राशन प्रणाली समाप्त कर दी गई पर १९४७ के कृषि अधिनियम का आधार जिसमें कृषकों को गारंटी भी सम्मिलित है, जारी रहा। १९५४ से गारंटी चार प्रकार से दी जाती है। (क) चुकंदर के लिए निश्चित मूल्य की गारंटी जारी है। दूध और ऊन के लिए बाजार बोर्ड के द्वारा गारंटी दी जाती थी। ऊन के सम्बन्ध में यह व्यवस्था थी कि गारंटी से अधिक मूल्य को दूरवर्ती मूल्य स्थिर

करने वाले कोष में जमा कर दिया जाता था। दूध के लिए एक निश्चित सीमा तक मूल्य की गारंटी थी। इससे अधिक उत्पादन पर गारंटी सहित कीमत घट जाती थी। (ख) अंडों और आलू के सम्बन्ध में सरकार मूल्य स्थिर रखने के लिए कीमतें घटने पर क्षति स्वयं पूर्ति करती थी। (ग) गेहूँ, रायी, जौ, और जई के सम्बन्ध में सरकार लागत मूल्य और बाजार भाव के बीच के अन्तर के अनुसार भुगतान करती थी। (घ) चर्बी के सौदों पर भी मूल्य विषयक गारंटी थी।

१९५७ के कानून में जो दूरवर्ती आश्वासन दिए गए थे उनके अनुसार पिछले वर्ष के कुल वाणिज्य के ९७½ प्रतिशत उत्पादन पर मूल्य विषयक गारंटी थी। साथ ही प्रत्येक वस्तु का गारंटी मूल्य पिछले वर्ष के मूल्य से ९६ प्रतिशत से कम नहीं होना चाहिए।

अधिकांश कृषि वस्तुएँ सामान्य वाणिज्य क्षेत्र में बेंची जाती हैं। कुछ वस्तुओं की बिक्री १९४८ के एग्रीकल्चरल मार्केटिंग ऐक्ट के अन्तर्गत हाट व्यवस्था परिषदों के द्वारा नियंत्रित होती है। ये उत्पादकों के संगटन हैं जिन्हें विशिष्ट वस्तुओं की बिक्री के वैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। इन बोर्डों के अधिकांश सदस्य उत्पादकों द्वारा ही चुने जाते हैं पर कुछ सम्बद्ध मंत्रियों (ministers) द्वारा मनोनीत भी किए जाते हैं। बोर्ड दो श्रेणियों में है। पहला सभी उत्पादकों की वस्तुओं को बेचने का अधिकारी बोर्ड जिसका अंडों, फलों, दूध और ऊन से सम्बन्ध था। दूसरा नियंत्रण रखने वाले बोर्ड हैं जो उत्पादकों द्वारा की जाने वाली बिक्री को नियंत्रित करते हैं, जिनका सम्बन्ध आलू, टमाटर, खीरा-ककड़ी से है। १९६० के हार्टीकल्चर ऐक्ट के अनुसार मई महीने में एक हार्टीकल्चरल मार्केटिंग कौंसिल बनाई गई जिसका उद्देश्य बागबानी की वस्तुओं के वितरण और वाणिज्य को प्रोत्साहित करना था। १९६१ में कान्वेन्ट गार्डन मार्केट ऐक्ट पारित हुआ जिसके अनुसार कान्वेन्ट गार्डन मार्केट प्रशासन की स्थापना हुई। इसे लन्दन के पांच बागबानी के थोक बाजारों को पुनर्संगठित और आधुनिक बनाने के अधिकार प्राप्त थे।

१९५७ के कृषि कानून के अन्तर्गत सरकार द्वारा अनेक उत्पादन अनुदानों और उपदानों की व्यवस्था है। (१) १९५२ के एग्रीकल्चरल फर्टीलाइजर ऐक्ट के अनुसार किसानों को रासायनिक खादों की खरीद के लिए सहायता की व्यवस्था है। (२) चरागाहों को तोड़ने के लिए अनुदान प्राप्त हो सकता है। (३) स्वीकृत योजनाओं के खर्च के आधे के बराबर तथा अधिकतम २५० पौंड प्रति खेत के लिए भूमि सुधार जैसे घास और चारे के संरक्षण के लिए अनुदान मिल सकता है। (४) माँस उत्पादन हेतु बछड़ा पालन के लिए उपदान मिल सकता है। (५) पहाड़ी खेतों में पशु प्रजनन के प्रोत्साहन के लिए उपदान प्राप्त किया जा सकता है। (६) छोटे

कृषकों को तीन, चार या पाँच वर्षीय स्वीकृत विकास योजनाओं के लिए अनुदान प्राप्त हो सकते हैं। (७) कीट विनाशक समितियों द्वारा खरगोश और जंगली कबूतरों का विनाश करने के लिए खर्च का आधा उपदान उपलब्ध है।

दीर्घ कालीन सुधार के लिए भी अनुदान हैं। (१) कृषि योग्य भूमि के स्वामी और जोतदारों को भवनों, सड़कों और घेरों, और बिजली तथा विशेष प्रकार के स्थिर उपकरणों के लिए अनुदान प्राप्त है। (२) पहाड़ों पर केवल पशुपालन के उपयुक्त भूमि के ऐसे स्वामियों और लगानदारों के लिए भी अनुदान उपलब्ध हैं जिनका प्रमुख धंधा पशुपालन है। (३) १९६० के हार्टीकल्चर ऐक्ट के अनुसार बागवानी करने वालों के लिए भी अनुदान मिल सकता है। (४) सरकार जल-निकासी और जल व्यवस्था के लिए ५० प्रतिशत तक अंशदान कर सकती है।

सरकार इस बात से अच्छी तरह अवगत है कि कुशल खेती बहुत कुछ नए लोगों के प्रवेश पर निर्भर है। व्यापक रूप से विश्वास किया जाता है कि कृषि कार्यक्षम उद्योग तभी होगा जब कृषक उस वर्ग से आते हैं जिन्हें कृषि का व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव है। केवल पूँजी के बल पर कृषि कार्य कराने वालों से विशेष लाभ नहीं है। पिछले कुछ वर्षों से सरकार छोटे खेतों को प्रोत्साहित कर रही है। बहुत से अर्थशास्त्री इस नीति की सफलता में आशंका करते हैं। उनके मत से छोटे खेतों विषयक नीति उचित जीवन निर्वाह की दृष्टि से अनुपयुक्त है। अतएव खेतों का औसत आकार बढ़ाया जाना चाहिए।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि आज ब्रिटिश खेती बहुत कुछ यंत्रीकृत है। खेती में घोड़ों की संख्या १९३९ में ६,४९,००० से घट कर १९६० में ५४,००० हो गयी। इस बीच ट्रैक्टरों की संख्या १९४२ में ११७,००० से बढ़ कर १९६० में ४७४,००० हजार हो गई। ब्रिटेन में भूमि और ट्रैक्टरों का अनुपात संसार में सबसे अधिक है। ब्रिटेन में कृषि योग्य प्रत्येक ३५ एकड़ भूमि के लिए एक ट्रैक्टर है। शक्ति से चलने वाले कृषि यंत्रों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। १९६० में फसल काटने, माड़ने वाले यंत्रों की संख्या ४८,००० थी। दूध निकालने और दूध उद्योग में भी यंत्रों का उपयोग होता है। तीन चौथाई खेतों में बिजली तथा बिजली के उपकरण हैं। कृषि यंत्रों की प्राप्ति के लिए ऐसे संगठन भी हैं जिनसे मँहगे यंत्र कार्य करने के लिए मिल जाते हैं और किसान को खुद की पूँजी उनमें नहीं लगानी पड़ती।

अध्याय ८

सन् १८५० से औद्योगिक विकास

कृषि के समान उद्योग भी १८५० से विभिन्न अवस्थाओं से गुजरा। विक्टोरिया कालीन समृद्धि के बाद विकास की गति धीमी रही। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में स्थिति में फिर सुधार हुआ पर बहुत सी निर्बलताएँ सामने आने लगीं। इन निर्बलताओं पर प्रथम महायुद्ध काल में आंशिक परदा पड़ गया था। युद्धोत्तर काल में मंदी शुरू हो गई। बेकारी बढ़ी। निर्यात घटे। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में असंतुलन सम्बन्धी कठिनाइयाँ बढ़ीं। अबन्ध व्यापार प्रतिक्रिया के कारण सरकार ने उसमें हस्तक्षेप किया। आर्थिक क्षेत्र में हड़ताल से अशांति फैली। उत्पादन व्यय और वेतनों में निरंतर वृद्धि हुई। इसी बीच १८३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध में जहाजों की क्षति, बमों से हानि, औद्योगिक प्रतिपालन तथा प्रति-स्थापन में बकाया आदि से घरेलू पूँजी घटी। इसका वित्तीय और वाणिज्य स्थिति पर भी भारी प्रभाव पड़ा। बृटिश अर्थव्यवस्था में महायुद्ध के समय से रुकावटें पड़ती रहीं परन्तु वस्तुओं के उत्पादन और रोजगार के क्षेत्रों में वृद्धि होती रही। औद्योगिक नीति, उद्योग का ढ़ाँचा, सरकारी उद्यम का महत्व, औद्योगिक संस्था और राजकोषीय तथा मुद्रा नीति द्वारा सरकारी प्रभाव आदि आर्थिक समस्याएँ उठती रहीं। सरकार इस स्थिति का सामना भौतिक नियंत्रणों, प्रलोभनों और सूचना सलाह के द्वारा करती रही। राष्ट्रीयकृत (nationalised) उद्योगों, उत्पादन, प्रबन्ध और एकाधिकार जन्य प्रतिबन्धक व्यवहारों से भी समस्याएँ उत्पन्न हुईं।

विक्टोरियाकालीन समृद्धि (१८५०-१८७४). आधुनिक अंग्रेजी औद्योगीकरण के इतिहास का रचनात्मक काल १८५० से १८७४ तक था। १८५० के बाद (१) औद्योगिक उत्पादन के परिमाण में विस्तार और औद्योगिक संस्थानों के प्रकारों में वृद्धि हुई, (२) उत्पादन की क्रियाओं और रूपों का विभाजन हुआ, (३) यातायात और संचार सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार हुआ जिसके कारण भारी और शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का दूर-दूर तक यातायात सम्भव हो सका, (४) निर्यात में वृद्धि हुई।

औद्योगिक क्रान्ति के दो आधार, लोहे और कोयले की बहुलपूर्ति (increased supply) ने औद्योगिक क्रिया-कलापों को प्रोत्साहन दिया। इस्पात के वैज्ञानिक

उत्पादन के कारण प्राविधिक क्रान्ति बढ़ी । बढ़ती माँग और यांत्रिक यातायात की वृद्धि से उद्योगों में विस्तार हुआ । इस काल के अन्य उद्योगों की अपेक्षा वस्त्र उद्योग अधिक महत्वपूर्ण और समृद्ध उद्योग था । महारानी विक्टोरिया के राज्य काल में सूती कपड़ा उद्योग चौगुना बढ़ गया । उसके अंतिम चरण में ब्रिटिश कारखाने संसार के कपास उत्पादन का लगभग एक-चौथाई भाग काम में ला रहे थे ।

ब्रिटिश निर्यात में तीव्र वृद्धि हुई । रेलों का साज-सामान विदेशों को भेजा गया, और विदेशों में ब्रिटिश पूँजी का विस्तार हुआ । अबन्ध व्यापार और ब्रिटिश साम्राज्य और दूसरे देशों में इसके व्यवहार से ब्रिटिश माल की माँग बढ़ी । फलतः ब्रिटिश उद्योगों को प्रोत्साहन मिला । उद्योगपतियों ने भारी लाभ उठाया और बढ़ी हुई पूँजी को फिर से उद्योगों में लगाया । रोजगार की स्थिति संतोषजनक थी । वेतन अधिक बढ़ गया था और स्वास्थ्य सम्बन्धी स्थितियों में भी विशेष रूप से सुधार हो गया था ।

मंद प्रगति काल (१८७५-१९००). इस समृद्धि के बाद मूल्यों, व्याज और लाभ में मंदी आयी । मूल्य स्तर में औसत गिरावट प्रति वर्ष १·५ प्रतिशत थी । वास्तविक मजदूरी बढ़ी जिसके फलस्वरूप लाभ में कमी हुई । कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि मूल्यों में कमी का कारण माँग के अनुरूप मुद्रा सुलभ न होना था । स्वर्ण का अभाव था जो कि इस समस्या का आधार था । दूसरे देशों द्वारा स्वर्ण की उत्तरोत्तर मांग थी । इससे पूँजी लगाने के अवसर घटे । साथ ही दूसरे देशों विशेषतः संयुक्त राज्य अमरीका और जर्मनी में वस्तु उत्पादन में वृद्धि से विदेशी प्रतिस्पर्धा की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी । कृषि क्षेत्र में अधिक विदेशी प्रतिस्पर्धा थी पर कालांतर में यह कृषि से उद्योग क्षेत्र में पहुँच गयी । एक अंग्रेजी लेखक ने लिखा है कि ब्रिटिश निर्माता अमरीका और जर्मनी को महान् उत्पादक देशों के रूप में परिवर्तित देखकर बहुत विस्मित और भयभीत हुए । ब्रिटिश उद्योगों की अवनति का एक कारण दूसरे देशों में राष्ट्रीय भावना का उदय था ।

मूल्यों और लाभ में ह्रास के होते हुए भी कुछ उद्योग विकसित होते रहे यद्यपि विकास की गति पहले की अपेक्षा कम थी परन्तु विक्टोरिया कालीन समृद्धि की तुलना में प्रति व्यक्ति उत्पादन क्षमता १·१ के स्थान पर १·६ हो गयी । पिछले काल की अपेक्षा बेकारी अधिक नहीं थी । उद्योग में मिश्रित पूँजी कम्पनियों की तेजी से वृद्धि हुई । बड़े पैमाने पर व्यापार, अधिक पूँजी की आवश्यकता तथा यंत्रीकरण, यंत्रीकृत यातायात के कारण सीमित दायित्व मिश्रित पूँजी कम्पनियों की संख्या बढ़ी । इस काल में एकाधिकार सम्पन्न संगठन और उद्योगपतियों में औद्योगिक समझौता भी तेजी से बढ़े। उत्पादन व्यय में कमी करने और यांत्रिक कुशलता की वृद्धि के लिए संयोजन

बढ़े जिससे कि प्रतियोगी बाजारों में ब्रिटेन की स्थिति अच्छी हो गयी। इस्पात, बिजली, बाइसिकिल और मोटर उद्योगों में वृद्धि हुई। यह वृद्धि कपास और ऊन उद्योग की तुलना में कम थी। इन प्रवृत्तियों से स्पष्ट है कि मूल्यों, लाभों और ब्याज में ह्रास के साथ-साथ विकास की गति जारी थी। बहुत से अर्थशास्त्रियों का मत है कि यह काल औद्योगिक प्रतिकूलता का नहीं बल्कि महान् कठिनाईयों के बीच प्रगति का काल है।

इंगलैंड के दो महत्वपूर्ण उद्योगों को अधिक क्षति पहुँची। इनमें से एक लोहा उद्योग था, यद्यपि इसके स्थान पर इस्पात उद्योग का विकास हुआ। लोहे से इस्पात में परिवर्तन के कारण लौह उद्योग को धक्का लगा। दूसरा उद्योग जहाजों का था, जिसे भी अधिक क्षति पहुँची। लोहे से फौलाद के उपयोग और हवा से चलने वाले जहाजों के बदले भाप से चलने वाले जहाजों में परिवर्तन के कारण बड़े पैमाने पर जहाजों को तोड़ना पड़ा। पहले पश्चिमी देशों को पूर्वी देशों से जोड़ने वाला समुद्री मार्ग बहुत लम्बा था और इसके लिए अधिक जहाजों की आवश्यकता थी। पर स्वेज नहर के खुल जाने से और वाणिज्य मार्ग छोटा हो जाने से कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई। कुछ देशों ने बहुत सी जहाजी सेवाएं आरम्भ कर दीं जिनका भाड़ा कम था। अतएव इससे भी इस क्षेत्र में मंदी आयी।

ह्रासोन्मुखी प्रगति का काल (१९००-१९१४). मन्दी से उत्पन्न भय १९०० के बाद दूर हुए क्योंकि अनेक दिशाओं में प्रगति हुई। वस्तुओं के भाव फिर से बढ़े और सभी प्रमुख उद्योगों में उत्पादन बढ़ा। कोयला, कपास, ऊन, लोहा और इस्पात इंजीनियरिंग उद्योगों में विकास के अन्य लक्षण दृष्टिगोचर हुए तथा उत्पादन में वृद्धि होती गई। उत्पादन वृद्धि से निर्यात में ८० प्रतिशत से कम वृद्धि नहीं हुई। आयात में भी वृद्धि हुई पर यह ४५ प्रतिशत से अधिक नहीं थी। आयात मुख्यतः खाद्यपदार्थों, अनाज, मांस, कच्चे माल, कपास, ऊन, तिलहन, आदि का हुआ। मुख्य निर्यात कपड़ा, ऊन, कोयला, लोहा, इस्पात, मशीनों आदि का हुआ। उपनिवेशों और आश्रित देशों के प्रति अब ब्रिटेन की नीति अबन्ध व्यापार की नहीं थी। दूसरे देशों की ओर पूँजी निदेश का बहाव बढ़ा।

यह भी अनुभव हुआ कि यद्यपि औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटेन की विश्व व्यापार क्षेत्र में सर्वोच्च स्थिति बनाई पर अब वह स्थिति बिगड़ने लगी थी। इसकी तुलनात्मक स्थिति और भी बिगड़ गयी क्योंकि उसने ऐसे समय वैज्ञानिक अनुसंधान की उपेक्षा की जब कि जर्मनी, संयुक्त राज्य अमरीका और दूसरे देश नवीन प्रविधि और ज्ञान पथ पर तेजी से अग्रसर हो रहे थे। इसके फलस्वरूप ब्रिटेन में कुछ महत्वपूर्ण अन्वेषण संस्थाओं का संगठन किया गया जिन्होंने नए उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान

दिया। इन संस्थाओं में नेशनल फिजिकल लेबोरेटरी, फ्यूल रिसर्च इंस्टीट्यूट, नेशनल इंस्टीट्यूट आफ इन्डस्ट्रियल साइकालोजी उल्लेखनीय हैं। नए उद्योगों में बिजली, रासायनिक उत्पादन, मोटर यातायात, हवाई यानायात और बेतार के तार उद्योग थे।

इस काल स्थिति में जो सुधार हुए उनका पूर्ण श्रेय ब्रिटेन द्वारा अपनाए गए उपायों को नहीं है वरन् वे तो बहुतांश में बदली हुई विश्व परिस्थिति के कारण हुए थे। बढ़ते मूल्य और बढ़ती माँगें सामान्य बात थीं। अफ्रीका और अमरीका में स्वर्ण की खोज ने संसार में स्वर्ण पूर्ति की कमी दूर कर दी और स्वर्ण का उत्पादन अधिक बढ़ गया जिससे सामान्य मूल्यों में वृद्धि हुई। इससे औद्योगिक वस्तुओं की मूल्य वृद्धि की तुलना में आयातित खाद्य सामग्रियों की मूल्य वृद्धि अधिक हुई और तुलनात्मक दृष्टि से ब्रिटेन की स्थिति धीरे-धीरे गिर रही थी जो कि स्पष्ट दिखाई नहीं देती थी। मजदूरों में असंतोष बढ़ा क्योंकि उनकी वास्तविक मजदूरी स्थिर हो गयी थी या कृषि पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि के कारण कुछ घट गई थी।

जर्मनी और संयुक्त राज्य अमरीका की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से सुधर रही थी। १६१३ में संसार के उत्पादन की दृष्टि से ब्रिटेन में निर्मित वस्तुओं का उत्पादन १८७० की तुलना में ३२ प्रतिशत से घट कर १४ प्रतिशत रह गया था। उसी काल में संयुक्त राज्य अमरीका का उत्पादन २३% से बढ़ कर ३६% हो गया और जर्मनी का उत्पादन १३% से १६% हो गया। संयुक्त राज्य अमरीका में इस्पात का उत्पादन इंगलैंड से अधिक था। जर्मनी का इस्पात उत्पादन १६१३ में ब्रिटेन से दूना हो गया था। इस तरह ग्रेट ब्रिटेन कई दृष्टियों से पिछड़ रहा था और उसकी औद्योगिक स्थिति संयुक्त राज्य अमरीका और जर्मनी के बाद थी। यह सत्य है कि इंगलैंड में नए उद्योगों का विकास हुआ पर अन्य दो देशों की तुलना में वह तेजी से विकास नहीं कर रहा था। बिजली की शक्ति ब्रिटेन में क्रान्तिकारी साधन के रूप में आरम्भ हुई परन्तु इसके उपयोग में वह जर्मनी से बहुत पीछे था। भाप शक्ति-चालित हवाई यातायात और मोटर यातायात का जर्मनी और फ्रांस में क्रान्तिकारी विकास हुआ, जब कि इस दृष्टि से इंगलैंड बहुत पीछे था। १६१२ में ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरिका की तुलना में ५% और फ्रांस की तुलना में ५०% मोटरें तैयार करता था। ब्रिटेन का सबसे महत्वपूर्ण उद्योग सूती कपड़ा उद्योग था पर इसमें भी त्रुटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती थीं। वह स्वयं कपास का उत्पादन नहीं करता था। अतः उसे अपने इस उद्योग की स्थिरता और विकास के लिए दूसरे देशों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता था। यह विदित ही था कि यह उद्योग आसानी से उन देशों में विकसित हो सकता था जहाँ कच्चा माल सुलभ था। कोयला उद्योग की स्थिति भी कोयले के स्थान पर अन्य पदार्थों के सुलभ होने के फलस्वरूप गिरती जा रही थी।

प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१९१९). चूँकि युद्ध काल में सदैव क्रियाशीलता बढ़ जाती है अतएव ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक और औद्योगिक प्रश्न जो पिछले दिनों में उलझनें पैदा कर रहे थे बहुत कुछ इस काल में दब गए। कुछ उद्योगों की न्यूनताओं और दुर्बलताओं के साथ-साथ उनका विकास और उत्पादन घटा नहीं। युद्ध के लिए कुछ महत्वपूर्ण मूलभूत उद्योगों का उत्पादन बढ़ा। इनमें लोहा, इस्पात और इंजीनियरिंग उद्योग प्रमुख था क्योंकि युद्ध आरम्भ होते ही शस्त्रास्त्रों के उत्पादन के लिए इनकी बहुत आवश्यकता थी जिससे इन उद्योगों को प्रोत्साहन मिला। कपास व्यवसाय का विस्तार रुक गया। यद्यपि सेना के लिए कपड़े की माँग बढ़ रही थी और इसकी पूर्ति किसी तरह भी करना आवश्यक था। जहाजों की कमी, कच्चे माल की पूर्ति में बाधा और तैयार माल को सुदूर बाजारों में भेजने में कठिनाइयाँ बढ़ गई। कपास व्यापार को नियंत्रित करने के लिए काटन कंट्रोल बोर्ड की स्थापना की गयी। बोर्ड ने प्रत्येक कारखाने के लिए कपास की मात्रा निर्धारित की। कोयला उद्योग में भी बहुत से परिवर्तन हुए। कई कारणों से इस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था। युद्ध ने इसके महत्व को घटा दिया क्योंकि इसमें लगी जन शक्ति घट गयी। कोयले की योरोप में माँग घट गयी और इस प्रकार इस व्यापार का क्षेत्र संकुचित हो गया।

सरकारी नियंत्रण और हस्तक्षेप बढ़ गया। बड़ी संख्या में लोगों को खेती उद्योग से हटा कर सेना में भरती करने के कारण सरकार ने केन्द्रीयकरण तथा नियंत्रण सम्बन्धी उपाय किए जिससे कि युद्ध के लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्रों का उत्पादन शीघ्रता से किया जा सके। सरकार का रेलों, खदानों और कुछ मूलभूत उद्योगों पर पूर्ण नियंत्रण था। १९०५ और १९१६ के म्यूनिशंस आफ वार ऐक्ट के अनुसार सरकार को उद्योगों में कुछ ढील देने के अधिकार दे दिये गये और महिलाओं को रोजगार देने के सम्बन्ध में जो रुकावटें थीं उनको दूर कर दिया गया। इन कानूनों के अन्तर्गत हड़ताल करने का अधिकार समाप्त कर दिया गया। श्रमिक झगड़े होने पर अनिवार्य पंच फैसलों की व्यवस्था थी।

ग्रेट ब्रिटेन ने १९१८ में युद्ध जीत लिया। जिन प्रवृत्तियों ने ब्रिटेन को १८७५-१९१२ में संकट में डाला था और जो अस्थायी रूप से दबा दी गयी थीं वे पुनः उभरने लगीं। इस प्रकार की निम्नांकित अवांछनीय प्रवृत्तियाँ उभरीं :—विदेशी प्रतिस्पर्धा में वृद्धि, साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता, राष्ट्रीयता और बढ़ता हुआ सीमाशुल्क, ग्रेट ब्रिटेन और अन्य साम्राज्यों में परिवर्तित सम्बन्ध, कृषि और उद्योगों के बीच स्थापित संतुलन में गड़बड़ी, जिसके कारण खाद्यान्नों

और कच्चे पदार्थों के लिए विदेशों पर निर्भरता बढ़ी और ब्रिटेन की निर्बलताएँ उभरने लगीं।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व महामंदी (१९२०-३९). प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद मूल्यों और मजदूरी में तेजी आयी। १९१९ के बसन्त काल में फुटकर मूल्य १९१४ के स्तर से दुगने थे। ब्रिटेन में स्वर्ण मान चालू था और मूल्य बढ़ रहे थे सरकार ने ३१ मार्च, १९१९ को स्वर्णमान त्याग की घोषणा की। इस नीति से सरकार के लिए घरेलू वित्तीय समस्याओं को सुलझाने में आसानी हुई और आर्थिक क्रिया कलापों में क्षणिक तेजी आयी।

१९१९-२० की क्षणिक तेजी गड़बड़ी पैदा करने वाली थी। मजदूर अधिक वेतन पाने और कम घंटे काम करने पर जोर दे रहे थे। पूँजीगत बाजार में तेजी थी और १९२० में करीब २५ करोड़ पौंड की पूंजी नयी कम्पनियों के लिए संगृह की जा सकी। इतनी पूँजी द्वितीय महायुद्ध के पहले किसी भी वर्ष एकत्र नहीं की जा सकी थी जो कि मूल्य वृद्धि का मुख्य कारण हुआ। १९२० में वस्तुओं का मूल्य २५% बढ़ गया।

सामान्य लक्षण. शीघ्र ही तेजी के समाप्त होने के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। मुद्रा का विस्तार चरम सीमा तक पहुँच गया था। बैंक दर ७ प्रतिशत हो चुकी थी और सरकार ने बचत का बजट पेश किया। साख का विस्तार समाप्त हो रहा था। नयी कम्पनियों के हिस्से खरीदने से जो आसानी थी वह धुँधली पड़ने लगी। मजदूरी के झगड़ों से महत्वपूर्ण कोयला उद्योग में हड़तालें होने लगीं। कपास व्यापार में भी गड़बड़ी होने लगी। बेकारी बढ़ गयी। यह पहले उपभोक्ता वस्तुओं के व्यापार क्षेत्र में फैली और वहाँ से दूसरे उद्योगों में बढ़ने लगी। १९२० का आरम्भ जब कि तेजी (boom) से शुरू हुआ था उसके अन्त में व्यापारिक गतिरोध पैदा हो गयी। अल्पकालीन बेकारी बढ़ गई। थोक वस्तुओं के व्यापार में भारी ह्रास हुआ। सामान्य जनता फुटकर माल खरीदने में हिचक रही थी क्योंकि थोक भावों में कमी का प्रभाव फुटकर भावों पर नहीं पड़ रहा था।

१९२० की तेजी ने नवीन पूँजीगत उपकरण प्राप्ति में अधिक सहायता की। बहुत से कारखानों में आवश्यकता से अधिक पूँजी लगाने के कारण गड़बड़ी पैदा हुई। साथ ही कुछ लोगों ने जो पूँजी लगायी, उसका उपयोग नवीन उत्पादन में तो नहीं पर प्रस्तुत उद्योगों को असाधारण ऊँचे मूल्यों पर खरीदने में हुआ। इससे विनिमय बाजार में सट्टेबाजी बढ़ी। १९२० के मध्य में स्पष्टतः मंदी फैलने लगी यद्यपि बहुत से उद्योग संस्थान निर्यात के लिए वस्तुएँ तैयार करने में लगे हुए थे। १९२१ के आरम्भ में ६% बेकारी थी और यह बढ़ रही थी। मजदूरी के

घटने और बेकारी बढ़ने के कारण १९२१ में मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के विषयक सभी विचारों को त्याग दिया गया। १९२२ में प्रायः सभी उद्योगों ने मजदूरी घटा दी। कुछ मामलों में तो यह दिसम्बर १९२१ के स्तर से ३०% घटा दी गयी। १९२२ से १९२४ तक घरेलू खपत के लिए माल तैयार करने वाले उद्योगों की कुछ स्थिति सुधरी पर निर्यात व्यापार बहुत ही मंद रहा। १९२४ और १९२९ के बीच पूरे संसार की स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ पर इसका इंगलैंड पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। संसार के उद्योगों और वाणिज्य में वृद्धि हुई पर इसमें ब्रिटेन का भाग घटा ही। १९३२ में मूल्य बहुत गिर गए। १९३३ में थोड़ा सुधार हुआ पर १९३७ में फिर आपत्ति आयी। १९२० के बाद मजदूरों में बेकारी १० से २२ प्रतिशत के बीच घटती बढ़ती रही। १९३२ में बेकारों की संख्या ३७,५०,००० से कम नहीं थी। निर्यात में भी तेजी से ह्रास हुआ। १९१३ को आधार वर्ष मान कर १९३७ में निर्यात का सामान्य सूचकांक (index) ७२ रह गया। भुगतान शेष (Balance of payment) सम्बन्धी उलझनें पैदा हो गयीं। अबन्ध व्यापार के कारण ब्रिटेन ने आयात अधिक किया पर निर्यात कम कर सका। आरम्भ में घाटा कम था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में उसके आयात की अपेक्षा निर्यात कम था और वाणिज्य घाटा वार्षिक औसतन १५ करोड़ पौंड हो गया। पर उसकी जहाजों, वाणिज्य और बीमा सम्बन्धी सेवाओं और विदेशी पूँजी से इतनी विदेशी मुद्रा मिली कि उसे भुगतान शेष सम्बन्धी कठिनाइयाँ नहीं हुई। वह पूँजी का निर्यात करता था और अधिक लाभ उठाता था। १९२७-१९२९ के बीच उसका औसत वाणिज्य घाटा वार्षिक ३७·३ करोड़ पौंड का था।

संक्षेप में इस काल के मुख्य आर्थिक लक्षण थे व्यापक बेरोजगारी, जनसंख्या का गमनागमन जिससे गरीबी और दुख में वृद्धि हुई, पुराने उद्योगों से नए उद्योगों में जनशक्ति का स्थानान्तरण, ब्रिटेन को विश्व प्रतिस्पर्धा में बचाने की आशा से अबन्ध व्यापार त्याग, आर्थिक जीवन में राज्य की गतिविधियाँ और हस्तक्षेप में वृद्धि।

युद्ध में राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आर्थिक क्षेत्र की विभिन्न शाखाओं में सरकारी नियंत्रण का कुछ संकेत मिल चुका है यद्यपि युद्ध के बाद बहुत से नियंत्रण समाप्त कर दिए गए पर संरक्षण की दृष्टि से १९२१ के सेफगार्डिंग आफ इन्डस्ट्रीज ऐक्ट के अन्तर्गत कुछ उद्योगों को जैसे मोटर गाड़ियों, घड़ियों, फिल्मों, चश्मों आदि को संरक्षण दिया गया। बेकारी भत्ते की भी व्यवस्था की गयी और १९२० तक राष्ट्रीय बीमा योजना का लाभ १·१० करोड़ मजदूरों को मिलने लगा। कुछ उद्योगों जैसे चुकन्दर शक्कर उद्योग और इम्पीरियल एयरवेज़ को सरकार ने उपदान दिए। १९३० के कोल माइंस ऐक्ट के अन्तर्गत खदान मालिकों के लिए मूल्य और कोटा

निर्धारित किए गए । सरकार ने सेन्ट्रल एलिक्ट्रिसिटी बोर्ड की स्थापना की और गृह निर्माण नीति का विकास किया । उपदान द्वारा गृहनिर्माण प्रोत्साहित किया गया। १९१९-३० में १५ लाख गृह तैयार हुए तथा देश में गृहों की संख्या २० प्रतिशत बढ़ गयी । इन सब उपायों के होते हुए भी मंदी जारी रही, बेकारी बढ़ी और मजदूरी गिरी । आम हड़तालें अधिक होने लगीं ।

सूती उद्योग में मंदी. १९२० के बाद सूती कपड़ा उद्योग में विश्व व्यापी गिरावट तेजी से हुई । यद्यपि दूसरे देशों में स्थिति शीघ्र ही सुधर गयी और उद्योग का विकास हुआ पर इंगलैंड में उत्पादन निरंतर गिरता ही गया । कपास निर्यात और सूती कपड़े के उत्पादन में ह्रास के कई कारण थे । (१) सूती कपड़े उद्योग कई नए देशों में जैसे संयुक्त राज्य अमेरीका, भारत, जापान और चीन में शुरू हो गया । भारत, जापान, चीन, और ब्राजील में तकुओं की संख्या १९१३ में एक करोड़ थी, यह १९२४ में १ करोड़ ८० लाख हो गयी । भारत और जापान में शक्ति चालित करघों की संख्या १९१३ में १·२० लाख थी, यह १९२२ में २ लाख हो गयी। १९३४ में भारत में ब्रिटिश माल का ७०% भाग उत्पन्न होने लगा । भारत ब्रिटिश माल का २५% जापान से आयात करने लगा । जापान में उत्पादन तेजी से बढ़ रहा था । १९३३ में जापान ने सूती कपड़े के निर्यात में ब्रिटेन की समानता कर ली और आगामी दो वर्षों में तो वह इंगलैंड से आगे बढ़ गया । ऊन उद्योग को धक्का पहुँचा पर यह कपास की अपेक्षा कम ही था क्योंकि इंगलैंड विदेशी व्यापारों की अपेक्षा अपने ही व्यापार पर निर्भर था । (२) भारत के असहयोग आन्दोलन, भद्र अवज्ञा आन्दोलन और वहिष्कार आन्दोलन का भी ब्रिटिश कपड़ा उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा । (३) अन्य देशों द्वारा अपनाई गयी संरक्षण नीति भी महत्वपूर्ण कारण थी । (४) जापानी सूती वस्त्र उद्योग अच्छी तरह से यंत्रीकृत हो गया था और उसके यंत्र आदि ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा अच्छे थे । जापान में मजदूरी इंगलैंड की बढ़ती मजदूरी से कम भी थी । और (५) ब्रिटेन कच्चे माल के लिए भारत और संयुक्त राज्य अमरीका की तुलना में पूर्णतः विदेशों पर निर्भर था ।

लोहा उद्योग में मंदी. महायुद्ध के पश्चात् तेजी का अन्त हुआ पर लोहे और इस्पात के उत्पादन में तुरन्त कमी नहीं हुई । १९२० के बाद बाजार में संकट उत्पन्न हो गया क्योंकि पुराने बाजार में माल की माँग घट गयी । १९१३ और १९२३ के बीच कच्चे लोहे का निर्यात फ्रांस को ६३ प्रतिशत, इटली को २८ प्रतिशत और जापान को ७७ प्रतिशत घट गया । जापान स्वयं इस्पात तैयार करने लगा था । इटली ने उसके उपयोग में अत्यधिक कमी कर दी थी और जापान, भारत

और चीन से लोहे का आयात करने लगा था। १९२४-२५ में संसार में लोहे और इस्पात का उत्पादन भी बढ़ गया था जिससे ग्रेट ब्रिटेन को हानि हुई।

इस उद्योग में ह्रास के और भी अनेक कारण थे। (१) कच्चे लोहे की माँग जिसमें ब्रिटेन की स्थिति प्रबल थी घट गयी। दूसरे देश इस्पात उद्योग में तेजी से प्रगति कर चुके थे। (२) ब्रिटेन में उत्पादन व्यय अन्य देशों की अपेक्षा अधिक था। वह न्यूनतम वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग में भी अन्य देशों से उच्च नहीं था। सरकार और निजी उत्पादकों की वित्तीय नीतियाँ व्ययसाध्य थीं, मूल्यों में तेजी के कारण पूँजी में असाधारण वृद्धि हुई और पूँजी निर्माण में वृद्धि के लिए ब्याज दर में वृद्धि हुई। सामाजिक सेवाएँ जैसे निर्धनों को सहायता विषयक कानून आदि बहुत बढ़ गए और काम के घंटे घट गए।

कोयला उद्योग में मन्दी. इस काल में कोयला खनन उद्योग को सबसे अधिक हानि हुई। १९१३ में उसने २८ करोड़ ७० लाख टन कोयले का उत्पादन किया जिसमें से ९ करोड़ ४० लाख टन का निर्यात हुआ। १९३४ में २२ करोड़ टन का उत्पादन हुआ और इसमें से ५ करोड़ ३० लाख टन का निर्यात हुआ। ब्रिटेन विदेशों की कोयले की माँग की जितनी पूर्ति कर रहा था उसमें कमी होने लगी। युद्ध पूर्व ब्रिटेन संसार की कोयला मांग का १० प्रतिशत पूर्ति करता था। यह पूर्ति १९२५ में ७ प्रतिशत तथा बाद में और भी कम हो गयी।

कोयला उद्योग के विकास में रुकावट बढ़ गयी क्योंकि इसके उपयोग में कमी होने लगी और इसके बदले में दूसरी शक्तियों का जैसे बिजली, अल्कोहल, तेल, ईंधन, आदि का प्रयोग होने लगा। युद्ध काल में कोयले के भाव की तेजी के कारण उन देशों में कोयले का उत्पादन होने लगा जो पहले उसे मुख्यतः इंगलैंड से आयात करते थे। इन गतिविधियों के फलस्वरूप इस उद्योग में आवश्यकता से अधिक उत्पादन क्षमता हो गयी। माँग में वृद्धि न होने के कारण कठिनाइयां बढ़ गयीं। १९२५ के बाद जबकि योरोपीय देशों में कोयला उत्पादन बढ़ा और साथ ही कोयले की माँग भी बढ़ी, इंगलैंड में कोयले का उत्पादन गिरता ही गया। १९१३ के बाद से कोयले के आन्तरिक उपयोग में भी कमी हुई। साथ ही घरों को गरम रखने के लिए बिजली और गैस जो कि सस्ते थे, अधिक काम में लाए जाने लगे। कोयला उद्योग को विदेशी बाजारों में भारी धक्का पहुँचा। तेल, पनबिजली और दूसरे देशों में कोयला उत्पादन वृद्धि का सबसे अधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसमें ह्रास का एक कारण यह भी था कि यह उद्योग अपने योरोपीय प्रतिस्पर्धियों की तुलना में अपने संगठन और कार्य विधियों में यथेष्ट कार्य क्षमता नहीं बढ़ा सका। उत्पादन व्यय में वेतन का सबसे बड़ा अंश था जबकि योरोपीय देशों में वेतन दर अपेक्षाकृत कम थी।

१६२६ की विश्वव्यापी मंदी ने इस उद्योग में ह्रास के लिए जिम्मेदार शक्तियों को और भी मजबूत कर दिया। उद्योग को हानि पहुँचने का एक कारण यह भी था कि भारी निर्माण उद्योगों और जहाजी उद्योगों में अस्थिरता तथा घरेलू खर्च के लिए कोयले की मौसम के अनुसार माँग भी थी।

इस उद्योग की स्थिति में सुधार विषयक सिफारिशें करने के लिए १६२५ में कोयला आयोग (Coal Commission) की स्थापना हुई। इसकी मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं :—उद्योग की युक्ति संगत आधार (rational lines) पर योजना बनाई जाय; कोयले की विभिन्न किस्मों का वर्गीकरण किया जाय; इसके कच्चे रूप में जलाने के अपव्यय को रोका जाय; उद्योगों की छोटी इकाइयों को बड़ी इकाइयों में सम्मिलित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय; वर्तमान कोयला उद्योग और सहायक उद्योगों जैसे इस्पात कारखाने, रासायनिक कारखाने, धमन भट्टियों में सहयोग बढ़ाया जाय। खनन के मालिकों और सरकार ने केवल उन उपायों को अपनाया जो उनके लिए स्वाभाविक थे।

जहाज निर्माण उद्योग में मन्दी. इस काल में जो बड़े उद्योग संकट में थे उनमें जहाज निर्माण उद्योग भी था। १६३२ में इस उद्योग में ६२ प्रतिशत बेकारी थी। नौ इंजीनियरिंग उद्योग में भी ५० प्रतिशत से अधिक बेकारी थी जबकि राष्ट्रीय औसत २२ प्रतिशत का था। यह उद्योग अन्य देशों के जहाज निर्माण उद्योग से पिछड़ता गया।

इस उद्योग की सर्वोच्चता घटने के अनेक कारण हैं। (१) विदेशीय नौ परिवहन और जहाज निर्माण को बहुतांश में सरकारी उपदान प्राप्त था। सारे संसार में यह राष्ट्रीय सुरक्षा का महत्वपूर्ण अंग था। (२) ब्रिटिश जहाज निर्माण व्यय विदेशी व्यय की तुलना में अधिक था।

महा मन्दी के कारण. उपरोक्त तथ्यों के प्रकाश में इस उद्योग गिरावट के सामान्य कारण निम्नलिखित थे :

पहला, अन्य औद्योगिक शक्तियों के उदय के कारण ब्रिटिश औद्योगिक सर्वोच्चता घट गयी। ब्रिटेन "संसार की कार्यशाला" नहीं रहा, जैसा कि वह उन्नीसवीं शताब्दी में था। संयुक्त राज्य अमेरीका और जर्मनी संसार की प्रथम और द्वितीय शक्तियों के रूप में उठे और उनसे प्रतिस्पर्धा में निर्यात बाजारों में कमी हुई। विश्व वाणिज्य का विस्तार हो रहा था और उसमें ब्रिटिश अंश तुलनात्मक रूप में और पूर्णतः घटता जा रहा था।

दूसरा, विश्व की नवीन शक्तियों और अन्य देशों ने संरक्षण नीति अपनायी। वे न केवल अपने उद्योगों के संरक्षक के लिए कृतिसंकल्प थे, बल्कि उनका विकास इतनी अच्छी तरह करना चाहते थे जिससे वे बढ़ते बाजारों में अपने माल की पूर्ति कर सकें। इस सम्बन्ध में आर्थिक राष्ट्रीयता ने महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। राष्ट्रीयता और संरक्षण की निश्चयात्मक नीति के अतिरिक्त अनेक देशों ने ब्रिटिश माल का वह्हिष्कार किया और असहयोग और नागरिक भद्र अवज्ञा आन्दोलन का क्रमवद्ध संगठन किया।

तीसरा, ब्रिटिश उद्योग बहुतांश में विदेशी कच्चे माल और विदेशी बाजार पर निर्भर थे। उसका सबसे प्रमुख उद्योग सूती वस्त्र था जो बहुतांश में विदेशी बाजारों और उन देशों से कच्चे कपास आयात पर निर्भर था जिन पर राष्ट्रीयता और संरक्षणवाद का उत्तरोत्तर प्रभाव पड़ रहा था। कोयला खनन उद्योग पर कोयले के स्थान पर उपयोग में आने वाली वस्तुओं का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन इस उद्योग के ढाँचे और संगठन में आवश्यक सुधार नहीं कर सका था; वह अपने समस्त सामान्य और विशेष उद्योगों के हितों का संरक्षण नहीं कर सका।

चतुर्थ, यांत्रिक परिवर्तनों से ब्रिटिश उद्योगों की अपेक्षा अन्य देशों को अधिक लाभ हुआ। ब्रिटेन को हानि पहुँचने का कारण यह था कि यद्यपि वह संसार का प्रथम औद्योगिक देश था परन्तु वह औद्योगिक विकास के लिए निरन्तर परिवर्तन करने के लिए तैयार न था। लोहे को ढालने के स्थान पर इस्पात तैयार किया जाता था; कोयले का स्थानापन्न तेल, पेट्रोल और पनबिजली था। रासायनिक और इंजीनियरिंग उद्योगों में भी वैसे ही परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों ने पुराने ब्रिटिश उद्योगों को अधिक क्षति पहुँचाई। देश तेजी से उन नवीन वस्तुओं को तैयार करने की ओर नहीं बढ़ सका जिनकी विश्व बाजारों में माँग बढ़ रही थी। मुख्य कारण निम्नलिखित थे : निर्माता और वाणिज्य नेताओं की असफलता, जड़ता, रेशा उद्योग में निहित स्वार्थ, विश्वव्यापी आर्थिक क्रान्ति के आधार पर परिवर्तन करने की आवश्यकता समझने में असफलता, संगठनगत सुधार से वित्तीय हानि और सामाजिक कष्ट की सम्भावना।

पाँचवाँ, संयुक्त राज्य अमरीका से आरम्भ महान् मंदी ने इंगलैंड में व्याप्त गिरावट के कारणों को और भी तीव्र कर दिया। साथ ही संसार में औद्योगिक वस्तुओं की अपेक्षा खाद्यान्नों और कच्चे माल के भाव और भी तेजी से गिरे जिसके फलस्वरूप कच्चा माल उत्पादक देशों को प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। वे अपने सीमित निर्यात के लिए निर्मित वस्तुएँ कम चाहते थे। इनका ब्रिटिश निर्यात और ब्रिटिश उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

छठवाँ, दो युद्धों के बीच कुछ ऐसी विशिष्ठ वित्तीय घटनाएँ घटीं जिनके कारण इंगलैंड में स्थायित्व प्रदान करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न न हो सकीं। १९१४ के पहले अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का केन्द्र लन्दन था। परन्तु युद्धोत्तर काल में न्यूयार्क और पेरिस प्रतिद्वन्दी केन्द्रों के रूप में उदित हुए। साथ ही युद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय ऋण वृद्धि हुई जिसने अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के सरल संचालन में बाधा डाली। संयुक्त राज्य अमरीका महान् ऋणदाता देश के रूप में उदित हुआ। परिणामस्वरूप गतिमान धन (hot money) का प्रादुर्भाव हुआ और इसमें गतिशीलता इतनी बढ़ गयी कि जहाँ भी मुद्रा की स्थिति शक्तिशाली होने की आशंका होती थी वहाँ पूँजी की भरमार हो जाती थी। इसके कारण असंतुलन बहुत बढ़ गया।

अन्त में, मुद्रा सम्बन्धी कारण भी औद्योगिक विकास के प्रतिकूल थे। ब्रिटेन को प्रतिष्ठाजन्य भ्रान्ति से भी अधिक हानि हुई। अन्य देशों के समान, ब्रिटेन भी युद्ध के पश्चात् ही स्वर्णमान का परित्याग कर चुका था जिससे पौंड का मूल्य निर्धारण प्राकृतिक कारणों पर छोड़ दिया गया था। अब यह अनिवार्य नहीं था कि ब्रिटेन अपने नोटों के बदले स्वर्ण चुकाए। राजकीय कोषागार ने भी अपने नोट चालू किये जिनके मूल्य के अनुपात में स्वर्ण जमा नहीं था। ये नोट बढ़ती संख्या में बैंक आफ इंगलैंड के नोटों के साथ १९२८ तक चलते रहे। १९२८ में बैंक नोटों और राज्यकोषागार के नोटों का एकीकरण कर दिया गया। यद्यपि नोट चलन करने की सीमाएँ अधिक बढ़ गई थीं तथापि मुद्रा संचालन के परिमाण पर बैंक आफ इंगलैंड और संसद का नियंत्रण था। इंगलैंड को सबसे अधिक हानि १९२५ में स्वर्ण मान पुनः ग्रहण करने से हुई। १९२५ में योरोप के बहुत से देशों ने अपनी मुद्रा को स्थिर किया और उसे पुनः स्वर्ण से सम्बद्ध कर दिया। परन्तु इंगलैंड ने स्वर्णमान ऐसी दर पर ग्रहण किया जो युद्ध पूर्व मुद्रा दर से थोड़ी ही कम थी। उसने यह बहुत कुछ अपनी प्रतिष्ठा के आधार पर किया। पौंड का स्वर्ण के साथ अनुपात अन्य देशों की तुलना में वस्तुतः बहुत ऊँचा था। इसके फलस्वरूप निर्यात मँहगा हो गया और बिक्री घट गयी। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान विषयक असंतुलन और भी बढ़ गया और ब्रिटिश उद्योग को धक्का लगा। इसका आर्थिक स्थिति पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। अतएव १९३१ में पुनः स्वर्णमान त्यागना पड़ा। लिविस (Lewis) ने लिखा कि "पौंड की प्रतिष्ठा केवल ६ वर्षों के लिए प्राप्त हुई तथा इसके लिए भारी मूल्य चुकाना पड़ा।"

उपाय. सरकार और उद्योग ने मंदी की रोकथाम के लिए अनेक उपाय किए। पहला, उत्पादकों ने अनुभव किया कि वे विदेशी बाजारों में स्पर्धा में तभी सफल हो सकते हैं जब वे उत्पादन व्यय घटाएँ और श्रमिकों और यंत्रों की कार्य कुशलता

बढ़ाएँ। मजदूरी में कमी की गयी और प्रति व्यक्ति और यंत्र की उत्पादन क्षमता अधिक परिश्रम और श्रम विभाजन द्वारा बढ़ायी गयी। श्रमिकों के बदले यंत्रों से अधिक काम लिया जाने लगा और यंत्रों तथा श्रमिकों से होने वाले अपव्यय पर नियंत्रण कड़ा किया गया। उद्योगों के सभी क्षेत्रों में कार्यकुशलता वृद्धि की वैज्ञानिक व्यवस्था पर जोर दिया जाने लगा।

दूसरा, १९३१ में स्वर्णमान त्याग दिया गया। पौंड का मूल्य जो कि पहले से ही अधिक था ४·८६ डालर से घट कर ३·८० डालर हो गया। पौंड के मूल्य ह्रास से निर्यात सस्ते और आयात मंहगे हो गए। भुगतान संतुलन समस्याएँ कम हो गयीं और सरकार अपनी घरेलू नीति अधिक विश्वास और योग्यता से लागू कर सकी।

तीसरा, अबन्ध व्यापार त्याग दिया गया। विदेशों में तटकर फ्री ट्रेड लीग और जान चैम्बरलेन की साम्राज्यांतर्गत देशों के माल को अधिमानता देने की नीति ब्रिटेन के स्वतन्त्र व्यापार को न हिला सकी। परन्तु इस कार्य को १९२९ की मंदी ने पूरा कर दिया और ब्रिटेन भी संरक्षणवादी देश बन गया। १९३२ के इम्पोर्ट ड्यूटीज ऐक्ट, व्हीट ऐक्ट, इम्पोर्ट ड्यूटीज एडवाइजरी कमेटी की स्थापना और अनेक वस्तु-करों ने ब्रिटिश आर्थिक स्थिति को परिवर्तित कर दिया।

चौथा, ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की संरक्षण नीति के साथ साम्राज्यान्तर्गत देशों को अभिमानता देने की व्यवस्था भी लागू थी। आश्रित देशों के प्रति विशिष्ठ व्यापार था और इसके पीछे ब्रिटिश साम्राज्य सम्बन्धों को सुदृढ़ करने की भावना थी। १९३२ की ओटावा में इम्पीरियल इकनामिक कान्फ्रेंस में ब्रिटेन ने साम्राज्य के बाजारों में तटकरों में रियायतें प्राप्त कीं।

पाँचवाँ, एक विनिमय नियंत्रण प्रणाली अपनाई गई। १९३२ में २२·७० करोड़ पौंड के कोष से एक विनिमय समकरण निधि (Exchange Equalization Fund) स्थापित की गयी। इसका मुख्य उद्देश्य पौंड के मूल्य में होने वाली घट बढ़ से उत्पन्न गड़बड़ियों की रोकथाम करना था।

छठवाँ, सस्ती मुद्रा नीति (cheap money policy) अपनायी गयी। बैंक आफ इंगलैंड ने ब्याज दर घटा दी। इसका उद्देश्य उत्पादन बढ़ाना था। खुले बाजार के लेन देन (open market operations) सरकारी सिक्योरिटी को बेचकर और विदेशी पूँजी को निरूत्साहित कर ब्याज दरें घटायी गयीं। १९३२ में बैंक दर दो प्रतिशत थी। यह दर १९३९ तक जारी रही।

सातवाँ, निर्यात प्रोत्साहन के प्रयत्न किए गए। विभिन्न देशों से द्विपक्षीय समझौते किए गए। यह आयात को घटाने का भी महत्वपूर्ण तरीका था। विभिन्न

समझौतों में इस बात का ध्यान रखा गया था कि व्यापार संतुलन इंगलैंड के पक्ष में हो।

आठवाँ, मंदी काल में जिन उद्योगों को अधिक हानि हुई थी और जो वित्तीय दृष्टि से कठिनाई में थे उन्हें सरकार ने सहायता दी। उन्हें उपदान दिए गए और पुनर्गठित किया गया। ऐसे उद्योग कोयला, कपास और जहाज निर्माण थे।

नौवां, व्यवसायी लोग संयोजनों और समामेलनों में सम्मिलित होने लगे। मूलभूत उद्योगों और उन उद्योगों में जिन्हें इस काल में घाटा हुआ था, एकाधिकार में प्रोत्साहन दिया गया।

दसवाँ, रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए सरकार ने १९३४ में स्पेशल एरियाज (डेवलपमेंट एंड इम्प्रूवमेंट) ऐक्ट पारित किया। १९२८ में उन क्षेत्रों का लेखा तैयार कर लिया गया था जहाँ बेकारी विशेष थी और उन क्षेत्रों से लोगों को बाहर जाने का प्रोत्साहन देने के लिए सरकारी सहायता सुलभ थी। इसमें १९३१-३८ में तेजी से प्रगति हुई और इसे श्रम मंत्रालय द्वारा भी सहायता प्राप्त हुई। १९३४ के कानून के अन्तर्गत दो अवैतनिक कमिश्नर नियुक्त किए गए। इनमें से एक इंगलैंड और वेल्स के लिए और दूसरा स्काटलैंड के लिए था। इनका कार्य कुछ क्षेत्रों के विकास को प्रोत्साहन देना था। ऐसे किसी व्यवसाय को प्रोत्साहन देना इनका उद्देश्य नहीं था जो लाभ के लिए चलाया गया हो। कमिश्नरों को उद्यान, तैराकीताल, आदि की सुविधाएँ प्रदान करने और माताओं तथा बच्चों को दूध सुलभ करने की सेवाओं को स्थापित करने, आवास और जलपूर्ति आदि की व्यवस्था करने का अधिकार था। १९३७ के स्पेशल एरियाज ऐक्ट में एक संशोधन किया गया जिससे कमिश्नरों को निजी संस्थानों को किराये में छूट और आयकर में कमी करने विषयक अधिकार और कोष प्राप्त हुआ। कोषागार को भी विशेष क्षेत्रों की संस्थाओं को ऋण देने का अधिकार प्राप्त हुआ। इसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों में उपभोक्ता सामग्री उत्पन्न करने वाले कारखाने आकृष्ट हुए और १९३९ में २०० से अधिक कारखाने उत्पादन कर रहे थे पर इन कारखानों में जितने लोगों को काम मिला, वह संख्या अधिक नहीं थी।

राज्य ने बेकारी बीमा योजना भी लागू की। इसकी एक योजना १९३१ में चलाई गई। इसके अन्तर्गत दो प्रकार के भुगतान की व्यवस्था थी। पहला, बीमें के सामान्य लाभ का भुगतान और दूसरे, आवश्यकतानुसार अतिरिक्त रियायत। पर इन दोनों सुविधाओं के नियम इतने कड़े थे कि इनसे अधिकतर मजदूर कोई सहायता या सुविधा नहीं प्राप्त कर सके। १९३४ में अनएम्प्लायमेंट ऐक्ट पारित हुआ।

इससे बेरोजगार लोगों को अंशदायी बीमें की रकम द्वारा सहायता की व्यवस्था की। यह १९३१ की व्यवस्था से कुछ अधिक उदार थी और इसके अन्तर्गत अधिक लोग आ सके तथा यह अधिक रचनात्मक और स्थायी प्रतीत हुई।

ग्यारहवाँ, सरकार ने कुछ उद्योगों में सार्वजनिक संस्थान स्थापित करने की निश्चित नीति अपनायी। १९२६ में ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कार्पोरेशन और १९२७ में सेन्ट्रल 'एलेक्ट्रीसिटी 'बोर्ड की स्थापना हुई। १९३३ में लन्दन पैसेन्जर ट्रांस्पोर्ट बोर्ड को लन्दन में यात्री यातायात सेवाओं का एकाधिकार प्राप्त था।

मंदी से उद्धार. इन सभी उपायों के फलस्वरूप १९३७ तक विभिन्न आर्थिक गतिविधियों में सुधार हुआ और इंगलैंड की आर्थिक गतिविधि के सूचकांक फ्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका की तुलना में अधिक थे। मूल्य बढ़ रहे थे, वेकारी घट रही थी और उत्पादन कई अंकों (points) से बढ़ गया था। उपभोग में वृद्धि के कारण उत्पादन बढ़ा और मूल्यों में ह्रास के कारण उपभोग बढ़ा। धीरे-धीरे उद्योग और व्यापार में प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ा। व्याज की दर कम होने के कारण पूँजी लगाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। अर्थशास्त्रियों ने इसके प्रभाव को वढ़ा-चढ़ा कर वतलाया है। इस काल में आवास गृहों और भवनों के निर्माण में तेजी आयी। आवास गृहों की कमी थी और सरकार भी आवास ग्रहों के निर्माण को प्रोत्साहन देने की नीति निश्चित रूप से पालन करना चाहती थी जिससे रोजगार के अवसरों में वृद्धि हो। मंदी काल में ३० लाख से अधिक आवास गृहों का निर्माण हुआ। सूती वस्त्र, कोयला, लोहा और इस्पात, जूता और चप्पल उद्योगों और बहुमूल्य जेवर और घड़ी व्यापार में १९२३ और १९३८ के बीच गिरावट आया। परन्तु इस काल में कुछ नए उद्योगों में विशेष रूप से विस्तार हुआ। बिजली से सम्बन्धित हर प्रकार के कार्य को प्रोत्साहन मिला जिससे यह संकेत मिला था कि ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य अमरीका और जर्मनी का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया था। ब्रिटेन के अन्य नए उद्योग निम्नांकित हैं :—तापन तथा संवातन यंत्र, विशिष्ट प्रकार का निर्माणकारी इंजीनियरिंग सिल्क और कृत्रिम सिल्क, स्टेश्नरी तथा टाइपराइटर सम्बन्धित सामग्री, विस्फोटक द्रव्य, इत्यादि।

परिणाम. मंदी और उससे उद्धार के उपायों के फलस्वरूप ब्रिटिश औद्योगिक ढाँचे में १९३० के उपरान्त कुछ परिवर्तन हुए। पहला, घरेलू बाजार का महत्व बढ़ गया और विदेशी बाजारों पर निर्भरता घट गयी। नए उद्योगों का महत्व बढ़ गया और पुराने उद्योगों की परम्परागत महत्ता घट गयी। तीसरा, उद्योगों के स्थानीयकरण में परिवर्तन उत्पन्न हुआ। पिछड़े क्षेत्रों से आबादी दक्षिण-पूर्व तथा

विशेषतः वृहत्तर लन्दन की ओर स्थानान्तरित होने लगी। इसके आसपास बहुत से उद्योग बढ़ने लगे जो कि घरेलू बाजारों के लिए वस्तुएँ तैयार करते थे। चौथे, निजी और सरकारी क्षेत्रों में एकाधिकार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। सार्वजनिक उद्योगों का भी एक लघु क्षेत्र स्थापित हो गया। पांचवाँ, ब्रिटिश वाणिज्य और उद्योग साम्राज्य के उन देशों में भी विकसित हुआ जहाँ रेलें चालू हुई और कुछ नए उद्योग खुले। साम्राज्यवादी अधिमानता नीति का भी कुछ अच्छा प्रभाव पड़ा। छठा, सरकारी हस्तक्षेप बढ़ रहा था और यह अनुभव किया जाने लगा था कि न केवल अबन्ध व्यापार वरन् संरक्षण और शासन नियंत्रण की निश्चित नीति देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक थी। यहाँ तक कि स्वर्णमान का भी त्याग कर दिया गया। अंत में, श्रमिकों और जनता के जीवन मान में निश्चय ही सुधार हुआ था। जनता का सामान्य स्तर ऊँचा हुआ था। घरों की संख्या बढ़ी थी। मोटरगाड़ियों और बेतार के तार के सेटों में वृद्धि हुई। खाद्य पदार्थ सस्ते थे और बहुतायत से मिलते थे। पर इस दशाब्दि में बेरोजगारी २० लाख तक पहुँच गयी थी। कुछ जिलों में तो बेकारी बहुत अधिक थी। कोई भी समाज चाहे वह १९२३ का ब्रिटिश समाज क्यों न हो जिसका जीवन मान तेजी से ऊँचा हो रहा था अपने बीच इसी प्रकार की सामाजिक समस्य और व्यक्तिगत दुखांतक परिस्थितियों से संतुष्ट और सुखी नहीं हो सकता।

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-१९४५). १९३९ के युद्ध ने ब्रिटिश उद्योग पर बड़ा दूरगामी प्रभाव डाला। युद्ध ने ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को शान्ति स्तर से युद्ध स्तर में बदल दिया और देश के समस्त साधन जिनमें कृषि उद्योग और अन्य सेवाएँ भी सम्मिलित हैं युद्ध के सफल संचालन कार्य में जुटा दिए गए।

युद्ध सामग्री के तीव्र उत्पादन के लिए यह आवश्यक हो गया कि अन्य उद्योगों में संकुचन हो और दो उद्योगों (अर्थात् कृषि और इंजीनियरिंग उद्योग) में विशेष रूप से विस्तार हो। युद्धकाल में देश को खाद्यान्नों की दृष्टि से आत्म निर्भर बनाने के लिए कृषि का विकास किया गया। इंजीनियरिंग उद्योग युद्ध सामग्री उत्पादन के लिए मूल रूप से आवश्यक था। इंजीनियरिंग उद्योग में धातु वस्तु, मोटर, वाहन, हवाई जहाज, समुद्री जहाज आदि का निर्माण तथा मरम्मत सम्मिलित था। इसके हर विभाग में विस्तार हुआ। १९३९ के भी पहले जबकि अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में गरमी आ रही थी मोटर गाड़ियाँ और हवाई जहाज बनाने के कार्य को प्रोत्साहन मिला था और इससे उत्पादन बढ़ा था। १९४० में फ्रांस के हथियार डाल देने की घटना के बाद गाड़ियों और हवाई जहाजों की माँग तेजी से बढ़ी। अगस्त १९४० में यह अनुभव हुआ कि बख्तरबंद टुकड़ियों की संख्या ३ से १०, १९४१ में पहले १२ फिर

१६ और अंत में १८ करनी पड़ी। इस सब का अर्थ था युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री की माँग की तेजी से पूर्ति करना।

इन बढ़ती माँगों की पूर्ति करने में अनेक कठिनाइयाँ अनुभव हुईं। ये कठिनाइयां मुख्यतः तीन तरह की थीं। (१) उद्योगपतियों और सरकार के सामने पहली समस्या, तकनीकी समस्या सम्बन्धी थी। प्रश्न यह था कि किस तरह अच्छे और आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्र, टैंक और हवाई ज़हाज तैयार किए जायँ। (२) युद्ध सामग्री उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल और अर्धनिर्मित वस्तुओं की कमी थी। (३) कुशल श्रमिकों की भी भारी कमी थी जो कि सबसे बड़ी समस्या थी। इन तीनों समस्याओं का समाधान शीघ्र और पर्याप्त रूप में किया गया।

सशस्त्र सेना में वृद्धि और युद्धकालीन साधन सामग्री उत्पादन विकास में इन आधारभूत सिद्धान्तों की क्रियाशीलता लक्षित होती है :—(क) युद्ध के लिए आवश्यक उत्पादन में कमी, (ख) महिलाओं की अनिवार्य भर्ती। कुछ वस्तुओं का उत्पादन बिलकुल बन्द कर दिया गया। नागरिकों के लिए वस्त्र बहुत ही कम परिमाण में उपलब्ध थे। वस्तुओं का मानक निश्चित किया गया और उनका उत्पादन नियंत्रित किया गया। एक स्थिति में तो नागरिकों के लिए पेट्रोल नहीं दिया गया। लोहे के बर्तन कठिनाई से मिलते थे। बच्चों की गाड़ी जैसी वस्तुओं की संख्या कम कर दी गयी। कोयला खनन उद्योग में गम्भीर गड़बड़ियाँ हुईं और उसका उत्पादन भी अधिक गिर गया। १९४१ में कोयले का राशन शुरू हो गया। पर इससे कठिनाइयाँ अनुभव हुई और १९४२ में कोयले की राशन व्यवस्था त्याग दी गयी। प्रति व्यक्ति उत्पादन तेजी से गिरा, मजदूरों की अनुपस्थिति (absenteeism) बढ़ी और यंत्रीकरण की भी कोई विशेष प्रगति नहीं हुई।

सूती कपड़ा उद्योग को युद्धकाल में और भी धक्का लगा। यह उद्योग युद्ध सामग्री उत्पादन में जुटा हुआ था अतः विदेशी व्यापार उनके हाथ से निकल गए क्योंकि यातायात और विनिमय सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ थी। युद्ध के सामूहिक प्रयत्नों के अन्तर्गत ब्रिटेन को सूती वस्त्र उत्पादन और भी घटाना पड़ा। युद्ध के अन्त में इस उद्योग में लगे मजदूरों की संख्या प्रथम युद्धकालीन संख्या की एक तिहाई थी।

कोयला खनन उद्योग, जो पहले से ही कठिनाइयों में फंसा हुआ था, उसकी कठिनाइयाँ इस काल में और भी बढ़ गईं। इंजनों में कोयले के स्थान पर तेल, पेट्रोल और बिजली शक्ति का उपयोग होने लगा। घरेलू कामों में भी कोयले का स्थान गैस और बिजली ने अधिक सस्ते होने के कारण ले लिया। यंत्रीकरण की कमी, उत्पादन में अधिक खर्च और नई खानों से प्रतिस्पर्धा के कारण उद्योग में और भी मंदी आयी।

अन्य उद्योगों के समान कुशल और अर्धकुशल कार्यकर्त्ताओं की कमी के कारण इसे और भी धक्का लगा। इसका विदेशी बाजारों से सम्बन्ध टूट चुका था। उत्पादन भी बहुत गिर चुका था। जुलाई १९३९ में कोल माइनिंग अंडरटेकिंग आर्डर जारी हुआ। इससे ईंधन और शक्ति विभाग के मंत्री के हाथ में ग्रेट ब्रिटेन की सभी कोयला खानों का नियंत्रण आ गया। उन्हें १९४० के एक आदेश के अन्तर्गत यह भी अधिकार प्राप्त था कि इस उद्योग में लगे व्यक्ति उन्हें सूचना दिए बिना नौकरी न तो बदलें और न छोड़ें। नेशनल सर्विस रजिस्ट्रेशन के अन्तर्गत मंत्री को अधिकार था कि वह देखें कि मजदूरों को निश्चित न्यूनतम वेतन मिले, उनके कार्य की दशाएँ संतोषजनक हों और नौकरी सम्बन्धी संरक्षण प्राप्त हो। आर्थिक व्यवस्था के पुर्नभिस्थापन (re-orientation) में अनेक उपाय सहायक थे। ये उपाय "केन्द्रीय योजना" के अन्तर्गत उपयोग में लाए गए थे। इस प्रकार बहुसंख्यक श्रमिकों के ऊपर नियंत्रण प्राप्त हुआ। आरम्भ से ही सरकार सजग थी कि मूल्य बढ़ेंगे। १९३९ से मूल्य बढ़े भी और इनसे वेतन वृद्धि भी हुई। जीवन-स्तर व्यय में भी वृद्धि हुई, यद्यपि मजदूरी भी बढ़ती गयी।

युद्धोत्तर काल. युद्धोत्तर काल में कुछ रुकावटों के साथ-साथ उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि हुई। नई शोधों और यान्त्रिक विकासों तथा नवीन विश्व माँगों के फलस्वरूप ब्रिटिश औद्योगिक क्षेत्र में मूलभूत परिवर्तन हुए। जिन उद्योगों में नवीन विधियों का प्रयोग हुआ वे एलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग, हवाई जहाज, मोटर, रासायनिक उद्योग, यंत्र निर्माण, आदि हैं जिन्होंने उत्पादन वृद्धि के अतिरिक्त सम्पूर्ण निर्यात भी बढ़ाया है। वे बड़ी संख्या में कुशल मजदूरों से नौकरी के अवसर प्रदान करते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान पर व्यय बढ़ रहा है तथा यांत्रिक शिक्षा का भी बहुत विस्तार हुआ है।

उद्योग तथा उनका उत्पादन. युद्धोत्तर काल में दो नवीन उद्योगों का विकास हुआ। ये उद्योग तेल शोधन तथा आणुविक शक्ति है जिनमें १९४५ और १९६० के बीच एक अरब पौंड की पूँजी लगी। नवीन औद्योगिक कच्चा माल जैसे प्लास्टिक और टेरीलिन निर्मित होने लगा है। और उनके उपयोग के लिए नए उद्योग भी स्थापित हुए हैं। युद्धोत्तर काल में पुराने मूलभूत उद्योग जैसे कोयला, लोहा और इस्पात भी समृद्ध हुए हैं। केवल सूती वस्त्र उद्योग में ही ह्रास बना रहा। खनन, वस्तु निर्माण, भवन निर्माण, गैस, बिजली और पानी का उत्पादन अधिक बढ़ा है। यह १९४६ में युद्धपूर्व के स्तर पर पहुँच गया और १९५४ तक लगभग एक-तिहाई अधिक बढ़ गया।

१९५५-५८ तक उत्पादन में सामान्य परिवर्तन ही दिखाई पड़े। अधिक पूँजी लगाने के फलस्वरूप उद्योगों के साज सामान और कार्यकुशलता में पर्याप्त वृद्धि हुई। १९५७ में उत्पादन तेजी से बढ़ा और १९५९ में यह १९५४ के स्तर से २१ प्रतिशत अधिक पहुँच गया। कुछ पूँजीगत माल तैयार करने वाले उद्योगों की उत्पादन क्षमता पूर्णतः काम में आने लगी। बहुत से उद्योगों में विस्तार तथा उनके साज सामान के आधुनीकरण का काम आरम्भ हो गया जिससे उनके उत्पादन की वृद्धि की आशा और बढ़ गयी।

१९५४ और १९६० के बीच रासायनिक उद्योग में ४५ प्रतिशत उत्पादन बढ़ा। वाहनों में ३९ प्रतिशत, इंजीनियरिंग और सहवर्ती उद्योगों में २७ प्रतिशत की वृद्धि हुई। कांच में ३५ प्रतिशत, छपाई और प्रकाशन में ३३ प्रतिशत, अलोह धातुओं में २८ प्रतिशत, पेय और तम्बाकू में ३६ प्रतिशत वृद्धि हुई। पर सूती वस्त्र उद्योग में ५ प्रतिशत, खनन में ११ प्रतिशत, जहाज निर्माण और नौ इंजीनियरिंग आदि के उत्पादन में ८ प्रतिशत ह्रास उत्पन्न हुआ। इस बीच बिजली के ही खर्च में लगभग ६० प्रतिशत वृद्धि हो गयी।

उत्पादकता. ब्रिटिश प्रोडक्टिविटी कौंसिल की स्थापना १९५२ में हुई। इसका उद्देश्य उत्पादकता में वृद्धि की रीतियों को प्रोत्साहित करना है। कौंसिल की स्थापना ऐंग्लो अमरीकन प्रोडक्टिविटी कौंसिल के कार्य को बढ़ाने के उद्देश्य से भी हुई थी जिसने १९४८ और १९५२ के बीच प्रबन्धकों, टेक्नीशियनों और ब्रिटिश उद्योगों में काम करने वालों के दलों को संयुक्त राज्य अमरीका में तत्संबन्धित प्रगति और तकनीकों के अध्ययन हेतु भेजा था। ब्रिटिश प्रोडक्टिविटी कौंसिल का बहुतांश कार्य समस्त ब्रिटेन में विस्तृत १०० से अधिक स्थानीय उत्पादकता समितियों और संघों के द्वारा सम्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त अनेक सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाएँ भी हैं जो उत्पादकता सम्बन्धी उत्तरदायित्व वहन करती हैं। इनमें से प्रमुख संस्थाएँ निम्नलिखित हैं: ब्रिटिश स्टैंडर्डस इंस्टीट्यूशन एक स्वैच्छिक-अव्यवसायिक संस्था है जो वस्तुओं के गुणों, कार्यकुशलता, नाप तौल, परीक्षण विधियों और व्यवहार संहिता सम्बन्धी मानक तैयार करता है और उनको प्रचलित कराता है। बोर्ड आफ ट्रेड भी उत्पादकता की प्रोन्नति के सामान्य पहलुओं के लिए उत्तरदायी है और श्रम मंत्रालय के अन्तर्गत कई विभाग भी इसी प्रकार का कार्य करते रहते हैं। इनमें इंडस्ट्रियल रिलेशंस, टेकनिकल इन्फार्मेशन सर्विस और नेशनल इंडस्ट्रियल सर्विस प्रमुख हैं।

स्थानीयकरण. उद्योगों के स्थान चयन में सुधार करने के सम्बन्ध में विशेष सावधानी दिखलाई जा रही है। उत्तरी आयरलैंड, स्काटलैंड और वेल्स में ऐसे राष्ट्रीय संगठन हैं जो उद्योगों के विस्तार और अनेकता वृद्धि में प्रोत्साहन देते हैं। इंगलैंड में कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें औद्योगिक विकास संघों की स्थापना हुई है और जो स्थानीय उद्योगों की आवश्यकताओं का अध्ययन करते तथा उपयुक्त उद्योग को आकर्षित करते हैं।

संगठन एवं स्वामित्व. आधुनिक काल में उद्योग के स्वामित्व और संगठन प्रणाली में विभिन्नता है। व्यक्तिगत, समूहगत, सहकारी और सार्वजनिक धंधे सभी विभिन्न रूप ग्रहण करते हैं और वे सब अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण हैं। औद्योगिक उद्यम छोटी कर्मशालाओं से लेकर विशाल संगठनों के रूप में फैले हैं, जैसे नेशनल कोल बोर्ड जो सार्वजनिक संस्थान है और जिसमें ६·५० लाख व्यक्ति काम करते हैं। इम्पीरियल केमिकल इंडस्ट्रीज लिमिटेड, सीमित दायित्व वाली कम्पनी है जिसकी शाखाओं आदि में एक लाख दस हजार व्यक्ति यूनाइटेड किंगडम में ही काम करते हैं। कोआपरेटिव होलसेल सोसाइटी लिमिटेड, एक सहकारी समिति है जिसमें ५०,००० व्यक्ति काम करते हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद राष्ट्रीयकरण कानून ने कुछ बड़े सरकारी उद्योग और सेवाएँ संगठित किए। इनमें कोयला खनन, आंतरिक यातायात, गैस पूर्ति, बिजली उत्पादन और पूर्ति और नागरिक हवाई यातायात सम्मिलित हैं।

सरकारी उत्तरदायित्व. सरकार युद्धोत्तर काल में कई प्रकार से उद्योगों को प्रभावित करने में सफल रही: (१) राजकोषीय तथा मुद्रा नीति द्वारा, (२) नियंत्रण तथा प्रलोभनों द्वारा, और (३) सूचना तथा परामर्श द्वारा।

बोर्ड आफ ट्रेड एक ऐसा विभाग था, जिसका सम्बन्ध मुख्यतः व्यापार तथा उद्योग से रहता था। राजकोष (Treasury) आर्थिक नीति के लिए विशेषतः राजकोषीय तथा मुद्रा सम्बन्धित नीति के लिए उत्तरदायी था। श्रम मंत्रालय के द्वारा जनशक्ति नीति निश्चित की जाती थी। युद्ध के पश्चात् अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं में विभिन्न नियंत्रक उपाय क्रियान्वित थे परन्तु अब उनकी संख्या बहुत कम रह गयी है।

एकाधिकार तथा निबन्धात्मक कार्यप्रणाली. उद्योगों तथा व्यापार में प्रतिस्पर्धा को कभी-कभी बाजार सम्बन्धी या एकाधिकारों द्वारा कम किया जाता है। १९५६ में रेस्ट्रिक्टिव ट्रेड प्रैक्टिसेज ऐक्ट पारित किया गया जिसके अनुसार

निबन्धात्मक समझौतों को पंजीकरण तथा समुचित जाँच करना सम्भव हो गया। इस अधिनियम द्वारा एक सार्वजनिक रजिस्टर की व्यवस्था की गई जिसमें ऐसे निबन्धात्मक समझौतों का विवरण अंकित रहता है जिनके अन्तर्गत ब्रिटिश बाजारों के लिए माल तैयार किया जाता है। इसमें रेस्ट्रिक्टिव प्रेक्टिसेज न्यायालय की स्थापना की भी व्यवस्था थी। इस न्यायालय को यह निश्चित करने का अधिकार है कि कोई भी समझौता विशेष जनहित में है या नहीं।

प्रबन्ध. द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन में यह स्वीकार किया जाने लगा कि उद्योगों का प्रबन्ध करने में विशेष कुशलता तथा जानकारी की आवश्यकता होती है। बहुत से संगठन प्रबन्ध कार्य के विस्तार, महत्व तथा ज्ञान की वृद्धि की दिशा में अपना योगदान दे रहे हैं। इस दिशा में सहायता के लिए १९४७ में ब्रिटिश इंस्टीट्यूट आफ मैनेजमेंट की स्थापना राजकीय समर्थन से की गयी। यह संस्था १९५७ में इंस्टीट्यूट आफ इंडस्ट्रियल एडमिनिस्ट्रेशन से मिला दी गयी और इसका उद्देश्य जानकारी प्रसारित करना, प्रबन्ध कार्यप्रणाली तथा तकनीक पर अन्वेषण करना, और राष्ट्रीय स्तर पर प्रबन्ध सम्बन्धी ज्ञान प्रसार तथा प्रशिक्षण को प्रोत्साहन देना है।

अध्याय ९

श्रमिक आन्दोलन का विकास

श्रमिक संघ वस्तुतः एक आधुनिक संस्था है। मूलतः यह औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम है। औद्योगिक क्रान्ति के समय पूँजीपतियों और श्रमिकों में विद्वेष की भावना उत्पन्न हुई और उनमें पारस्परिक विरोध बढ़ने लगा। कारखाना पद्धति के कारण श्रमिक संघों का आरम्भ हुआ और कारखानों की शोचनीय कार्य-स्थिति के कारण श्रमिक संघों को बल मिला। कारखाना उत्पादन पद्धति के समान श्रमिक संघ भी औद्योगिक संसार के लिए इंगलैंड की ही देन है।

विकास का कारण. श्रमिक आन्दोलन के विकास का मुख्य कारण कारखाना उत्पादन पद्धति है। यंत्रों और भाप शक्ति के उपयोग, उद्योगों में केन्द्रीकरण और शहरों के विकास के कारण इस आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला। शहरों में काम करते हुए श्रमिक बड़ी संख्या में आपस में मिलते जुलते रहते थे परन्तु कारखाना मालिक से उनका कोई सम्पर्क नहीं हो पाता था और उनके बीच की खाई बढ़ने लगी। इस परिवर्तन से वर्ग चेतना (class consciousness) उत्पन्न हुई जिससे श्रमिकों के हित-रक्षा के लिए उनको संगठित करने में सुविधा हुई।

इस प्रकार श्रमिक आन्दोलन को औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा कई तरह से बल मिला। (१) औद्योगिक क्रान्ति के कारण श्रमिक वर्ग का विकास हुआ जिस के लिए यह आवश्यक था कि समाज में एक प्रथक वर्ग के रूप में श्रमिक संगठित हों। (२) औद्योगिक विकास के कारण लोगों की कठिनाइयाँ भी बढ़ गईं। यंत्र के उपयोग से बरोजगारी बढ़ी, मजदूरी घटी; काम के घंटे लम्बे हुए, शहरों में बड़ी संख्या में लोग रहने लगे, जिससे वहाँ गंदगी बढ़ी, औरतें और बच्चे कम मजदूरी पर काम करने लगे, प्रोद्योगिक बेरोजगारी (technological unemployment) बढ़ी, हस्तशिल्प एवं प्रशिक्षित कारीगरों पर बुरा प्रभाव पड़ा। श्रमिक अपने रहन सहन की दयनीय दशा के प्रति जागरूक हुए और उन्हें अनुभव हुआ कि उनकी दशा में सुधार लाने के लिए उनका संगठित होना आवश्यक था जिससे वे सामूहिक रूप से अपनी मांगें प्रगट कर सकें।

राज्य इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं चाहता था और उसने अबन्ध का पूर्णतया पालन किया। अतः श्रमिकों को अपने हितों की रक्षा के लिए स्वयं आन्दोलन चलाना पड़ा। कारखाना पद्धति के कारण भी श्रमिकों को अवसर मिला कि अपने हितों के बारे में सामूहिक ढंग से सोचें और वर्ग का भाव उदय हो। श्रमिक अपनी आर्थिक दशा सुधारने की दृष्टि से सामूहिक कार्यवाही के लिए तत्पर हुए।

श्रमिकों और पूँजीपतियों तथा निर्धन और धनी वर्ग में असमता बढ़ी। कारखाना उत्पादन पद्धति के कारण आर्थिक शक्ति तथा सम्पत्ति का केन्द्रीकरण हुआ। नौकरी करने वालों के लिए कारखाना मालिक बनना सर्वथा असम्भव हो गया जब कि गिल्ड पद्धति में यह सम्भव था। स्पष्ट है कि जब तक कारीगरों के लिए अपनी दशा सुधारने के अवसर थे, तब तक एक स्थायी तथा कुशल श्रमिक आन्दोलन का विकास न हो सका।

फ्रांसीसी क्रान्ति से संसार में 'स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व' का विचार फैला। इससे इंगलैंड में राजनीतिक श्रमिक आन्दोलन विकसित हुआ। परन्तु इंगलैंड में इसे दबा दिया गया, यद्यपि इससे कुछ सीमा तक श्रमिक संस्थाओं का विकास हुआ।

मन्द विकास. इन अनुकूल परिस्थितियों के होने पर भी श्रमिक संघों का विकास बहुत धीमी गति से हुआ। इसके कई कारण थे। पहला, अज्ञानता के कारण संगठनगत तरीकों से अपनी दशा सुधारने की सम्भावनाओं से श्रमिक अवगत नहीं थे। दूसरा, हर प्रकार के संगठन में धन की आवश्यकता थी। परन्तु उनके पास अपने संगठन को सुदृढ़ करने के लिए धन नहीं था। आगे, श्रमिक संघ के निर्माण के बाद भी, धनाभाव के कारण उनकी गतिविधि सीमित रही। तीसरा, मालिक श्रमिक संघों के विरुद्ध थे और यथाशक्ति, वे इनके विकास में रुकावट डालते थे। चौथा, कारखाना उत्पादन पद्धति के कारण कई प्रकार के कुशल श्रमिक बेरोजगार हो गए थे। कभी-कभी ऐसे लोगों में जो कारखाना पद्धति को नष्ट करना चाहते थे और उनमें जो श्रमिकों के सामान्य हितों की दृष्टि से कारखाना पद्धति का विकास करना चाहते थे, झगड़ा हो जाता था। पांचवा, प्रारम्भिक अवस्था में कारखानों में स्त्रियाँ और बच्चे भी काम करते थे। इनको संगठित करना कठिन था। इसलिए स्त्रियों में श्रमिक संघ आन्दोलन देर से फैला। आगे चल कर बाल श्रमिक पद्धति समाप्त कर दी गयी। अन्तिम, जनमत श्रमिक संघों के विरुद्ध था और 'कामन ला' में श्रमिकों का संगठन सर्वथा निषिद्ध था। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत में श्रमिकों द्वारा फ्रांसीसी सामूहिक ढंग से माँग मनवाने के तरीके के अधिकाधिक उपयोग से मालिक वर्ग को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने इस क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने की पूरी चेष्टा की। १७९९ और १८०० में 'कम्बिनेशन ला' पारित किया गया जिसके अनुसार

औगोगिक संघों को अवैध घोषित कर दिया गया। यद्यपि कारखानों के मालिकों ने भी अपने संघ स्थापित करना आरम्भ कर दिया था तथापि ये अधिनियम अधिकतर श्रमिक संघों के विरुद्ध ही लागू किए जाते थे। इनके अतिरिक्त श्रमिक अधिनियमों में श्रमिक संघों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले २० वर्षों में चालू अधिनियमों में निम्नांकित बातें दण्डात्मक अपराधों के अन्तर्गत आती थीं :—(क) केवल निश्चित घंटों काम करना या केवल निश्चित मजदूरी पर काम करने के लिए राजी होना; (ख) मजदूरी बढ़ाने, काम के घंटों में कमी करवाने या काम की मात्रा कम करवाने के लिए संयोजनों की स्थापना करना; (ग) किसी दूसरे कारखाने या उद्योग में काम करने के लिए किसी व्यक्ति को सहायता देना या प्रोत्साहित करना; और (घ) मजदूरी, काम के घंटों या काम की स्थिति से सम्बन्धित किसी बैठक का आयोजन करना या उसका समर्थन करना। श्रमिक संघों या संयोजनों पर उपर्युक्त प्रतिबन्धों के अतिरिक्त, श्रमिकों पर वैयक्तिक रूप से कई प्रकार के प्रतिबन्ध थे। १८२४ में तो श्रमिक संघों को अवैधानिक ही घोषित कर दिया गया।

आन्दोलन का विकास

१८२४ में हाउस आफ कामन्स ने संयोजन अधिनियमों की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की। समिति के अध्यक्ष श्री जासेफ ह्येन को श्रमिक आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति थी और उन्होंने संयोजन अधिनियमों को नरम करने की सिफारिश की। समिति इस परिणाम पर पहुँची कि प्रतिबन्धों के होते हुए अनेक संयोजनों का विकास हुआ, हड़तालें हुईं, और मालिकों ने भी अपना अलग संयोजन बनाया जो कि चालू अधिनियमों के अनुसार अवैधानिक थे। एक ओर तो संयोजन बनाने के लिए श्रमिक दण्डित किए जाते थे और दूसरी ओर संयोजन बनाने पर भी मालिक साफ बच निकलते थे। इसलिए समिति ने सुझाव दिया कि संयोजन अधि-नियमों में श्रमिक स्वतंत्रता विरोधी अधिनियमों को निरस्त (repeal) कर दिया जाय। समिति के अन्य सुझाव थे कि आपसी झगड़ों का निवटारा पंच फैसलों (arbi-tration) के द्वारा किया जाय और संयोजनों द्वारा औद्योगिक शान्ति भंग करने पर श्रमिकों और मालिकों दोनों को ही दण्डित किया जाय। इस प्रतिवेदन के परिणाम-स्वरूप १८२४ का अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार श्रमिक संयोजनों के विरुद्ध सभी कानूनों को निरस्त कर दिया गया। अब पहली बार साधारण कारीगरों या अन्य श्रमिकों के शान्तिपूर्ण स्वैच्छिक संयोजनों को वैध माना गया।

इस अधिनियम से मालिक लोग शंकित हो उठे। उन्होंने इसका विरोध किया और एक याचिका प्रस्तुत किया कि इस अधिनियम को निरस्त कर दिया जाय। मालिकों के इस निर्णय पर श्रमिक उत्तेजित हो उठे जिससे श्रमिक संघ अधिक क्रियाशील बन गया। ऐसे मालिकों के विरुद्ध हड़तालें हुई जो नौकरी की अपनी शर्तें लागू करते थे। अंत में नए अधिनियमों के प्रभावों की जाँच करने के लिए हाउस आफ कामंस ने दूसरी समिति नियुक्त की। इस समिति का निष्कर्ष था कि १८२४ के अधिनियम के पश्चात् श्रमिक संयोजनों की संख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई और हिन्सात्मक कार्यवाही भी अधिक नहीं बढ़ी। यह परिवर्तन अवश्य हुआ कि श्रमिक संयोजनों के कार्य अधिक खुले और सार्वजनिक ढंग से होने लगे। हड़तालों की संख्या बढ़ने के कारण यह आवश्यक समझा गया कि १८२४ के अधिनियम के स्थान पर कम परिवर्तनवादी उपाय काम में लाए जाँय। इस प्रकार १८२४ का अधिनियम निरस्त कर दिया गया और १८२५ का नया अधिनियम पारित किया गया। नए अधिनियम का प्रभाव यह पड़ा कि संयोजनों को अवरुद्ध करने वाली कामन ला की निषेधात्मक धाराएँ लागू रहीं।

१८२५ के कानून के होने पर भी श्रमिक संघों की संख्या तीव्र गति से बढ़ी। हड़तालें अधिक हुई और श्रमिकों ने अपने संगठन को राष्ट्रीय आधार पर सुदृढ़ किया। देश के सभी मेहनत मजदूरी करने वाले श्रमिकों को राष्ट्रीय आधार पर संगठित करने की आवश्यकता पहले से ही अनुभव की जा रही थी। प्रत्येक शिल्प के मजदूरों के संघ अलग-अलग थे। बाद में एक शिल्प के मजदूरों के संगठनों में निकट सम्बन्ध बढ़ने लगा। यहाँ तक कि विभिन्न उद्योग के श्रमिक संगठनों में संयोजन होने लगा। १८३० में लगभग १५० विभिन्न संगठनों का एक राष्ट्रीय संघ श्रमिकों के संरक्षण के लिए निर्मित हुआ। १८३४ में जनरल ट्रेड्स यूनियन की स्थापना हुई जिसे बाद में ग्रैंड कन्सालिडेटेड यूनियन कहा गया। आरम्भ में इसका विकास तीव्र गति से हुआ। इसका उद्देश्य देश में हड़ताल करना मात्र था। इस संघ में शीघ्र ही आंतरिक मतभेद पैदा हो गया। इसके द्वारा संचालित हड़तालें असफल होने लगीं और कुछ ही महीनों में यह संगठन टूट गया।

इस आन्दोलन की असफलता से कई उद्योगों में संघीय प्रगति पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। सरकार ने इस स्थिति से लाभ उठाया और संघों द्वारा संचालित हड़तालों का निर्दयतापूर्वक दमन किया। क्रान्तिकारी संघीय आन्दोलन को सुदृढ़ नहीं होने दिया गया।

चार्टिस्ट आन्दोलन. ऐसी परिस्थितियों में यह स्वाभाविक ही था कि श्रमिकों की सामान्य रुचि औद्योगिक संयोजनों से हट कर सामान्य राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों की ओर मुड़ी। श्रमिकों ने अनुभव किया कि उनकी आर्थिक स्थिति तभी सुधर सकती है जब वे राजनीतिक दृष्टि से सबल और वैधानिक दृष्टि से सावधान रहें। अतएव आदर्श समाजवाद (Utopian Socialism) या ओवनिज्म (Owenism) और चार्टिज्म (Chartism) जैसे आन्दोलनों का विकास हुआ। इन आन्दोलनों का उद्देश्य श्रमिकों को इस प्रकार संगठित करना था कि वे देश पर शासन कर सकें और जनता के आर्थिक जीवन को नियंत्रित कर सकें। इसका संगठन ऐसे लोगों ने किया था जो शिकायतें, सामाजिक असंतोष और श्रमिकों के कष्टों का वैधानिक तरीके से निवारण कराने में विश्वास करते थे। १८३६ में लन्दन वर्किंग मेन एसोसिएशन की स्थापना हुई। इसके मूल उद्देश्य राजनीतिक समानता और सामाजिक न्याय थे। इसके तात्कालिक उद्देश्य स्वशिक्षा, सस्ते समाचार पत्र और राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विस्तृत प्रसार था। इसकी राजनीतिक मांग एक माँगपत्र (charter) के रूप में संसद के सामने रक्खी गई जिसमें नीचे लिखी छः माँगें की गई थीं। (१) पूर्ण वालिग मताधिकार, (२) वार्षिक संसदें, (३) मतपत्र प्रणाली द्वारा मतदान, (४) समान निर्वाचित जिले, (५) संसद के सदस्यों के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता का त्याग, (६) संसद सदस्यों को भत्ता।

सरकार ने चार्टिस्टों की माँगों को स्वीकार नहीं किया। चार्टिस्टों के तीन मुख्य वर्ग थे। पहला, उत्तर के प्रतिनिधि जो समाज के बहुत ही पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे। वे मुख्यतः हथकरघा श्रमिक थे। उनके साथ कारखानों के ऐसे श्रमिक भी थे जो कार्य स्थितियों से घृणा करते थे। खदानों के श्रमिक भी उनके साथ थे जो खदानों की तत्कालीन स्थिति से घृणा करते थे। और भी ऐसे श्रमिक उनके साथ थे जो दूकानों की स्थितियों को ना पसन्द करते थे। इसके अतिरिक्त बेकार श्रमिक भी थे। दूसरा, मुख्यतः बर्मिंघम के मध्यम वर्गीय लोग जो उद्योग के गिरावट का मुख्य कारण मुद्रा प्रणाली को मानते थे तथा जिनके तर्क मुद्रा सुधार पर आश्रित थे। नए सुधारों के अनुसार हाउस आफ कामंस के जो लोग इस आन्दोलन में सम्मिलित हुए वे मुद्रा सुधार को लागू कराना चाहते थे। तीसरे, लन्दन वर्किंग एसोसिएशन के चार्टिस्ट थे जो चार्टर को बहुत ही महत्वपूर्ण वैधानिक मानपत्र के रूप में उसे स्वीकार करने पर जोर दे रहे थे। इस तरह यद्यपि वाह्य रूप से चार्टिस्ट एक निश्चित राजनीतिक कार्य क्रम के प्रति संयुक्त थे पर आन्तरिक रूप से उनकी

विभिन्न रूपों में तथा कभी-कभी परस्पर विरोधी आर्थिक शिकायतें भी थीं। इसके अतिरिक्त चार्टर के व्यापक रूप के पीछे विधि और कार्य पद्धति विष्यक महत्वपूर्ण मतभेद थे। उत्तरी क्षेत्र के प्रतिनिधि वामपक्षीय थे और हिंसा के लिए भी उद्यत थे। बर्मिघम क्षेत्रीय प्रतिनिधि विधानवादी दक्षिण पक्षीय थे। लन्दन चार्टिस्ट हिंसा के विरोधी थे पर वे अपेक्षाकृत कम उग्र थे। इस आन्दोलन की निर्बलता का एक कारण यह भी था कि इसे श्रमिक वर्ग के दो प्रभावशाली हिस्सों का समर्थन प्राप्त नहीं था। राबर्ट ओवन और उनके अनुचर सुधार के आर्थिक तरीकों में विश्वास करते थे अतएव चार्टर के आधार पर राजनीतिक हलचल ना पसन्द करते थे तथा उससे दूर रहते थे। मजदूर संघों ने अधिकारिक रूप से कोई सहयोग नहीं दिया।

चार्टिस्टों ने १८४२ में पुनः संसद को एक माँग पत्र दिया, पर इसका भी कोई सफल परिणाम नहीं निकला। सारे देश में दंगे और अन्य उपद्रव हुए। १८४८ में तीसरा माँग पत्र प्रस्तुत किया गया। संसद ने इस आवेदन पत्र की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त की। इस समिति का कहना था कि ५० लाख हस्ताक्षरों में से बहुत बड़ी संख्या में हस्ताक्षर जाली थे। इससे चार्टिस्टों का बड़ा उपहास हुआ तथा इसके बाद आन्दोलन टूट गया।

आन्दोलन की असफलता के अनेक कारण बताए जाते हैं। पहला, यह बहुत कुछ आर्थिक दृष्टि से पिछड़े और राजनीतिक दृष्टि से शक्तिहीन वर्ग का प्रतिक्रियावादी आन्दोलन था। इस संगठन का सबसे शक्तिशाली वर्ग उत्तर के लोगों का था जो कारखाना उत्पादन प्रणाली तक के विरोधी थे। इस तरह चार्टिज्म एक ऐसा जन आन्दोलन बन गया जिसका उद्देश्य प्रतिक्रियावादी था और उग्रता प्रधान थी।

दूसरा, औद्योगिक उतार चढ़ाव के साथ इस आन्दोलन में भी उतार चढ़ाव आए। उदाहरणस्वरूप चार्टिज्म की उपलब्धियों के वर्ष वही थे जिनमें कि औद्योगिक ह्रास अथवा मंदी थी जैसे १८३९, १८४२, और १८४९। १८५०-५९ तक वाणिज्य में सुधार हुआ और ब्रिटेन १८७३ तक समृद्ध हुआ। मजदूरी बढ़ी, बेकारी घटी और श्रमिकों ने आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अधिक संरक्षण अनुभव किया। इससे श्रमिक आन्दोलन असफल हुआ।

तीसरा, चार्टिस्टों में कोई सूत्रता बद्ध उद्देश्य नहीं था। यह कहा गया था कि चार्टर में सभी कुछ है पर इसमें आवश्यकता से अधिक बातों का समावेश था। इसके अनुसरण करने वालों में मतभेद था और चार्टर हर एक को सम्मिलित करने के लिए सब कुछ सम्मिलित करने का ढकोसला मात्र था। चार्टिज्म में सुदृढ़ नेतृत्व का अभाव था।

चौथा, विभिन्न विचारों और विचारधाराओं के लोगों को एकत्र करना असम्भव था। वृत्तियों (temperaments) में संघर्ष था। कार्य पद्धतियों में भिन्नता थी। उद्देश्य परस्पर विरोधी थे। अतएव स्थानीय लगाव और केन्द्रीय नेतृत्व के अभाव में आन्दोलन बंटा हुआ था।

पाँचवां, सरकार के विभिन्न सुधारों ने बहुत कुछ औद्योगिक वर्गों के आर्थिक कष्टों को कम कर दिया था। चार्टिज्म को श्रमिक संघों और राबर्ट ओवन के अनुचरों से समर्थन नहीं प्राप्त हुआ। श्रमिक संघ आन्दोलन यथार्थ में औद्योगिक स्थितियों में सुधार करने के लिए था पर चार्टिज्म मूलतः उद्योगवाद के ही विरुद्ध था। चार्टिज्म समाजवादी आन्दोलन भी नहीं था।

और अन्त में, सरकार ने इस आन्दोलन का सबल विरोध किया। नेता बन्दी कर लिए गए और आन्दोलन टूट गया। यद्यपि यह आन्दोलन असफल रहा पर इसमें एकता की भावना बढ़ी और श्रमिकों में संगठन और सहयोग अभ्यास बढ़ा। इसने श्रमिक वर्ग में वर्गभावना तीव्र की। श्रमिक वर्ग के विकास के लिए यह आवश्यक समझा गया। यद्यपि इसका कोई सीधा उत्तराधिकारी न था, परन्तु इसने आगामी पीढ़ियों को बहुत प्रेरणा दी। यह भी अनुभव किया गया कि इस आन्दोलन में जो राजनीतिक अनुभव प्राप्त हुआ वह स्वतंत्र मजदूर दल अथवा लेबर पार्टी के संगठन में बहुत सहायक हुआ। यह पार्टी पचास वर्ष बाद संगठित हुई।

नए आदर्शमय श्रमिक संघ, १८४८-८० (New model trade unionism). चार्टिस्ट आन्दोलन की असफलता के बाद श्रमिक संघीय आन्दोलन विकास के दूसरे चरण में प्रविष्ट हुआ। इसकी कुछ विशेषताएँ थीं।

(१) यह काल संघों और उनकी सदस्यता में असाधारण विकास का काल था।

(२) ये संघ अकुशल श्रमिकों की अपेक्षा कुशल श्रमिकों से अधिक सम्बद्ध था।

(३) श्रमिक संघ मैत्रीपूर्ण लाभों जैसे बीमारी के दिनों के वेतन, बेरोजगारी, आदि के प्रति ध्यान देते थे। कुछ श्रमिक संघों में मालिकों के विरुद्ध हड़ताल करना ठीक नहीं समझा गया और कार्य तथा काम दिलाने की स्थितियों में सुधार के प्रयत्न किए गए।

(४) बहुत से कांउटी खण्डीय और राष्ट्रीय संगठन निर्मित हुए तथा और व्यवसायिक संघों का समामेलन हुआ। इन स्थितियों में नए आदर्श संघों का विकास हुआ। १८५१ में इंजीनियरिंग उद्योग में कई श्रमिक संघों को मिलाकर अमलगमेटेड

सोसाइटी आफ इंजीनियरिंग बनाई। यह समामेलन के कुछ ठोस सिद्धान्तों पर आश्रित था। यह मालिकों और मजदूरों के बीच वार्ता (negotiations) द्वारा झगड़ा सुलझाने और यदि आवश्यक हो तो पंच फैसला कराने के पक्ष में थी। इसने अत्यधिक कोष संग्रह किया और यह अपने कार्य के कर्मचारी मण्डल भी रख सके। कुछ काल में अन्य व्यवसायों में भी इसी प्रकार के संगठन बने।

(५) इन संगठनों की एक विशेषता यह थी कि वे अपने सदस्यों से चंदा एकत्र करते थे और अन्य संघीय लाभों के अतिरिक्त मैत्रीपूर्ण सहायता के पक्ष में थे।

(६) १८६४ में ट्रेड यूनियन कांग्रेस का शुभारम्भ हुआ। प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में स्थायी व्यावसायिक समितियाँ निर्मित हुईं। व्यावसायिक समिति में नगर के श्रमिक संघों की स्थानीय शाखाओं का मिला जुला संगठन ट्रेड कौंसिल कहलाता था। १८६१ में लन्दन में इस प्रकार की समिति की स्थापना हुई और १८६७ तक प्रत्येक महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र में इसकी स्थापना हुई। श्रमिकों के हित साधन के लिए राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेसों के सम्मेलन होने की प्रथा आरम्भ हो गयी। पहली कांग्रेस ग्लासगो की ट्रेड्स कौंसिल ने १८६४ में लंदन में आयोजित की। यह ट्रेड यूनियन संगठन द्वारा आयोजित की गयी थी, केवल श्रमिकों के समक्ष ट्रेड यूनियन समस्याओं पर विचार करना था। १८६८ और १८६९ में जब इन ट्रेड कौंसिलों की बैठक मैनचेस्टर और वर्मिघम में राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप में हुई तो "ब्रिटिश पार्लियामेंट आफ लेबर" एक महत्वपूर्ण वार्षिक घटना समझी जाने लगी।

(७) लेबर पार्टी (मजदूर दल) के आरम्भिक लक्षण अब दिखाई पड़ने लगे। प्लेस और ह्यूम की इसके प्रति सहानूभूति थी और अनुभव और योग्यता के अभाव पर ऐसे श्रमिक का भी उदय हुआ जो अपने साथियों में उच्च थे। पाँच व्यक्तियों ने मिल कर एक संगठन की स्थापना की जिसे "जुन्टा" कहा जाता था। ये लोग मित्रता तथा राजनीतिक बन्धन में बँधे हुए थे। जुन्टा ने श्रमिक संघों के सुरक्षित कोष, श्रमिकों के लिए मान्य वेतन प्राप्त कराकर और मालिकों को इस बात पर राजी करके कि वे संघ सदस्यों को ही नौकरियाँ दे, कई तरह के शैक्षिक और सामाजिक सुधारों से संघ सदस्यों को लाभान्वित कर संघों को सुदृढ़ किया।

(८) श्रमिक संघ इतिहास का एक महत्वपूर्ण दौर यह भी था कि श्रमिकों के संगठन पर जो वैधानिक पाबंदी थी उसे समाप्त कर दिया गया। यह १८६५-७६ में दीर्घकाल तक चलते वाले आन्दोलन के फलस्वरूप हुआ। १८६५-६६ में शेफील्ड और मैन्चेस्टर में अनेक उपद्रव, हड़ताल, तालेबन्दी, यंत्रों का विध्वंस और ऐसी ही अनेक घटनाएँ घटीं। ऐसा सन्देह किया जाता था कि इन सब उपद्रव

के लिए संघ ज़िम्मेदार हैं। १८६७ में एक पार्लियामेंट्री कमीशन नियुक्त हुआ और उसने दो वर्ष तक इस स्थिति की जाँच की। इस बीच ट्रेड यूनियन संगठन बहुत ही संकट काल से चल रहा था पर जब कमीशन का प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ तो यह उस परिस्थिति से दूर हो चुका था। कमीशन ने यह मत प्रकट किया कि संघ श्रमिकों के लिए आर्थिक दृष्टि से विशेष लाभदायक नहीं हैं, पर उसने सिफारिश की कि वेतन काम के घंटों आदि की दृष्टि से संयोजित संघों को वैधानिक माना जाना चाहिए। संघों का पंजीकरण होना चाहिए जिससे कि उन्हें अपनी समिति के कोषों या कोई गड़बड़ परिस्थिति के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया जा सके।

(६) श्रमिक संघों के प्रति संसद और जनता की रुचि जागृत हो गयी। इसके फलस्वरूप १८७२ में ग्रेट ब्रिटेन में श्रमिक संघों के लिए कानूनी संरक्षण प्राप्त हो गया। १९०६ में ट्रेड डिस्प्यूटस ऐक्ट भी पारित हो गया। इस काल में तीन वैधानिक उपाय विशेष महत्वपूर्ण हैं: (१) १८७१ का ट्रेड यूनियन ऐक्ट, (२) १८७३ का कांस्पिरेसी एंड प्रोटेक्सन आफ प्रापर्टी ऐक्ट, और (३) १८७६ का ट्रेड यूनियन ऐक्ट। अब ऐसी व्यवस्था हो गयी थी कि सात या इससे अधिक सदस्य अपने हस्ताक्षरों से श्रमिक संघ के नियमों को संरक्षण प्रदान करा सकते थे। ऐसे संघों को सम्पत्ति अर्जित करने और कोष संग्रह करने के लिए पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। यदि कोई श्रमिक समझौता भंग करे तो उसको २० पौंड या ३ मास कैद की सजा दी जा सकती थी।

१८७१ के अधिनियम के बाद के वर्षों में संघों और उनकी सदस्य संख्या में बहुत वृद्धि हुई। एक विशेष बात यह थी कि संघों के विकास का प्रभाव कृषि मजदूरों पर दिखलाई पड़ा। १८७२ में नेशनल एग्रीकल्चरल लेबरर्स यूनियन जासेफ़ आर्च के नेतृत्व में निर्मित हुई। यद्यपि १८७५-८० के बीच औद्योगिक मंदी थी और कई हड़तालें संगठित हुई परन्तु संघ आन्दोलन में अत्यधिक शिथिलता थी। दस वर्षों के बाद समृद्धि का युग आया और इस बीच संघों का विकास हुआ। पुरुषों के विरोध के होते हुए श्रमिक महिलाएँ भी संगठित हुई। १८६८ में श्रमिक महिलाओं के हितों का प्रसार करने के उद्देश्य से वीमेंस ट्रेड यूनियन लीग की स्थापना हुई।

औद्योगिक श्रम संगठन काल (१८८०-१९००). जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, १८८० के बाद आर्थिक समृद्धि काल आया। इस काल में श्रमिक संघ गतिविधियों में तीव्र विकास हुआ। श्रमिक संघों की सदस्यता बढ़ी। इस काल में शिल्पिक संघ के स्थान में औद्योगिक संघों का विकास हुआ। अभी तक अकुशल और कुशल श्रमिक संगठित होकर कुछ अंशों में सामने आए थे। कुशल और अकुशल श्रमिकों के अलग अलग संगठन थे। इनमें कुशल श्रमिकों के संगठन अधिक महत्वपूर्ण थे और अब सभी

व्यवसायों और सभी प्रकार के श्रमिकों को एक साथ संगठित करने पर जोर था। १८९९ में एक सामान्य फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन निर्मित हुआ। इसका उद्देश्य वार्षिक ट्रेड यूनियन कांग्रेस और इसकी संसदीय समिति के कार्यों की पूर्ति करना था। इसका विशेष लक्ष्य श्रमिकों को अधिक सुविधापूर्ण स्थिति प्रदान करना था। दूसरी प्रवृत्ति संघों को सुदृढ़ करने के लिए थी। १८९८ और १९०९ के बीच यूनाइटेड किंगडम में संघों की संख्या १२८७ से घट कर ११५३ हो गयी, यद्यपि सदस्य संख्या अधिक बढ़ गयी थी। एक बात यह थी कि महिला श्रमिक पुरुष संघों में सम्मिलित हुई और इस सम्मिलन से संघों को अधिक बल मिला।

राजनीतिक दृष्टि से श्रमिक सशक्त होते जा रहे थे और १८८० के चुनावों से उनके उम्मीदवार सफल होने लगे थे। स्वतंत्र मजदूर दल अर्थात् लेबर पार्टी १८९३ में निर्मित हुई और श्रमिक सदस्य स्थानीय संस्थाओं और बाद में संसद के लिए चुनाव लड़ने लगे। लेबर पार्टी का मुख्य उद्देश्य उत्पादन वितरण और विनिमय के साधनों का समाजीकरण तथा जनहित में प्रजातंत्रीय नियंत्रण था।

श्रमिक संघों का आघात (१९०१-१९१४). बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई, एक १९०१ में और दूसरी १९०९ में, जिन्होंने श्रमिक संघों के कार्यों को भारी आघात पहुँचाया।

पहला धक्का टैफ वेल नामक अभियोग में हाउस आफ लार्ड्स के वैधानिक निर्णय से लगा। १९०९ में वेल्स की टैफ वेल रेलवे कम्पनी के कर्मचारियों ने बिना पूर्व सूचना दिए हड़ताल कर दी। रेलवे कम्पनी ने अमेलग्मेटेड सोसाइटी आफ रेलवे संघ के विरुद्ध क्षति पूर्ति का दावा किया। प्रश्न यह था कि पंजीकरण किए गए आर्थिक संघों के कोष से हड़ताल के फलस्वरूप मालिकों के घाटे को प्राप्त किया जा सकता है या नहीं। हाउस आफ लार्ड्स ने रेल्वे कम्पनी के पक्ष और श्रमिक संघ के विरुद्ध २३००० पौंड क्षति पूर्ति करने का निर्णय किया।

इस फैसले से मजदूरों का आन्दोलन चारों ओर छिड़ गया। श्रमिक संघों को विशेष कठिनाइयों का सामना करने के बाद ट्रेड यूनियन और ट्रेड डिस्पयूट्स एक्ट पारित कराने में सफलता प्राप्त हुई। शान्तिपूर्ण धरना कानूनी घोषित हुई। अदालतों पर यह रोक लगा दी गई कि वे श्रमिक संघ या उसके सदस्यों या पदाधिकारियों के विरुद्ध कोई कार्यवाही करें।

श्रमिक संघ विकास को दूसरा आघात दिसम्बर १९०९ के आसबोर्न वैधानिक निर्णय के द्वारा लगा। आसबोर्न बनाम अमेल्गमेटेड सोसाइटी आफ रेल्वे सर्वेन्टस का

मामला इस सामान्य प्रथा के कारण चला कि संघों के अपने कोष से हाउस आफ कामन्स के श्रमिक सदस्यों को सहायता दी जा सकती है। हाउस आफ लार्ड ने फैसला किया कि कोई भी श्रमिक संघ या श्रमिक संगठन कानूनी रूप में अपने सदस्यों से चंदा लेकर उसे संसद के सदस्यों की सहायता या इस प्रकार के किसी भी कार्य में खर्च नहीं कर सकता इस फैसले से बहुत विवाद बढ़ा और १९१० में एक आन्दोलन संगठित हुआ कि एक अधिनियम द्वारा इस स्थिति को बदला जाय। यह आन्दोलन चलना रहा और आगामी वर्षों में इसमें कुछ गम्भीर मोड़ आए। १९१३ में ट्रेड यूनियन एक्ट पारित हुआ जो आंशिक रूप से श्रमिक संघों के अनुकूल था। इस कानून के अन्तर्गत पंजीकृत तथा अपंजीकृत श्रमिक संघों को दो शर्तों को छोड़ अपने कोष को राजनीतिक कार्यों में खर्च करने का अधिकार था। पहली शर्त यह थी कि गुप्त मतदान से ऐसा प्रस्ताव पारित हो जो राजनीतिक उद्देश्यों के पक्ष में हो। दूसरी शर्त के अनुसार सदस्यों को अनिवार्यतः इस तरह के उद्देश्यों के लिए चंदा देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। इस तरह आसबोर्न फैसले ने श्रमिक संघों पर अपना कोष राजनीतिक कार्यों पर खर्च करने पर जो रोक लगायी थी उसे रद्द कर दिया।

१९००-१९१४ का काल महान् औद्योगिक और श्रमिक अशान्ति का काल कहा जाता है। इस बीच अनेक हड़तालें हुईं। रेल कर्मचारियों ने १९०७ में, कपास कातने वालों ने १९०८ में, इंजीनियरों ने १९०९ में, और जहाजी श्रमिकों ने १९१२ में हड़तालें कीं। खनिकों, रेलवे कर्मचारियों और जहाजी कर्मचारियों की हड़तालें कुछ समय तक चलती रहीं। १९०० से निर्वाह व्यय तेजी से बढ़ रहा था और पारिश्रमिक अनेक धंधों में तीव्र गति से गिर रही थी। जनशिक्षा में वृद्धि ने भी मेंहनत मजदूरी करने वालों में अपनी दयनीय परिस्थितियों के प्रति असंतोष बढ़ाया और उन्हें संगठनों में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित किया, जो मालिकों से सीधा संघर्ष करने के लिए तैयार थे। श्रमिक संघ आन्दोलन के बामपक्ष का संसद में विशेष विश्वास नहीं था और उसका सीधे संघर्ष में विश्वास बढ़ गया था। नेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन्स और सामान्य हड़ताल के विचार देश में सर्वत्र गूंज रहे थे। इस उद्देश्य की पूर्ति में तीन लड़ाकू वर्ग (militant section) खनिक, रेल्वे कर्मचारी और यातायात कर्मचारी राष्ट्र व्यापी हड़ताल संगठित करने के लिए रक्षात्मक (defensive) और आक्रामक (offensive) गठबन्धन कर चुके थे। १९१४ के ग्रीष्म काल में औद्योगिक मण्डलों में स्थिति तनाव की थी। पर जैसे ही प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ सर्व वर्गीय शक्ति, हित और सामूहिक भावना युद्ध में उत्पन्न राष्ट्रीय प्रश्नों की ओर मुड़ गयी।

श्रमिक संघ कार्यकर्ता भी सामान्यतः राजनीतिक दलों से भी सम्बन्ध रखने लगे। १९१४ के पहले इस वर्ग में स्वतंत्र श्रमिक उम्मीदवार अत्यधिक सशक्त हो गये और उन्होंने समय-समय पर चुनाव लड़े जिनमें अधिकाधिक सफलता भी प्राप्त की। १९०७ में लेबर पार्टी ने एक प्रस्ताव पारित कर घोषित किया कि उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों का समाजीकरण किया जाय, उन्हें समस्त समाज के हितों की दृष्टि से प्रजातंत्रीय आधार पर नियंत्रित किया जाय तथा स्त्री पुरुषों में सामाजिक और आर्थिक समानता के आधार पर श्रमिकों को पूँजीवाद और सामंतशाही से मुक्त किया जाय। यह समाजवादी घोषणा थी और इसका उद्देश्य दल की शक्ति बढ़ाना था। १९१० के जनवरी और दिसम्बर के चुनावों में लेबर उम्मीदवार कुछ चुनाव क्षेत्रों में हार गए पर १९१०-१४ के बीच हाउस आफ कांमस में लेबर सदस्यों की संख्या बढ़ गयी। १९१० के बाद लेबर समूह ने महत्वपूर्ण राजनीतिक स्थान पा लिया और उनका अधिकांश कार्यक्रम श्रमिकों और औद्योगिक समस्याओं से सम्बद्ध था।

युद्धकालीन प्रवृत्तियाँ (१९१४-१९). युद्ध ने औद्योगिक शान्ति तथा श्रमिकों और मालिकों के बीच परस्पर सहयोग की नीति उत्पन्न कर दी। संगठित श्रमिक ने सच्चाई के साथ अपने संघी कार्यों को राष्ट्रीय सैनिक विजय के पक्ष में त्याग दिया। पाँच महत्वपूर्ण श्रमिक संघ समूह थे : (१) खनन, (२) धातु इंजीनियरिंग और जहाज निर्माण, (३) सूती वस्त्र उत्पादन, (४) इमारत, और (५) रेल और जहाज तथा अन्य यातायात उद्योग। इनमें सम्पूर्ण सदस्यों की संख्या के तीन-चौथाई सदस्य सम्मिलित थे। इन सब ने निरन्तर सहयोगी नीति अपनाई और इनका युद्ध में औद्योगिक शान्ति भंग करने का कोई विचार नहीं था। इसकी महत्ता इस बात से प्रकट होती है कि युद्ध कालीन मंत्रीमंडल में दो श्रमिक सदस्य थे।

सेना और युद्ध सामग्री उत्पादन में लगे उद्योगों में सामान्य भर्ती के कारण श्रमिकों की अधिक कमी थी। इस संकट को पार करने के लिए सरकार ने श्रमिकों की पूर्ति को नियंत्रित किया। औद्योगिक और कृषि क्षेत्र से लोगों को शक्त सेनाओं में स्थान्तरित किया गया। रेलों, खानों और मूलभूत उद्योगों के केन्द्रीकरण और नियंत्रण की भी व्यवस्था की गई। सरकार का लक्ष्य उपलब्ध श्रमिकों का भरपूर उपयोग करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए १९१५ और १९१६ के म्यूनिशंस आफ वार ऐक्ट पारित हुए जिन्होंने सरकार को उद्योगों को अनिवार्य रूप से शिथिल करने (dilution) और महिलाओं के नौकरी विषयक रोकों को समाप्त करने का अधिकार दिया। इन कानूनों में यह भी स्पष्ट था कि हड़तालें और तालेबन्दी दोनों ही अवैधा-

निक हैं; युद्धकाल में उत्पादन सम्वन्धी श्रमिक संगठनों के प्रतिवन्धों को स्थगित कर दिया जाय; काम छोड़ना दण्डनीय अपराध माना जाय और श्रमिक झगड़े स्पेशल म्यूनिशंस ऐक्ट के अन्तर्गत अनिवार्य पंच फैसलों द्वारा सुलझाए जायं। मजदूरों के अभाव के कारण विभिन्न उद्योगों में महिला मजदूरों की संख्या बढ़ी। एक नेशनल फेडरेशन आफ वीमेन्स वर्क उनके हितों के संरक्षण के लिए निर्मित किया गया, पर इसका कार्य युद्ध काल में स्थगित रहा।

औद्योगिक शान्ति से श्रमिक संघ आन्दोलन को धक्का लगा। १९१५-१९१७ में कुछ अशान्ति हुई। युद्धकालीन लाभांश प्रणाली बढ़ते निर्वाह व्यय का सामना करने के लिए रेलों और कुछ अन्य उद्योगों में लागू की गयी। इस तरह की मांगों पर जोर देने के लिए हड़तालें भी हुईं। १९१५ में क्लाइड की हड़ताल हुई और 'शाप स्टीवर्ड' आन्दोलन के कारण मजदूरों का वेतन अत्यधिक बढ़ा। सामान्य सहकारिता, औद्योगिक व्यापार की नीति तथा राजकीय नियंत्रण एवं विनिमय के होते हुए भी १९१५ में २० लाख कार्य दिवसों, १९१६ में २५ लाख कार्य दिवसों और १९१७ में ५५ लख कार्य दिवसों की हानि हुई।

युद्ध काल में एक और महत्वपूर्ण घटना हुई। २१ वर्ष से अधिक के पुरुष और ३१ वर्ष से अधिक की महिलाओं को १९१८ के रिप्रेजेन्टेशन आफ पीपुल्स ऐक्ट के अनुसार मताधिकार प्राप्त हुआ। श्रमिकों को सम्पत्ति विषयक योग्यता के बिना मता-धिकार प्राप्त हो गया, जिससे उन्हें संसद में प्रवेश के अवसर मिल गए।

महायुद्धों के बीच का काल (१९२०-१९३९). युद्धोत्तर काल में सैन्य विघटन (demobilisation) तथा १९१७ के रूसी क्रान्ति से प्रेरित कम्यूनिस्ट पार्टी के संगठन और उसकी प्रवृत्तियों के कारण अशान्ति रही। संगठित हिंसक आन्दोलन उठे। फोक-स्टोन में उपद्रव हुए और लारियों में लोग लंदन आए और उन्होंने सामूहिक कार्यवाही द्वारा अपनी माँगे प्रस्तुत की। विप्लव भी हुआ। ग्रूव पार्क और केप्टन पार्क की सेना सेवा कोर (army service corps) की टुकड़ियों (units) ने सैनिक समितियाँ निर्मित कीं और शहरी लोगों से सम्पर्क बढ़ाया। सैन्य विघटन से असन्तुष्ट सैनिकों के विद्रोह को कुचलने के लिए दो टुकड़ियाँ निर्मित की गईं। ग्लासगो और बेलफास्ट में भी दंगे हुए। जब सैन्य विघटन कार्य में कुछ सरलता आयी तथा गड़बड़ियाँ दूर होने लगीं तो रेल कर्मचारियों और खनिकों ने आर्थिक क्षेत्र में अशान्ति पैदा की।

रेलें और खानें दोनों युद्धकाल में सरकार द्वारा नियंत्रित और संचालित थीं तथा मजदूरों को भी जीवन स्तर लाभांश बड़े परिमाण में मिला था। १ फरवरी, १९१९ को सरकार ने दैनिक आठ घंटे काम की माँग भी स्वीकृत कर ली थी। बाद में

१६१६ में मजदूरों और सरकार के बीच जीवन-स्तर व्यय के मामले में कुछ विरोध के कारण ६ दिन की हड़ताल हुई जिसमें ५५ लाख से अधिक रेल कर्मचारी शामिल हुए। १६१६ में जीवन सूचकांक १६१४ से ११५ प्रतिशत अधिक था और जब वेतन के नए मान युद्धोत्तर काल में लागू होने वाले थे तब कर्मचारियों ने यह आशा की थी कि उसमें युद्ध लाभांश भी सम्मिलित रहेगा। सरकार ने इस माँग को लोकोमोटिव ड्राइवर्स और फायरमैन के लिए स्वीकृत किया और इस तरह रेल कर्मचारियों को दूसरे वर्गों से पृथक कर दिया। दूसरों के लिए सरकार ने प्रत्येक ग्रेड में कटौती प्रस्तावित की। आरम्भ में रेल कर्मचारी हड़ताल के लिए तैयार नहीं थे पर जब स्थिति ने माँग की तो वे अन्य उद्योगों के कर्मचारियों के सहयोग से सफल हड़ताल कर सकते थे। सरकार ने भी बहुत कड़ा रुख अपनाया और उसका विचार श्रमिक संघों के कोषों को जब्त करने का था। उसने स्थानीय अधिकारियों को नागरिक सुरक्षा दल संगठित करने की सलाह दी। उसने कुछ रेल स्टेशनों पर सैनिक तैनात किये। कर्मचारियों को सभी रूप से दण्डित करने की उनकी योजना थी। रेलों का काम एक तरह से ठप हो गया। सरकार ने आँशिक सेवा संगठित की। भारी माल के यातायात में बहुत गड़बड़ी हुई। बहुत समय तक समझौते के लिए कोई प्रयास नहीं हुआ पर ३ अक्टूबर को धैर्यपूर्वक समझौता वार्ता चली जो सफल हुई। रेलवे कर्मचारी संघों को सफलता प्राप्त हुई। चूँकि रेलें, खान और कुछ मूल उद्योग युद्ध काल में सरकार द्वारा नियंत्रित थे अतः युद्धोत्तर काल में उनके कर्मचारियों ने यह माँग की कि उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। सरकार ने उनकी मांगों पर विचार करने के लिए रायल कमीशन नियुक्त किया। कमीशन ने अनुकूल प्रतिवेदन दिया पर सरकार ने उसे पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। अतएव ट्रेड यूनियन कांग्रेस में दिसम्बर १६२१ के अधिवेशन में भारी अन्दोलन आरम्भ कर मांग की कि "खानें राष्ट्र की हैं"। पर यह आन्दोलन असफल हुआ क्योंकि कर्मचारियों में आपस में मतभेद था। न तो स्वामित्व का राष्ट्रीयकरण हुआ और न कोई पुनर्संगठन हुआ। १६२१ में सरकार ने खानों पर से सभी युद्धकालीन नियंत्रण हटा दिए। ज्यों ही खान मालिकों को अपने अधिकार प्राप्त हुए उन्होंने मजदूरी घटाने की घोषणा कर दी। कृषि सहित सभी उद्योगों में मंदी थी अतएव सभी उद्योगों में मजदूरी घट रही थी। बेकारी बढ़ी। श्रमिक संघों की सदस्यता घटी। इस कष्टप्रद समय में मध्यम वर्गीय परिवारों को सबसे अधिक कष्ट पहुँचा। बेकार लोगों ने सड़कों पर संगठित प्रदर्शन किए। बहुत से प्रदर्शन हुए तथा ब्रिटेन की कम्यूनिस्ट पार्टी ने इस आन्दोलन को और भी तीव्र किया। १६२२ में इंजीनियरों की एक हड़ताल असफल हुई तथा उनके संघों को भारी वित्तीय कठिनाई का सामना करना पड़ा। १६२३ तक इमारत बनाने वाले,

जहाज के कर्मचारी, खनिक और नाविक सभी को बहुत हानि उठानी पड़ी। पर वे अपने मालिकों के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध प्रदर्शित नहीं कर सके। मजदूरों की स्थिति राजनीतिक क्षेत्र में अवश्य सुदृढ़ थी पर श्रमिक संघों के क्षेत्र में सुसंगठित नहीं थी।

सम्पूर्ण देश में श्रमिक अशान्ति बढ़ रही थी। इस आन्दोलन में खनिकों का प्रमुख स्थान था। खान मालिकों ने मजदूरी घटाने और काम के घंटे बढ़ाने का पुनः प्रयास किया। जुलाई १९२५ में ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने खनिकों को सहयोग देने का निर्णय किया। यहाँ तक कि यदि आवश्यक होगा तो उनकी सहानुभूति में एक सामान्य आम हड़ताल की भी तैयारी थी। सरकार ने एक जांच आयोग नियुक्त किया। जब यह आयोग खानों के मजदूरों के मामले की जांच कर रहा था तब सरकार ने कोयला खान मालिकों को अस्थायी उपदान दिया जिससे कि वे मजदूरी न घटाएं। १९२६ में उसका प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ। उसने सिफारिश की कि मजदूरी में कटौती की जाय परन्तु उस सीमा तक नहीं जिसे मालिक चाहते थे। उसने काम के घंटे बढ़ाने की माँग स्वीकार नहीं की। उसने शोध करने, खानों को समामेलित करने, स्वामित्व का राष्ट्रीयकरण करने तथा उपदान बंद करने की भी सिफारिशें की।

न तो खनिकों और न कर्मचारियों ने इन सिफारिशों को स्वीकार किया और ३० अप्रैल १९२६ को खान मालिकों ने ताला बन्दी कर दी। ३-४ मई को ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने कोयला खान मजदूरों की सहायता करने का निश्चय किया और सारे देश में हड़ताल की। ट्रेड यूनियन कांग्रेस हड़ताल करने और सरकार उसका प्रतिरोध करने के लिए तैयार थी। ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने पहले दिन प्रथम पंक्ति के कर्मचारियों को हड़ताल करने के लिए कहा और ११ मई को द्वितीय पंक्ति के कर्मचारियों को आदेश दिया। हड़ताल बहुत ही कड़ी थी।

प्रधान मंत्री बाल्डविन (Baldwin) के नेतृत्व में सरकार ने बड़ी कुशलता के साथ स्थिति का सामना किया। ट्रेड यूनियन कांग्रेस को बिना शर्त समझौते के लिए राजी होना पड़ा। १२ मई को ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रतिनिधि प्रधान मंत्री बाल्डविन से मिले और अपनी माँगों के बारे में कोई सुविधा अथवा आश्वासन प्राप्त किए बिना हड़ताल समाप्त करने को स्वीकार किया। यद्यपि खनिक हड़ताल को चलाये रखने की स्थिति में थे क्योंकि उनमें गति और शक्ति दोनों उत्पन्न हो गई थी, पर ज्यों ही ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने काम प्रारम्भ करने की सलाह दी तो सामान्य हड़ताल की एकता टूट गयी। खनिकों को लगा कि यह उनकी बहुत बड़ी हार थी। उनका भ्रम दूर हो गया और वे परास्त हो गए।

अपनी विजय से प्रोत्साहित होकर सरकार ने १९२७ में ट्रेड डिस्प्यूट्स एण्ड ट्रेड यूनियन एक्ट पास किया। इसके अनुसार सहानुभूतिक हड़ताल करना अवैध था। यदि श्रमिक संघ का कोई सदस्य संघ की राजनीतिक निधि में चन्दा देना चाहता थी तो उसे एक प्रपत्र अलग से भरना पड़ता जिसमें उसे इस सम्बन्ध में स्पष्ट घोषणा करनी पड़ती थी। अन्यथा वह राजनीतिक कार्य के लिए कोई चन्दा नहीं दे सकता था। राजकीय कर्मचारी संघों के लिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस से सम्बद्ध होना निषिद्ध था।

१९२७-३५ में वेकारी बढ़ी और श्रमिक संघों की सदस्यता में कमी हुई। १९२७ के अधिनियमों में श्रमिक संघों पर लगाए गए प्रतिबन्धों के विरुद्ध औद्योगिक श्रमिकों ने रोष प्रकट किया। १९३१ में लेबर सरकार बनी और उसने उपयुक्त अधिनियम में संशोधन करने के प्रयत्न किए परन्तु संसद के अन्य सदस्यों के असहयोग के कारण यह प्रयत्न सफल नहीं हो सके। संकट स्थिति के प्रभाव के कारण लेबर दल स्वयं विभक्त था। १९३५ के मध्य से बेकारी कम होने लगी यद्यपि बेकारी तब भी अधिक थी। श्रमिक संघों की सदस्यता कुछ बढ़ी। मंदी के कारण निर्वाह व्यय कम हुआ और श्रमिकों के सामान्य जीवन स्तर में कुछ सुधार हुआ। कोई भी श्रमिक वर्ग प्रबन्धकों से पुनः झगड़ा नहीं चाहता था। अतः श्रमिक संघों का कार्य लगभग नहीं के बराबर हुआ।

द्वितीय महायुद्ध. १९३९ के महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही टोरी सरकार समाप्त हो गयी। इसके स्थान पर टोरी, लिबरल तथा लेबर दलों की मिली जुली सरकार वनी जिसके प्रधान मंत्री विन्सटन चर्चिल थे। महायुद्ध काल में लेबर दल को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था और उसके प्रतिनिधि युद्धकालीन मंत्रि-मंडल में थे। संकटकालीन स्थिति के कारण श्रमिक संघों ने लम्बे काम के घंटों तथा सरकार के निर्देशों को स्वीकार किया। निजी प्रबंधकों और श्रमिकों तथा निजी प्रबन्धकों और सरकार में पारस्परिक विश्वास तथा सहयोग था। पहले महायुद्ध की तुलना में सरकार ने अधिक संख्या में नियंत्रण लगाए। इस काल में श्रमिक संघों की स्थिति दृढ़ हुई और वे औद्योगिक तथा सामाजिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देने लगे। १८४० में ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने अभिपुष्टि की कि विभिन्न श्रमिक संघों, मंत्रियों, राजकीय विभागों और मालिक संगठनों के कार्यों में श्रमिक संघों की राष्ट्रीय स्वीकृति की झलक मिलती है। इससे यह भी पता लगता है कि स्वतंत्र नागरिक द्वारा निर्मित एवं जनतंत्रीय सिद्धान्तों पर आधारित सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में श्रमिक संघों का महत्वपूर्ण स्थान है। दो प्रधान मंत्रियों, चैम्बरलेन तथा विन्सटन चर्चिल ने अनुदेश दिया था कि श्रमिकों तथा तत्सम्बन्धित समस्याओं के बारे में ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा इससे सम्बद्ध संघों की राय अवश्य ली जायगी। श्रम पूर्ति, उत्पादन,

वस्तुओं के मूल्य, ईंधन, खाद्य, कृषि, नौपरिवहन आदि समस्याओं से सम्बन्धित समितियों में श्रमिक संघ के प्रतिनिधि रखे जाते थे। इसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण समिति नेशनल ज्वाएन्ट एडवाइजरी कौंसिल थी, जिसके अध्यक्ष श्रम मंत्री थे। महायुद्ध काल में श्रमिकों का राजनीतिक तथा सामाजिक महत्व बढ़ गया था और युद्धोत्तर काल में संघ के सदस्यों की संख्या ६० लाख हो गई थी। साथ ही साथ श्रमिक संघों की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी थी।

आधुनिक काल. महायुद्ध के बाद राष्ट्रीय जीवन में श्रमिक संघों के महत्व में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। महायुद्ध के पश्चात् लेबर दल की सरकार बनी और उसके बाद कंजरवेटिव पार्टी ने अपनी सरकार बनाई। परन्तु युद्ध काल की पारस्परिक सद्भाव तथा सहयोग की भावना लगातार बनी रही। अब सरकार द्वारा श्रमिक संघों को प्राप्त मान्यता पर कोई सन्देह नहीं रह गया है। १९६४ में लेबर सरकार आने से स्थिति और भी सुदृढ़ होने की आशा है।

संगठन तथा ढांचा. अब इंगलैंड में श्रमिक संघों की संख्या बहुत अधिक हो गयी है और कई श्रमिक संघों की अनेक शाखाओं में सदस्य संख्या भी बहुत बड़ी है। १९५९ के अन्त में ब्रिटिश ट्रेड यूनियनों की कुल सदस्यता लगभग ९६ लाख थी। श्रमिक संघों की संख्या ६५१ थी जिनमें दो-तिहाई सदस्य सत्रह विशाल श्रमिक संघों से सम्बद्ध थे।

सभी उद्योगों तथा पेशों में काम करने वाले श्रमिकों तथा कर्मचारियों के संघ हैं। इनका विकास धीरे-धीरे अनेक वर्षों में हुआ और इसलिए उनके रूप तथा संगठन में अत्यधिक विभिन्नता है। आरम्भ में श्रमिक संघों का विकास शिल्प श्रमिकों में हुआ था और तत्पश्चात् अकुशल मजदूरों के भी संघ बने। हाल में कार्यालय, पर्यवेसी (supervisory) प्राविधिक और प्रशासनिक (administrative) कर्मचारियों के संघ भी बने।

कुछ संघो में सदस्यता की योग्यता पेशे के आधार पर है और कुछ की औद्योगिक आधार पर है। जिस प्रकार का कार्य श्रमिक या कर्मचारी करता है उसी से सम्बन्धित संघ का सदस्य वह बन सकता है। कई संघों की सदस्य-योग्यता में उपरोक्त सभी सिद्धान्तों का समावेश है।

संगठन की मूल इकाई किसी भी संघ की स्थानीय शाखा है। संघ का हर सदस्य किसी न किसी शाखा का सदस्य है। लगभग सभी बड़े संघों में चुने हुए पदाधिकारी होते हैं जिनमें एक महा मंत्री भी होता है जिसकी सहायता के लिए लिपिक तथा विशेषज्ञ कर्मचारी होते हैं। ये मुख्यालय का कार्य करते हैं और राष्ट्रीय कार्यकारी

परिषद् या समिति के उत्तरदायी होते हैं। पदाधिकारी अंश कालिक (part time) या पूरे समय के लिए होते हैं और अधिकतर उनका चुनाव (election) विभिन्न शाखाओं के वार्षिक अथवा द्विवार्षिक सम्मेलनों के प्रतिनिधियों द्वारा होता है। कार्यकारी समिति या परिषद् संघों के प्रशासन में महत्वपूर्ण कार्य करती है। सम्मेलनों के बाद कार्यकारी समिति का महत्व सबसे अधिक होता है और वे प्रतिनिधियों के द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार काम करते हैं। लगभग सभी संघों की क्षेत्रीय, जिला या स्थानीय स्तर पर प्रतिनिधि संस्थाएँ होती हैं।

कुछ श्रमिक संघ बहुत बड़े हैं। वे अधिकतर संघों के संगम (federation) के रूप में हैं। श्रमिक संघ एक या अधिक संगमों या महासंगमों (confederations) से सम्बद्ध रहते हैं। यह इस अभिप्राय से किया जाता है कि एक उद्योग के समस्त या अधिकाधिक संघों का प्रतिनिधित्व होता रहे।

छोटे बड़े सभी प्रकार के विभिन्न महत्व वाले संघ ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अधिकतर सम्बद्ध रहते हैं। कांग्रेस ब्रिटिश श्रमिक संघ आन्दोलन का राष्ट्रीय केन्द्र है। कुछ बड़े संघ ट्रेड यूनियन कांग्रेस से सम्बद्ध नहीं हैं। इनमें नेशनल एण्ड लोकल गवर्नमेंट आफिसर्स एसोसिएशन, दि नेशनल यूनियन आफ टीचर्स, कुछ सिविल सर्विस स्टाफ एसोसिऐशन और एलेक्ट्रिकल ट्रेड्स यूनियन प्रमुख हैं। ट्रेड यूनियन कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य है, सम्बद्ध संघों के हितों की प्रोन्नति करना और श्रमिकों के आर्थिक तथा सामाजिक स्थितियों को उन्नत करना। इसके १८६ संघ सदस्य हैं। इनमें लगभग १५० विभिन्न संघों के एक दर्जन संगम हैं और इस प्रकार लगभग ३५० संघ परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सदस्य हैं। कांग्रेस ८० लाख से अधिक श्रमिकों तथा कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करती है।

ट्रेड यूनियन कांग्रेस आठ विभिन्न उद्योग समूहों में विभक्त है। प्रत्येक में ४ लाख से अधिक सदस्यता वाले ये आठों समूह निम्नांकित हैं:—(१) इंजीनियरिंग, ढलाई और वाहक निर्माण, (२) रेलों को छोड़ कर अन्य परिवहन, (३) सामान्य श्रमिक, (४) खनन, (५) भवन निर्माण, लकड़ी का काम तथा फर्नीचर, (६) रेल, (७) शीशा, मिट्टी के बर्तन, खाद्य सामग्री, रसायन, इत्यादि, और (८) राज्यकीय कर्मचारी।

संगठित श्रमिकों के प्रतिनिधि के रूप में श्रमिक हित विषयक ट्रेड यूनियन कांग्रेस की राय को सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त है। यह एक गैर राजनीतिक संस्था है। परन्तु व्यक्तिगत रूप से संघों को अधिकार है कि वे सदस्यों के बहुमत से राजनैतिक निधि के लिए चन्दा एकत्र करे। ऐसी व्यवस्था थी कि राजनीतिक निधि के लिए चन्दा न देने वाले सदस्यों के सामान्य अधिकारों की क्षति न हो। इस समय लगभग

८० विभिन्न श्रमिक संघों (जिनमें अधिकतर बड़े श्रमिक संघ सम्मिलित हैं) के अपने अपने राजनीतिक कोष हैं। ये श्रमिक संघ विभिन्न चुनावों में लेबर पार्टी का समर्थन करते हैं।

लगभग सभी उद्योगों में प्रभावी श्रमिक संघ हैं। लोहे और इस्पात, नौ निर्माण, कपड़ा तथा छपाई कुछ ऐसे वाणिज्य और उद्योग हैं जिनमें संघों के सदस्यों की संख्या अधिक नहीं है परन्तु इनके संघ अत्यधिक शक्तिशाली हैं। कृषि श्रमिकों तथा कार्यकर्त्ताओं के संघ भी बहुत शक्तिशाली हैं। नेशनल यूनियन आफ एग्रीकल्चरल वर्कर्स में लगभग १,३५,००० सदस्य हैं और ट्रांस्पोर्ट एण्ड जनरल वर्कर्स यूनियन में भी एक शक्तिशाली कृषि श्रमिक समूह है। लोक सेवाओं में भी संघ स्थापित हैं। कोयला, सब प्रकार के परिवहन, सिविल विमानन (aviation), बिजली, गैस और पानी पूर्ति आदि राष्ट्रीयकृत उद्योगों में भी श्रमिक संघों की सदस्यता विशाल है। बुद्धिजीवी कार्यकर्त्ताओं के संघ अभी कमजोर ही हैं और उनके कार्यक्षेत्र में सुधार की अधिक आवश्यकता है। श्रमिक संगठनों की एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि १९३९ से समामेलनों के कारण संघ की संख्या कम हो रही है।

संघों के दोष. हाल ही श्रमिक संघों के ढाँचों और उनके कार्यों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक वाद-विवाद रहे। इसका कुछ विवरण "युद्धोत्तर अर्थव्यवस्था" के अध्याय में है। फिर भी कुछ महत्वपूर्ण दोष निम्नलिखित हैं।

पहला, बीमा कम्पनियों और बैंकों के संघों के बारे में यह शिकायत है कि बीमा कम्पनियाँ और बैंक इनको मान्यता नहीं देते। "नेशनल यूनियन आफ बैंक इम्पलाईज" को "पांच बड़े" बैंकों में से केवल दो के द्वारा मान्यता प्राप्त है (जिनमें से एक बैंक द्वारा मान्यता केवल आंशिक है)। कई छोटे बैंक "नेशनल यूनियन आफ बैंक इम्पलाईज" को मान्यता देते हैं। कुछ बीमा कम्पनियाँ "गिल्ड आफ इंश्योरेंश आफीशियल्स" को मान्यता देती हैं। संघों का मत है कि ऐसे भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं जब उन्होंने सदस्यता बहुत बढ़ा ली थी परन्तु मान्यता केवल कर्मचारी संस्था को ही प्राप्त हुई। उनका कथन है कि बैंकों और बीमा कम्पनियों की स्थिति ऐसी है कि उनके कर्मचारियों को श्रमिक संघों के संरक्षण की आवश्यकता है परन्तु प्रबन्धक अपने-अपने कर्मचारियों से (जिनका सम्बन्ध कर्मचारी संघ से है) पृथक् रूप से झगड़े तय करते हैं और वे सामान्य संघों की शर्तों को नहीं मानते जिनकी सदस्यता किसी बैंक या कम्पनी विशेष से सम्बन्धित नहीं रहती। संघों की यह भी शिकायत है कि बैंक और बीमा कम्पनियाँ संघों की बढ़ती सदस्यता को देख कर स्थानीय कर्मचारी संस्थाओं को बढ़ावा देती हैं और संघों को कमजोर करने के लिए स्थानीय कर्मचारी संस्थाओं को विशेषाधिकार तथा वित्तीय सहायता प्रदान करती है।

दूसरा, श्रमिक संघों का विकास अव्यवस्थित ढंग से हुआ है। संघ के नेता तथा सामान्य सदस्य का एक मत है कि संघ का संगठन सुगठित नहीं है। संघों में समामेलन तथा गठबन्धन इस प्रकार है कि संघों का कार्यक्षेत्र परस्परव्यापी है तथा संघों में सदस्यता के लिए प्रतिस्पर्धा रहती है। यह भी सम्भव है कि एक ही उद्योग या एक ही कारखाने के श्रमिक कई श्रमिक संघों से सम्बद्ध हों। प्रायः कारखानों के प्रबन्धकों को कई शिल्प श्रमिक संघों से समझौता करना पड़ता है। एक ही कारखाने के श्रमिकों की सदस्यता कई श्रमिक संघों में होने के कारण कारखाना प्रबन्धकों को विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ता है और प्रायः श्रमिक संघों को भी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। यह भी देखा गया है कि दो या दो से अधिक श्रमिक संघ प्रायः एक ही प्रकार के श्रमिकों को संगठित करने का दावा करते हैं। इन कठिनाइयों का हल ढूढ़ने पर ट्रेड यूनियन कांग्रेस विवाचक का कार्य करती है जिससे संघों के प्रतिनिधि सौहार्दपूर्ण निर्णय पर पहुँचते हैं। यदि किसी निर्णय पर पहुँचने के सारे प्रयत्न असफल होते हैं तो ट्रेड यूनियन कांग्रेस मामले को सुलझाने के लिए सिफारिश कर सकती है जिसे संघ अधिकतर मान भी लेते हैं।

तीसरा, ब्रिटिश श्रमिक संघ समाजवादी और अन्य पूँजीवादी देशों के श्रमिक संघों की भाँति क्रियाशील नहीं हैं। आज कल यह माना जाता है कि यदि श्रमिक संघ के नेता मजदूरी बढ़ाने के लिए माँग करें तो यह भी आवश्यक है कि श्रमिक अपनी उत्पादकता इतनी बढ़ाएँ जिससे कि लाभ में वे भी साझीदार हो सकें। इस प्रकार की धारणा ब्रिटिश श्रमिक संघों में कम पाई जाती है।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश श्रमिक संघों ने बहुत सी सफलताएं प्राप्त की हैं। यह संस्था सार्वजनिक हित के लिए है। कुल श्रमिक संघों की उपलब्धियाँ केवल एक संस्था के रूप में ही नहीं हैं वरन् उनका महत्व एक विशाल गतिविधि से कम नहीं है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि बड़ी संख्या में श्रमिक संघ अलग-अलग उद्देश्यों को लेकर सुसंगठित हुए हैं परन्तु कुल मिलाकर वे अत्यधिक शक्तिशाली हैं। अपने-अपने क्षेत्र में उनकी व्यक्तिगत विभिन्नताएँ तथा स्वतंत्रता सुरक्षित है। निर्देश तथा कार्य की दृष्टि से उनमें केन्द्रीकरण नहीं है। इसका एक कारण यह है कि अन्य ब्रिटिश संस्थाओं के समान, श्रमिक संघों का विकास धीरे-धीरे अनियोजित ढंग से हुआ है तथा इनके विकास में अन्य संस्थाओं के समान कठिनाइयाँ तथा समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं।

अध्याय १०

ामाजिक सुरक्षा

समाज में लोगों को कई प्रकार के जोखिमों का सामना करना पड़ता है। इन जोखिमों से वचने के लिए जो आर्थिक लाभ सम्वन्धित संस्थाओं द्वारा लोगों को प्राप्त होते हैं उसे सामाजिक सुरक्षा (social security) कहा जाता है। इस प्रणाली का विकास हाल में ही हुआ है। ब्रिटेन में सामाजिक सुरक्षा से सम्बन्धित विस्तृत सेवाएँ उपलब्ध हैं जिनमें आवश्यकताग्रस्त व्यक्तियों के लिए निर्वाह भत्ता, सव के लिए शिक्षा, स्वास्थ सेवाएँ, आवस या वेरोजगारी भत्ता, वृद्ध तथा अक्षम (handicapped) लोगों की देखरेख की व्यवस्था, माताओं और वच्चों के लिए पौष्टिक आहार व्यवस्था, बीमारी, प्रसूति, तथा उद्योगजनित क्षति (industrial injury) की पूर्ति, विधवाओं तथा अवकाश प्राप्त लोगों के लिए पेंशन, और परिवार भत्ता (family allowance) सम्मिलित है। ब्रिटेन में सामाजिक सेवाओं पर सरकार द्वारा ३,९४,४०,००,००० पौंड प्रति वर्ष खर्च किया जाता है जो व्यय प्रति व्यक्ति के हिसाब से प्रति वर्ष ७५ पौंड आता है।

ये सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आरम्भ की गई थीं तथा उनका विकास वड़ी तेजी से हुआ है। वर्षों पहले अधूरी तथा असंगत सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ समय समय पर लागू की जाती थीं। इन योजनाओं का प्रभाव वर्तमान सामाजिक सुरक्षा प्रणाली पर पड़ा है यद्यपि उनका कोई विशेष महत्व अव नहीं है।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटेन में निर्धन लोगों की सहायता के लिए सार्वजनिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। १६०१ का पुअर ला ऐक्ट इस सिद्धान्त पर आधारित था। इस अधिनियम के अन्तर्गत पैरिश (प्रशासन की सवसे छोटी इकाई) के लिए अनिवार्य था कि वह स्थानीय करों के द्वारा बीमार, आवश्यकताग्रस्त और बेघर लोगों की सहायता करे। १९०० तक 'पुअर ला' का विरोध सार्वजनिक रूप से किया जाने लगा। सामाजिक उत्तरदायित्व तथा सामाजिक सुरक्षा के नए और कारगर तरीकों का उपयोग वढ़ा। केन्द्रीय सरकार ने अपने साधनों से वृद्ध निर्धनों के लिए छोटी पेंशन की व्यवस्था की। ये पेंशन १९०८ के ओल्ड एज पेंशेनस ऐक्ट के अन्तर्गत दी जाती थी और 'पुअर ला' में निहित आवश्यकता के

सिद्धान्त पर आधारित थी। १९११ में नेशनल इंश्यौरेंस ऐक्ट पास किया गया जिसके अनुसार कुछ उद्योगों में बेरोजगारी के लिए अनिवार्य बीमे की व्यवस्था थी। इसमें कम आय वाले मजदूरों के बीमारी और चिकित्सा के लिए भुगतान की भी व्यवस्था थी।

आगे चल कर, 'पुअर ला' के क्षेत्र में विविधता तथा विस्तार हुआ और इस अधिनियम के क्षेत्र के बाहर भी अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की गई। १९३९ में ब्रिटेन में सामाजिक बीमा तथा समवर्गी (allied) सेवाओं के अन्तर्गत बूढ़ों और अंधों, वृद्धावस्था, विधवाओं और अनाथ बच्चों की आवश्यकता के अनुरूप पेंशन दी जाने लगी। यह पेंशन शारीरिक श्रम करने वालों के लिए एक बीमा योजना के अनुसार 'अधिकार' के रूप में मिलती थी। एक निश्चित आय से कम वाले शारीरिक श्रम न करने वाले श्रमिकों को भी उपर्युक्त योजना के अनुसार पेंशन का अधिकार था। यह पेंशन श्रमिक की आवश्यकता के अनुसार ऐसे श्रमिकों को दी जाती थी जिनकी बेरोजगारी भत्ता की सीमित अवधि समाप्त हो गयी थी। यह पेंशन इस कार्य के लिए विशेष रूप से निर्मित एम्प्लायमेंट एसिस्टेंस बोर्ड के द्वारा दी जाती थी। महायुद्ध के आरम्भ के वाद इस संस्था को असिस्टेंस बोर्ड के नाम से पुकारा जाने लगा। असिस्टेंस बोर्ड ऐसे लोगों को पूरक पेंशन देता था जिनको वृद्धावस्था तथा विधवाओं की पेंशन तो मिलती थी परन्तु जो उनके लिए अपर्याप्त थी। कार्य करते समय शारीरिक क्षति की पूर्ति के लिए अलग योजना थी। १८९७ के वर्कमेन्स कम्पेंसेशन ऐक्ट के अनुसार आकस्मिक शारीरिक क्षति की पूर्ति हेतु भुगतान मिलता था। इस योजना का सम्पूर्ण आर्थिक भार मालिकों को उठाना पड़ता था।

ब्रिटेन में प्रचलित सामाजिक बीमा योजना में निम्नांकित दोष थे : पहला, प्रत्येक योजना एक भिन्न प्राधिकारी के द्वारा प्रशासित होती थी और उनमें कोई तालमेल अथवा समन्वयन नहीं था। दूसरा, श्रमिकों को आय की हानि को पूरा करने के लिए आर्थिक लाभ प्राप्त होता था। परन्तु विभिन्न कारणों के अनुसार एकसम भत्ता नहीं दिया जाता था यद्यपि इन सब का उद्देश्य किसी न किसी कारण आय की हानि को पूरा करना था। कुछ योजनाओं में अतिरिक्त भत्ता आश्रितों को दिया जाता था जैसे बेरोजगारी वीमा में परन्तु अन्य स्थितियों में कोई इस प्रकार की क्षति पूर्ति नहीं की जाती थी। तीसरा, सभी श्रमिक बीमा योजनाओं के अन्तर्गत नहीं आए थे। चौथा, किसी भी वर्ग के श्रमिकों के लिए अभी अनेक प्रकार के अन्य सामाजिक दोषों से कोई संरक्षण नहीं प्राप्त था।

बेवरिज योजना

अभी तक जितनी सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ लागू की गई वे सब असम्बद्ध और छुटपुट थीं। १९४१ में विचारणीय स्थिति पैदा हो गयी जिससे ब्रिटिश सरकार

को युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन के सुनियोजित पुनर्निमाण की योजना बनाने के लिए लार्ड बेवरिज की अध्यक्षता में एक समिति गठित करनी पड़ी। इस समिति का उद्देश्य वर्तमान सामाजिक बीमा योजनाओं और सम्बद्ध सेवाओं का सर्वेक्षण करना तथा यथासम्भव सिफारिशें करना था। यह एक-सदस्यीय समिति थी जिसमें अनेक राज्य कर्मचारी सहायक मात्र थे। इस समिति की सिफारिशें १९४२ में प्रकाशित हुई। इस समिति का प्रतिवेदन बेवरिज प्रतिवेदन के नाम से लोकप्रिय हुआ।

सिद्धान्त. बेवरिज योजना एक विशाल पुनर्निर्माण और सामाजिक बीमा सेवाओं के एकीकरण की योजना थी। इसका उद्देश्य बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था या वैधव्य अवस्था में देश के सभी बाल-वृद्ध स्त्री पुरुष श्रमिकों को यथेष्ट सहायता उपलब्ध करना था। इसके अन्तर्गत विवाह, प्रसूति, और मृत्यु के अवसरों पर यथोचित सहायता करना भी था। यह एक सुगठित राष्ट्रीय योजना थी जिसका उद्देश्य विभिन्न कारणों से उत्पन्न जोखिमों का सामना करने के लिए स्थिर आय सुलभ करना था। यह योजना तीन मान्यताओं पर आश्रित थी—(क) पारिवारिक भत्तों द्वारा बढ़ते परिवार-जन्य-गरीबी के विरुद्ध सहायता; (ख) व्यापक बेकारी को सरकारी कार्यवाही से घटाना; (ग) समाज के सभी सदस्यों को स्वास्थ्य और पुनर्वास सेवाओं को सुलभ करना। प्रतिवेदन में यह सिफारिश की गई कि लाभों और सुविधाओं के वितरण के लिए एक ही प्राधिकारी अर्थात सामाजिक सुरक्षा मंत्रालय हो।

आवश्यकता. लार्ड बेवरिज ने सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता के कारणों और उनके निराकरण का स्पष्ट उल्लेख किया। इसके अन्तर्गत बेकारी, अशक्तता, प्रशिक्षण के अभाव में नौकरी न मिलना, अवकाश ग्रहण, विवाह, विधवाओं के बच्चों के लिए संरक्षण, अन्त्येष्टि क्रिया विषयक खर्च, बीमारियां आदि के लिए उपयुक्त भत्तों और सेवाओं की व्यवस्था थी।

क्षेत्र. बीमा सुविधाओं के वितरण की दृष्टि से जनसंख्या ६ मुख्य वर्गों में विभाजित की गई—(क) वेतन मजदूरी पाने वाले श्रमिक, (ख) दूसरे लाभप्रद व्यवसायों में लगे लोग जिनमें व्यवसायी और सभी प्रकार के स्वतंत्र कर्मचारी सम्मिलित थे; (ग) गृहणियां, (घ) काम करने योग्य आयु के लोग जो लाभप्रद धंधों में नहीं लगे थे, (च) काम करन योग्य आयु से नीचे के लोग जैसे बच्चे, (छ) काम करने योग्य आयु से ऊपर के अवकाश प्राप्त लोग। इनमें से पहले चार वर्गों के बीमा का उद्देश्य उनकी परिस्थितियों के अनुरूप संरक्षण प्रदान करना था। पांचवीं श्रेणी में बच्चों को भत्ते और छठी श्रेणी के अन्तर्गत अवकाश प्राप्त लोगों के लिए पेंशन की व्यवस्था थी।

वर्ग (क) में बेकारी, अशक्तता, अवकाश प्राप्त होने पर पेंशन, चिकित्सा और अन्त्येष्टि क्रिया विषयक लाभ और सेवाएँ मिलती थीं। वर्ग (ख) में बेकारी और अशक्तता को छोड़ शेष लाभ प्राप्त थे। वर्ग (ग) में प्रसूति अनुदान, वैधव्य और पति-पत्नी का अलगाव और अवकाश ग्रहण सम्बन्धी सुविधाएँ मिलती थीं। ये आर्थिक हित और सुविधाएँ पतियों के अंशदान (contribution) के फलस्वरूप प्राप्त होती थीं। वर्ग (घ) को बेकारी और अशक्तता को छोड़कर सभी भत्तों और लाभ की सिफारिश थी। बेरोजगारी लाभ के स्थान पर प्रशिक्षा लाभ (घ) वर्ग के लोगों को छोड़कर सभी को देने की सिफारिश की गई जिससे वे नए तरीके से जीविकोपार्जन कर सकें। वर्ग (च) के लोगों को बाल भत्ता दिये जाने और वर्ग (छ) को अवकाश प्राप्त पेंशन की सिफारिश की गयी।

सामाजिक बीमा योजना के साथ ही, लार्ड बेवरिज ने एक राष्ट्रीय सहायता योजना ऐसे लोगों के लिए आरम्भ करने की सिफारिश की जो या तो बीमा की शर्तों को नहीं पूरा कर पाते थे और या वे किसी कारणवश अपना अंशदान नहीं दे पाते थे और उनकी आय अत्यधिक कम होने के कारण उनको बीमा योजना से छूट भी मिली थी।

प्रशासन. प्रतिवेदन में सिफारिश की गई थी कि सामाजिक सुरक्षा मंत्रालय की स्थापना की जाय जो सामाजिक बीमा तथा सहायता सम्बन्धित समस्त योजनाओं को चलाए। राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना को कार्यान्वित करने के दायित्व की सिफारिश स्वास्थ्य मंत्रालय के लिए की गयी थी। यह मंत्रालय एक संयुक्त समिति द्वारा सामाजिक संरक्षण मंत्रालय से सहयोग करता। सामाजिक संरक्षण मंत्रालय नित्यप्रति के प्रशासन के लिए समस्त देश में स्थानीय कार्यालय स्थापित करता।

वित्तीय व्यवस्था. सामाजिक बीमा सम्बन्धी बेवरिज योजना त्रिपक्षीय अंशदानों पर आश्रित थी। ये तीन पक्ष क्रमशः राज्य, मालिक और मजदूर थे। बच्चों को दिए जाने वाले भत्ते और राष्ट्रीय सहायता का पूरा भार राज्य को उठाना था। स्वास्थ्य सुविधाओं का व्यय भी राज्य को अपने कोष से उठाना था।

बेवरिज प्रतिवेदन का कार्यान्वयन

युद्धोत्तर काल में लार्ड बेवरिज की तीन मान्यताओं की पूर्ति नीचे लिखी कार्यवाही द्वारा हुई : (क) १९४६ की पारिवारिक भत्ता सम्बन्धी योजना, (ख) १९४६ के बाद पूर्ण रोजगार देने की जिम्मेदारी की सरकार द्वारा स्वीकृति, (ग) १९४८ में राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का गठन। सरकार ने बेवरिज प्रतिवेदन की विभिन्न सिफारिशों

स्वीकार कर लिया, जिसके फलस्वरूप १९४६-४८ में विभिन्न कानून बने। सरकार स्वीकृत प्रायः सभी प्रस्तावों को मुख्यतः नीचे लिखे वर्गों में बांटा जा सकता है :

(क) पारिवारिक भत्ता योजना,
(ख) राष्ट्रीय बीमा योजना,
(ग) उद्योगजनित क्षति योजना,
(घ) युद्ध सेवा पेंशन योजना,
(च) राष्ट्रीय सहायता योजना,
(छ) कल्याण सेवा योजना,
(ज) राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा।

पारिवारिक भत्ता, राष्ट्रीय बीमा और उद्योगजनित क्षति योजनाओं के प्रशासन के लिए पृथक् राष्ट्रीय बीमा मंत्रालय की रचना की गयी। इनका समावेश बेवरिज प्रतिवेदन की सिफारिश के अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा मंत्रालय में नहीं था।

पारिवारिक भत्ता योजना. ग्रेट ब्रिटेन में पारिवारिक भत्ता १९४५ के पारिवारिक भत्ता कानून के अन्तर्गत मिलता था जिसमें बाद में संशोधन किए गए। यह कानून १९४६ में कार्यान्वित हुआ। इस योजना का उद्देश्य उन परिवारों की आय वृद्धि करना था जिनमें एक से अधिक आश्रित बच्चे थे जिससे कि यह परिवार लघु परिवारों और अविवाहितों की तुलना में अधिक प्रतिकूल असुविधाजनक स्थितियों में न पड़ें। अतएव, सरकार ने पारिवारिक आय के स्थान पर केवल बच्चों की संख्या पर ध्यान दिया। इसके अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति को पारिवारिक भत्तों के रूप में मिलने वाली राशि का हिसाब आयकर हिसाब में बताना आवश्यक था जिससे कि आयकर के लिए समूची आय का व्योरा मिल सके। ये भत्ते सामान्य कर कोष से चुकाए जाते थे और इनका राष्ट्रीय बीमा अंशदानों से कोई सम्बंन्ध नहीं था, जो कि अलग से एकत्रित किए जाते थे।

परिवार में पहले बच्चे पर कोई भत्ता नहीं दिया जाता। परिवार में दूसरे बच्चे पर ८ शिलिंग प्रति सप्ताह तथा तीसरे और इसके बाद के बच्चों को प्रति १० शिलिंग के हिसाब से भत्ता दिया जाता था। यद्यपि बच्चों की संख्या के अनुसार भत्ता मिलता था पर यह किसी विशेष बच्चे के लिए नहीं था बल्कि पूरे परिवार की सहायता के लिए था।

पारिवारिक भत्ते के लिए लड़के या लड़की का पंद्रह वर्ष से कम अवस्था का होना आवश्यक था और इस अवस्था और अट्ठारहवीं वर्षगांठ तक उसका किसी

नियमित स्कूल में शिक्षा पाते रहना आवश्यक था। जो बच्चे न तो शाला में पढ़ते थे और न शारीरिक या मानसिक बीमारियों के कारण काम करने योग्य थे उनको भत्ता देने के विशेज नियम थे। वे सोलह वर्ष की अवस्था तक भत्ता पाने के अधिकारी थे। सोलह वर्ष की अवस्था के बाद उन्हें राष्ट्रीय सहायता की दृष्टि से स्वावलम्बी समझा जाता था। उनके लिए निश्चित दरों पर राष्ट्रीय सहायता प्राप्त की जा सकती थी जो पारिवारिक भत्ते से अधिक थी।

राष्ट्रीय बीमा योजना. १९४६ में राष्ट्रीय बीमा अधिनियम बना। अतः यह ५ जुलाई, १९४८ से लागू हुआ। यह योजना राष्ट्रीय मानी जाती है क्योंकि इससे प्रत्येक व्यक्ति जो काम करने योग्य अवस्था का है अर्थात जो १५ वर्ष से लेकर ६५ वर्ष का (महिलाओं के लिए ६० वर्ष) है उसे अपनी आय या स्थिति के बावजूद इस योजना से लाभान्वित होने का अधिकार है। इसे बीमा माना जाता है क्योंकि इसके लिए अनिवार्यतः अंशदान करना पड़ता है जिससे एक राष्ट्रीय कोष निर्मित होता है और इस कोष से आवश्यकतानुसार सहायता वितरित की जाती है। इस कोष में मालिक, मजदूर और राज्य अंशदान करते हैं।

अंशदान. बीमा हेतु जनसंख्या तीन वर्गों में विभाजित है : नौकरी में लगे कर्मचारी, स्वतंत्र रूप से धंधे में लगे लोग और बेकार लोग। नौकरी में लगे कर्मचारी वे हैं जिन्हें किसी मालिक से नियमित वेतन या मजदूरी या काम सीखने का भत्ता और मजदूरी मिलती है। स्वतंत्र धंधे में लगे लोग वे हैं जो या तो अपना निजी धंधा करते हैं और या वे लाभदायक काम में लगे हैं पर किसी विषयक संविदा से बंधे हुए नहीं हैं। बेकार लोग वे हैं जो किसी भी रूप में काम नहीं कर रहे हैं और जो पहले दो वर्गों के अन्तर्गत नहीं आते।

अंशदान चुकाने का आधार किसी भी वर्ग को प्राप्त होने वाले लाभ या अंशदाता का पारिश्रमिक था। रोजगार में लगे लोगों के लिए निश्चित नियत अंशदान देने पर कोई भी व्यक्ति योजना के किसी भी आर्थिक लाभों का अधिकारी हो सकता था। स्वतंत्र व्यवसाय करने वालों के लिए नियत अंशदान चुकाने वालों को बेरोजगारी लाभ को छोड़कर सभी प्रकार के लाभ का अधिकार था। बेरोजगार लोगों के दर से अंशदान चुकाने पर बेरोजगारी, बीमारी और मातृत्वकालीन लाभ को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के लाभ प्राप्त थे।

स्वतंत्र व्यवसाय करने वाले और बेरोजगार लोगों के लिए अंशदान एक समान दर (single flat rate) के अनुसार नियत किया जाता था। रोजगार

में लगे लोगों को अंशदान की दृष्टि से दो मुख्य समूहों में बांटा गया था—(१) ऐसे लोग जो आय के हिसाव से पेंशन (graduated pension) योजना के सदस्य थे और (२) ऐसे लोग जिनकी ओर से मालिक अनुमोदित व्यावसायिक पेंशन योजना की सदस्यता का संविदा करते थे।[1] पहली श्रेणी में कर्मचारी समान दर पेंशन और आर्थिक लाभों के लिए समानदर अंशदान के अतिरिक्त आय के अनुपात से चन्दा देते हैं। दूसरी श्रेणी में, कर्मचारी आय के अनुपात के अनुसार अंशदान देने वाली पेंशन योजना की अपेक्षा ऊँचे दर का समानदर चंदा देते हैं। कर्मचारियों के समानदर अंशदान का एक भाग मालिकों को दिया जाता है। स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग दरें हैं। पुरुषों का अंशदान कुछ ऊँचा है क्योंकि आश्रित पत्नियों और विधवाओं के पेंशन की भी व्यवस्था है। अट्ठारह वर्ष से कम बालक बालिकाओं के लिए अंशदान दरें कम हैं। आय के अनुसार अंशदान की दरें स्त्रियों और पुरुषों के लिए समान हैं और इस योजना में अट्ठारह वर्ष से कम बालक बालिकाओं को सम्मिलित नहीं किया जाता।

आय के अनुपात में पेंशन योजना के अंतर्गत आय के अनुपात में चंदा देना पड़ता है और इसकी पुनः प्राप्ति आय-कर प्राप्त करने वाली संस्था द्वारा होता है। स्वसेवा-युक्त (self-employed) और बिना रोजगार वाले लोगों के लिए राष्ट्रीय बीमा अंशदानों का एक-तिहाई और सेवायुक्त (employed) लोगों और मालिकों के लिए एक-चौथाई भाग राज्य की ओर से मिलता है। आय के अनुपात से बीमा योजना में सरकार कोई अंशदान नहीं देती। उद्योगजनित क्षति सम्बन्धित अंशदान के लिए सरकार $\frac{1}{6}$ भाग देती है।

समानदर अंशदान का साप्ताहिक भुगतान विशेष डाकघरों में उपलब्ध टिकटों द्वारा किया जाता है। पेंशन और राष्ट्रीय बीमा मंत्रालय द्वारा चलाए गए कार्डों पर अंशदान के बराबर टिकट श्रमिक चिपका देता है। राष्ट्रीय बीमा कार्ड एक वर्ष के लिए होते हैं और वर्ष के अंत में ये कार्ड मंत्रालय में जमा कर दिए जाते हैं।

विवाहित महिलाएँ कुछ सीमा तक अपने पतियों के अंशदान के फलस्वरूप इस योजना में सम्मिलित हैं अतएव उन्हें समानदर पर चंदा देने या न देने की छूट है। यदि वे चंदा देती हैं तो इसके फलस्वरूप उन्हें कर्मचारियों के रूप में अधिक

---

[1] १९६१ तक अंशदान दर के रूप में तथा सुविधाओं के लिए एक मान्य राशि निश्चित थी जिसमें लिंग भेद तथा बीमा वर्ग के अनुसार दर में विभिन्नता थी। अप्रैल १९६१ से इस योजना में सुधार किए गए और आय के अनुसार अंशदान दर तथा सुविधाओं की योजना चालू की गयी।

आर्थिक लाभ प्राप्त होंगे। उदाहरणार्थ, यदि कोई महिला कर्मचारी अंशदान करती है जिससे कि उसे बेकारी भत्ता मिले तो बेकार होने पर उन्हें बेकारी भत्ता मिलेगा। पर उद्योगजनित क्षति और आय के अनुपात में अंशदान के विषय में उन्हें कोई सुविधा नहीं है।

आर्थिक लाभ. आय के अनुपात के अनुसार मिलने वाले अवकाश प्राप्त भत्ते को छोड़ अन्य स्थितियों में प्रमाणिक दर पर भत्ते दिए जाते हैं। अधिकतर पुरुषों और महिलाओं के लिए लाभों की प्रमाणिक दर २ पौंड १७ शि० ६ पे० प्रति सप्ताह है। दम्पत्ति के लिए ४ पौंड १२ शि० ६ पें० की दर है। बीमारी और बेकारी लाभों के लिए विवाहित महिला को सामान्यत: १ पौंड १६ शिलिंग प्रति सप्ताह मिलता है। जो विवाहित महिला अपने पति के अंशदान पर आश्रित है उसे अवकाश प्राप्त भत्ते के रूप में १ पौंड १५ शि० प्रति सप्ताह मिलता है। इस प्रमाणिक दर के कुछ विकल्प भी हैं।

अधिकांश लाभों की प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अंशदान सम्बन्धी कुछ शर्तों को पूरा करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि वह बेकारी लाभ प्राप्त करना चाहता है तो उसे निश्चित दर पर न्यूनतम अंशदान चुकाए रहना चाहिए। सामान्यत: एक व्यक्ति को बीमा योजना का सदस्य बनने के बाद निश्चित काल में निश्चित अंशदान चुका देना चाहिए। यदि उसने इस दूसरी शर्त की केवल आंशिक रूप में पूर्ति की तो उसे प्रमाणिक दर से कम लाभ मिलेगा। उन महिलाओं के लिए जो विधवा हो गई या जो तलाक की गई हैं उन्हें अपेक्षित अंशदान भुगतान न करने पर भी विशेष नियमों के अन्तर्गत सहायता मिलती है।

बीमा योजना के अन्तर्गत मिलने वाले लाभों का व्यौरा निम्नांकित है:

बीमारी लाभ उस अवस्था में प्राप्त हो सकते हैं जब कि कर्मचारी ने कम से कम २६ अंशदान पिछले १२ महीनों में दिये हों। प्रारम्भिक तीन दिन की बीमारी में कोई भत्ता नहीं दिया जाता। यदि बीमारी १५ दिन चले तो पहले तीन दिन का भत्ता भी मिलता है। बीमारी भत्ता कुल ३१२ दिन के लिए (वर्ष में रविवारों को छोड़ कर) दिया जा सकता है परन्तु यदि कम से कम १५६ अंशदान दिये जा चुके हैं तो बीमारी भत्ता बीमारी के समस्त काल के लिए पेंशन आयु तक प्राप्त हो सकता है। सामान्यत: बीमारी भत्ता पुरुषों को ६५ वर्ष की आयु के बाद और स्त्रियों को ६० वर्ष की आयु के बाद नहीं दिया जा सकता। परन्तु ६५ से ७० वर्ष आयु के पुरुषों और ६० से ६५ वर्ष आयु की स्त्रियों को यदि उन्हें अपने बीमा के फलस्वरूप पेंशन मिलती है तो उन्हें बीमारी काल के लिए बीमारी सहायता भी मिलती है। ऐसे लोगों

के लिए बीमारी भत्ते की वही दर है जितनी कि ६५ वर्ष आयु पर अवकाश प्राप्त करने पर पुरुषों को और ६० वर्ष आयु पर अवकाश प्राप्त करने पर स्त्रियों को पेंशन प्राप्त होती। यह व्यवस्था उन लोगों के लिए भी प्रचलित है जो अवकाश प्राप्त पेंशन के अधिकारी हैं परन्तु वे पुनः काम पर लौट आए हैं और पेंशन को निरस्त करा दिया है जिससे बाद में उन्हें अधिक पेंशन मिल सके।

बेरोजगारी लाभ. यह दो या दो से अधिक दिनों की बेरोजगारी पर मिलता है। यदि कारखानों या कार्यस्थल पर व्यावसायिक झगड़े के कारण काम बन्द कर दिया गया है तो यह लाभ नहीं दिया जाता। यह उसी अवस्था में दिया जाता है जब कि वह एक रोजगार में लगे व्यक्ति की भांति काम के लिए उपलब्ध रहता है, और कम से कम पिछले एक वर्ष में २६ अंशदान चुकाए रहता है। इस प्रकार का लाभ १८० काम के दिनों के लिए दिया जाता है जिसमें इतवार के दिन सम्मिलित नहीं हैं। श्रमिक के अंशदान चुकाने और लाभ प्राप्त करने के रेकार्ड को ध्यान में रखते हुए यह लाभ अधिक से अधिक ४९२ दिनों के लिए दिया जा सकता है। इस कार्य के लिए उतना ही लाभ दिया जा सकता है जितना बीमारी का लाभ दिया जाता है।

प्रसूति लाभ. इसमें प्रसूति अनुदान (maternity grant), सूतिकागार निवास अनुदान (confinement grant) और प्रसूति भत्ता सम्मिलित है। माता या उसके पति द्वारा बीमा की सभी शर्तें पूरी उतरने पर प्रसूति अनुदान दिया जाता है। एक ही वार में एक से अधिक बच्चा होने पर प्रत्येक १२ घंटे बाद तक जीवित रहने वाले बच्चे के लिए उतना ही अतिरिक्त अनुदान दिया जाता है। बच्चा घर पर या किसी अन्य स्थान पर पैदा होने पर सूतिकागार निवास अनुदान उस स्थिति में दिया जाता है जब कि सरकारी अस्पताल सहायता उपलब्ध न हो। ऐसी स्त्रियों को जो स्वतंत्र व्यवसाय करने वाले लोगों के साथ काम करती हैं और वे स्वयं बीमा का अंशदान चुकाती हैं उन्हें एक प्रमाणिक भत्ता मिलता है। यह बच्चा पैदा होने के सप्ताह के पिछले ग्यारह सप्ताह के लिए और बाद के छः सप्ताह के लिए दिया जाता है।

अवकाश प्राप्त पेंशन. यह ६५ वर्ष से अधिक आयु के ऐसे पुरुषों और ६० वर्ष से अधिक आयु की ऐसी स्त्रियों को दी जाती है जिन्होंने नियमित सेवा से अवकाश ग्रहण कर लिया है। अवकाश प्राप्त पेंशन के लिए अधिकारी होने के लिए यह आवश्यक है कि किसी भी वर्ग में कम से कम १५६ अंशदान और किसी निर्दिष्ट अवधि में कम से कम ५० अंशदान दिए गए हों। प्रत्येक स्त्री और पुरुष के लिए जिसने पेंशन की शर्तें पूरी की हैं एक समानदर पेंशन नियत है। ऐसी स्त्रियों के लिए जो

अपने पति द्वारा पेंशन की शर्तें पूरी करने पर पेंशन प्राप्त करती हैं उनके लिए पेंशन की दर कम है। ऐसे लोगों को भी कम दर की पेंशन दी जाती है जो निर्दिष्ट काल में अंशदान की औसत संख्या पूरी नहीं कर पाते।

आय के अनुसार पेंशन योजना. यह उन व्यक्तियों पर लागू होती है जो अवकाश प्राप्त पेंशन के लिए अधिक अंशदान देते हैं। इस योजना में अधिक आय वाले व्यक्ति अपनी आय के अनुपात में पेंशन के लिए अंशदान देते हैं। वे जितना अधिक अंशदान देते हैं उन्हें उतनी ही अधिक पेंशन मिलती है। यह योजना केवल नौकरी करने वाले व्यक्तियों के लिए ही है। जो व्यक्ति निजी धंधों में लगे हैं या बेकार हैं उन पर यह योजना नहीं लगाई गई है।

अन्त्येष्टि क्रिया के लिए अनुदान. यह अनुदान बीमायुक्त व्यक्ति या उसकी पत्नी या पति या बच्चे की अन्त्येष्टि क्रिया के लिए मिलती है जब कि बीमायुक्त व्यक्ति ने निश्चित अवधि में कम से कम २६ अंशदान दिए हैं। यह अनुदान उन व्यक्तियों को नहीं दिया जाता जो पेंशन की आयु को पार कर चुके हैं।

आश्रितों के लिए आर्थिक सुविधा योजना. यह योजना राष्ट्रीय बीमा योजना के अन्तर्गत है। इसमें परिवार के सामान्य सदस्यों के अतिरिक्त परिवार में रहने वाले अन्य सम्बन्धियों और आश्रितों को भी लाभ की व्यवस्था है। इसके लिए उन्हें अतिरिक्त चन्दा देना पड़ता है।

विधवाओं और उनके बच्चों के लिये आर्थिक सुविधा. इसमें विधवा भत्ता, विधवा माता का भत्ता, और विधवा की पेंशन सम्मिलित है। यह पति की मृत्यु पर प्रमाणिक दर पर १३ सप्ताह तक मिलती है। प्रति बच्चे पर अतिरिक्त सुविधा मिलती है। विधवा माता का भत्ता विधवा भत्ता समाप्ति पर मिलता है। यह तब तक मिलता है जब तक कि विधवा पारिवारिक भत्ते की आयु के अन्दर बच्चे को सुविधा मिलती है। उस बच्चे को पति की मृत्यु के समय उनका लड़का होना चाहिए। स्वर्गीय पति से उत्पन्न होने वाले बच्चे की मां को विशेष भत्ते की व्यवस्था है। उस लड़के या लड़की को भी भत्ते की व्यवस्था है जो विधवा के साथ रह रहे हैं और जिनकी अवस्था १८ वर्ष से कम है। ऐसी माता को विधवा माता का व्यक्तिगत भत्ता मिलता है। विधवा को पेंशन पति की मृत्यु के १३ सप्ताह के बाद प्रमाणिक दर पर मिलती है, यदि विधवा की अवस्था ५० वर्ष से अधिक हो और पति की मृत्यु के पूर्व ३ वर्ष तक विवाहित हो। इस प्रकार के लाभ को प्राप्त करने के लिए कुछ अन्य शर्तें भी हैं।

अनाथ बच्चों के लिए आर्थिक लाभ. इस व्यवस्था से वे बच्चे लाभान्वित होते हैं जिनके माता पिता की मृत्यु हो चुकी है और उनमें से कोई एक राष्ट्रीय बीमा

अधिनियम के अन्तर्गत बीमा युक्त है। इसे संरक्षक भत्ता कहते हैं। यह उस संरक्षक को मिलता है जिसके परिवार में बच्चा सम्मिलित रहता है। उसे विधवा भत्तों या बीमारी भत्तों की अपेक्षा कुछ अधिक दर पर लाभ मिलता है। विशेष निराश्रित बच्चों के लिए विशेष बाल भत्ते की भी व्यवस्था है।

उद्योगजनित क्षति लाभ राष्ट्रीय बीमा योजना. यह योजना ५ जुलाई १९४८ से लागू हुई। यह १८९७ के कामगार क्षतिपूर्ति अधिनियम के स्थान में लागू की गयी। इसमें नौकरी के अन्तर्गत क्षति या निर्धारित रोगों की अवस्था में सुविधा प्राप्त होती है। अन्य बीमा योजनाओं की तरह यह भी आंशिक रूप में अंशदान और करों से संचालित होती है। १९४६ के बाद राष्ट्रीय बीमा (उद्योगजनित क्षतियाँ) सम्बन्धी उपनियम बनते रहे हैं। इनमें सबसे प्रमुख तथा आधुनिक १९६० के उपनियम हैं।

इस योजना के अन्तर्गत तीन प्रकार के भुगतान होते हैं: (क) क्षतिजनित लाभ; (ख) अशक्तता लाभ, (ग) मृत्युजनित लाभ। ये सभी भुगतान वाउचरों के द्वारा होते हैं, जिन्हें डाक घर में भुनाया जा सकता है।

क्षतिजनित लाभ क्षति पहुंचने या उद्योगजनित (निर्धारित) बीमारी अवस्था में अधिक से अधिक २६ सप्ताह तक मिल सकते हैं। राष्ट्रीय बीमारी बीमा लाभ के समान इसका भुगतान उस व्यक्ति को होता है जो काम करने और ड्यूटी पर जाने योग्य नहीं है। इसकी दर बीमारी लाभ की दर से कुछ अधिक होती है। इसकी दर आश्रित की बढ़ती संख्या के अनुसार बढ़ती है और यदि १८ वर्ष से कम के लड़के लड़कियों को भत्ता मिल रहा होता है तो घटती है।

अशक्तता जनित (disablement) लाभ ऐसे व्यक्ति को मिलता है जिसकी उपार्जन शक्ति समाप्त हो जाने से उसकी निर्धनता को दूर करने के लिए दिया जाता है। डाक्टरों के बोर्ड द्वारा निर्धारित क्षति के आधार पर इस योजना के अन्तर्गत राशि दी जाती है।

मृत्युजनित लाभ विधवाओं, अनाथों और अन्य आश्रितों को दिया जाता है। विधवाओं को पति की मृत्यु के १३ सप्ताह बाद तक पेंशन मिलती है। कुछ और भी परिस्थितियों में विधवा को अन्य लाभ प्राप्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त पारिवारिक भत्ता की योजना के अन्तर्गत बच्चों को भी भत्ते मिलते हैं। विधवाओं और अन्य हिताधिकारियों (beneficiaries) के लिए भत्तों की अलग अलग दरें हैं। कुछ अन्य आश्रित जैसे माता, पिता और सम्बन्धियों को भी पेंशनों, भत्तों और उपदानों की व्यवस्था है। इन राशियों का निर्धारण मृत व्यक्ति से सम्बन्धों और आश्रय की सीमा के आधार पर होता है।

युद्ध सेवा पेंशन और अन्य सेवा योजना. जो व्यक्ति युद्ध में अशक्त हो गए हैं या जिनके सम्बन्धियों की मृत्यु हो गयी है उन्हें राजादेश के अनुसार राष्ट्रीय बीमा मंत्रालय से पेंशन मिलती है।

सैनिक को अशक्तता की अवस्था में पूरी पेंशन मिलती है पर इसकी राशि पद और अशक्तता की सीमा के आधार पर निश्चित होती है। अशक्तता का निर्धारण उसी लिंग और अवस्था के स्वस्थ्य व्यक्ति से तुलना के आधार पर होता है और इसमें जीविकोपार्जन क्षमता का ध्यान नहीं रखा जाता। पत्नी और बच्चों को परिस्थिति अनसार अतिरिक्त भत्ते मिलते हैं। मौलिक अशक्तता पेंशन और अतिरिक्त भुगतान-आयकर से मुक्त रहते हैं। पारिवारिक भत्ता अधिनियम के अन्तर्गत मिलने वाले भत्तों के लिए अतिरिक्त भत्ते भी हैं।

युद्ध में मारे गए सैनिकों की विधवाओं और अनाथों को भी पेंशन मिलती है। ऐसी विधवाओं को प्रमाणिक दर से पेंशन दी जाती है। सिपाही के पद के अनुसार अतिरिक्त राशि पेंशन में जोड़ दी जाती है। इनके बच्चों के लिए भी भत्ता दिया जाता है। कुछ परिस्थितियों में मकान के भाड़े के लिए भत्ते की भी व्यवस्था है। ७० वर्ष की आयु से अधिक विधवाओं को अतिरिक्त भत्ता दिया जाता है। युद्ध में मारे गए व्यक्तियों के आश्रित माता पिता तथा अन्य सम्बन्धियों को भी पेंशन दी जाती है।

युद्ध सम्बन्धी पेंशन पाने वाले व्यक्तियों के लिए कल्याण सेवाएं पेंशन तथा नेशनल इंश्योरेंस मंत्रालय द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। युद्ध के कारण अनाथों के लिए कल्याण सेवाओं की एक विशिष्ठ शाखा है। युद्ध सम्बन्धी पेंशन प्राप्त व्यक्तियों को युद्धजनित क्षतियों की चिकत्सा के लिए नेश्नल हेल्थ सर्विस के अस्पतालों में प्राथमिकता दी जाती है। अनेक स्वैच्छिक संस्थाएं भी अशक्त भूतपूर्व सैनिकों और उनके परिवारों के लिए आर्थिक सेवाएं तथा अन्य कल्याण योजनाएं संचालित करती हैं।

राष्ट्रीय सहायता योजना. राष्ट्रीय सहायता कानून ५ जुलाई, १९४८ से लागू हुआ। इस कानून के परिणामस्वरूप दरिद्र रक्षा अधिनियम समाप्त हो गया और एसिस्टेंस बोर्ड का नाम बदल कर नेशनल एसिस्टेंस बोर्ड कर दिया गया। इसमें आवश्यकता ग्रस्त लोगों के लिए राज्य की ओर से वित्तीय सहायता की व्यापक व्यवस्था थी क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के पास विशिष्ठ परिस्थितियों का सामना करने के लिए समुचित साधन नहीं रहता था और या ये परिस्थितियाँ समाज कल्याण के क्षेत्र से बाहर थीं। इसलिए वित्तीय सहायता के अतिरिक्त इस योजना के अन्तर्गत अन्य ऐसी समाज कल्याण सेवाएं चलाई गईं जो पहले उपलब्ध नहीं थीं। योजना के अन्तर्गत लाभ

उठाने के लिए किसी प्रकार के अंशदान की शर्त नहीं थी। कोई भी व्यक्ति जो वित्तीय कठिनाई में हो इससे लाभ उठा सकता था।

नेश्नल एसिस्टेंस ऐक्ट के विनियमों में प्रति व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आधारभूत साप्ताहिक आय के आंकड़ों का उल्लेख है। ये विनियम संसद द्वारा अनुमोदित होते हैं। ये आंकड़े राष्ट्रीय बीमा लाभों के स्तर से सम्बद्ध रहते हैं और देश की मंहगाई या सस्ती के अनुसार बढ़ते घटते रहते हैं। विभिन्न स्थितियों में अलग अलग न्यूनतम दरें निश्चित की जाती हैं।

सहायता की राशि पूर्णतया व्यक्तिगत आधार पर निर्धारित की जाती है। यदि प्रार्थी अन्य व्यक्तियों के साथ रहता है तो सहायता की राशि निर्धारित करते समय उसकी आय का ध्यान नहीं रखा जाता। जहां तक सम्भव होता है व्यक्तिगत परिस्थितियों पर विचार होता है, प्रार्थियों की विशिष्ठ आवश्यकताएं, जैसे चिकित्सा सम्बन्धी, ईंधन तथा विशेष आहार या धुलाई और सफाई के व्यय पर भी विचार होता है। कभी-कभी नये कपड़े और बिस्तर के लिये भी सहायता दी जाती है और कभी-कभी बीमारी या बेरोजगारी के भत्ते के भुगतान में देरी होने पर अस्थायी सहायता मिलती है।

समाज कल्याण सेवाओं की व्यवस्था स्थानीय कल्याण प्राधिकारी करते हैं। स्थानीय प्राधिकारी या तो स्वयं और या स्वैच्छिक संस्थाओं के द्वारा अंधों के लिए कल्याण सेवाएं व्यवस्थित करते हैं। स्थानीय प्राधिकारी बहरे, विक्षिप्त (mentally disordered) या अन्य अक्षम (handicapped) व्यक्तियों के लिए कल्याण सेवाएं व्यवस्थित करते हैं। अंधों के लिए उपलब्ध सेवाओं में घर पर निरीक्षण तथा शिक्षा सुविधा; हस्त कला तथा उभरे अक्षरों (embossed letters) के द्वारा पढ़ने लिखने का प्रशिक्षण; रेडियो, उभरे अक्षरों वाली किताबें, ग्रामाफोन के शिक्षाप्रद रिकार्ड, औजार तथा अन्य उपकरण की व्यवस्था; उनके लिए रोजगार तथा आवास की व्यवस्था; विशिष्ठ वित्तीय तथा अन्य लाभों की जानकारी बढ़ाने के लिए सलाह की व्यवस्था सम्मिलित है।

बूढ़े लोगों के कल्याण के लिए भी योजना है। स्थानीय प्राधिकारियों ने वृद्ध और अशक्त लोगों के लिए नए आवास का प्रबन्ध किया है। द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के बाद ३५ से ६० लोगों के रहने के लिए ११०० केन्द्र ग्रेट ब्रिटेन में खोले गए हैं।

ऐसी स्वैच्छिक संस्थाओं को जो बूढ़े लोगों के मनोरंजन तथा भोजन की व्यवस्था करती हैं स्थानीय प्राधिकारी वित्तीय सहायता दे सकते हैं। हाल के वर्षों में बूढ़े लोगों के लिए ७००० सामाजिक क्लब स्वैच्छिक प्रयत्नों से खोले गए हैं।

दरिद्र रक्षा कानून की समाप्ति के बाद १९४८ में चिल्ड्रेनं एक्ट लागू हुआ जिसके अनुसार स्थानीय प्राधिकारियों पर यह उत्तरदायित्व था कि वे १७ वर्ष से कम ऐसे बच्चों को जिनके माता-पिता या अन्य कोई अभिभावक नहीं थे, या जिनके माता-पिता ने उन्हें छोड़ दिया था, या जिन बच्चों के माता पिता उनकी देख भाल का खर्च नहीं वहन कर पाते थे, उनके देख रेख की समुचित व्यवस्था करें। स्थानीय प्राधिकारियों के लिए यह अनिवार्य था कि वे ऐसे बच्चों को तब तक अपनी देख-रेख में रखें जब तक कि वे स्वयं न कमाने लगें जिससे उन्हें सहायता की आवश्यकता न रह जाय।

ऐसे बच्चों को पालक माता पिता (foster parents) के साथ रख दिया जाता है जिन्हें बच्चों के ऊपर किए जाने वाले व्यय के लिए भत्ता दिया जाता है। यदि किसी बच्चे के लिए ऐसी व्यवस्था नहीं की जा सकी है तो स्थानीय प्राधिकारी के लिए अनिवार्य है वे कि ऐसे छोटे घरों की व्यवस्था करें जहां लगभग १२ बच्चे एक दम्पयी या परिवार संरक्षण में रह सकें। उनके लिए एक प्रकार से छात्रावास की व्यवस्था करनी पड़ती है। अन्य प्रकार की ऐच्छिक संस्थाएं भी हैं जिन्होंने बाल परिचर्या के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस प्रकार की अनेक संस्थाएं हैं जिन्हें स्थानीय प्राधिकारी द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होती है।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा. राज्य के द्वारा स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध करने का सिद्धान्त पिछले सौ वर्षों में विकसित हुआ। परन्तु इस दिशा में विकास की नवीनतम उपलब्धि १९४८ के नेश्नल हेल्थ सर्विस से आरम्भ हुई। नेश्नल हेल्थ सर्विस की स्थापना सम्बन्धित कानून ग्रेट ब्रिटेन में १९४६ में पारित हुआ परन्तु यह ५ जुलाई, १९४८ से लागू हुआ। इसका उद्देश्य इंगलैंड और वेल्स में एक ऐसी व्यापक स्वास्थ्य सेवा की स्थापना करना है जो वहां के लोगों के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य में सुधार लाए; बीमारी की रोकथाम, निदान (diagnosis) और चिकित्सा की समुचित व्यवस्था करें। इस सेवा को प्रभावकारी बनाने के लिए १९४९ में नेश्नल हेल्थ सर्विस (अमेंडमेंट) एक्ट, १९५१ में नेश्नल हेल्थ सर्विसेज ऐक्ट और १९६१ तक इस प्रकार के अनेक अधिनियम पारित किए गये जिनमें कुछ सेवाओं के लिए शुल्क देना अनिवार्य कर दिया गया।

स्वास्थ्य मंत्रालय निम्नलिखित सुविधायें प्रदान करती है : (१) राष्ट्रीय आधार पर हर प्रकार की चिकित्सालय सुविधा तथा विशिष्ठ सेवाएं (जिनमें मानसिक विक्षिप्तता भी सम्मिलित हैं); (२) बीमारियों के कारणों, रोकथाम, निदान या चिकित्सा से सम्बन्धित आवश्यक व्यवस्था; (३) जन स्वास्थ्य प्रयोगशाला सेवा व्यवस्था; और (४) रुधिर आधान (blood transfusion) सेवा की व्यवस्था।

चिकित्सालय तथा विशिष्ठ सेवाएं क्षेत्रीय अस्पताल बोर्डों और प्रबन्ध समितियों द्वारा संचालित होती हैं। कई अस्पतालों का समूह एक प्रशासकीय इकाई से सम्बद्ध होता है। इनमें से कई अस्पताल ऐसे भी हैं जो पहले के स्वतंत्र अस्पताल हैं जिन्हे राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अन्तर्गत ले लिया गया है। अब लगभग ४०० अस्पतालों के समूह अस्पताल प्रबन्ध समितियों की देख-रेख में हैं जो कि १५ क्षेत्रीय अस्पताल बोर्डों के नियंत्रण में हैं। अस्पताल प्रबन्ध समितियों की स्थापना क्षेत्रीय अस्पताल बोर्डों के द्वारा होती है। समितियां सम्पूर्ण समुदाय का प्रतिनिधित्व करती हैं क्योंकि उसमें चिकित्सकों के अतिरिक्त स्थानीय प्राधिकारियों, श्रमिक संघों तथा अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधि रहते हैं। क्षेत्रीय अस्पताल बोर्ड की स्थापना स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा होती है।

यूनाइटेड किंगडम में राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का साढ़े तीन प्रतिशत व्यय होता है। सम्पूर्ण व्यय का बड़ा भाग सरकार वहन करती है। यह खर्च देश के सामान्य करों से निकाला जाता है। व्यय का कुछ भाग स्थानीय उपशुल्कों (rates) से भी पूरा किया जाता है। इसके लिए कुछ आय राष्ट्रीय बीमा अंशदान के रूप में और कुछ आय उन स्वास्थ्य सेवाओं से होती है जिनके लिए भुगतान करना आवश्यक है। इस तरह के प्रभार (charges) सबसे पहले १९५१ में लगाए गए थे और इनका क्षेत्र बढ़ता रहा जिससे कि सेवाओं पर खर्च सीमित किया जा सके और साथ ही इन सेवाओं में कमी न हो।

अन्य उपलब्ध सेवाएं इस प्रकार हैं: सामान्य चिकित्सक सेवाएं; अस्पताल तथा विशेषज्ञ सेवाएं; मानसिक स्वास्थ्य सेवाएं; खाद्य कल्याण सेवाएं; स्थानीय स्वास्थ्य सेवाएं जिनमें कल्याण केन्द्र, मातृ परिचर्या तथा अन्य मातृ और बाल कल्याण सेवाएं, घर में उपचर्या (home nursing), घरेलू सहायता, एम्बुलेंस सेवा, बीमारी से बचाव, टीके और प्रतिरक्षण (immunisation), स्वास्थ्य केन्द्र इत्यादि सेवाएं सम्मिलित हैं।

समस्याएं. राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवाओं में अनेक कमियां और कठिनाइयां हैं। आरम्भ में यह योजना पूर्णतया निःशुल्क थी। पर कुछ चिकित्सा सेवाओं के लिए अनिवार्य शुल्क की पद्धति के कारण व्यापक निःशुल्क सेवा सिद्धान्त को छोड़ना पड़ा। अब स्थिति यह है कि स्वास्थ्य सेवा का उपयोग करने वालों में से अधिकांश लोगों को सेवा मूल्य चुकाना पड़ता है क्योंकि मूल्यों और कर्मचारियों के वेतनों में, दवाओं और आधुनिक उपकरणों के मूल्यों में अधिकाधिक वृद्धि तथा सरकारी सेवाओं का जनता द्वारा उपयोग करने की बढ़ती मनोवृत्ति के कारण सेवाओं पर खर्च काफी बढ़ गया है। साथ ही प्रशिक्षित कर्मचारियों, दात के डाक्टरों और विशेषज्ञों की

कमी के कारण समय समय पर चिन्ताजनक परिस्थिति उत्पन्न होती रहती है। देश के विभिन्न भागों में उपलब्ध सेवाओं में अधिक असमानता है। कहीं कहीं पर अन्य स्थानों की तुलना में पारिवारिक चिकित्सकों की संख्या, अस्पताल में इलाज और देख-भाल के लिए अस्पतालों में पलंगों (beds) की संख्या अधिक है, और कहीं-कहीं अधिक विशेष चिकित्सा सम्बन्धी देख भाल, और स्थानीय अधिकारी द्वारा अधिक व्यापक सेवाएं उपलब्ध हैं। आवश्यकता इस बात की है कि देश के हर भाग में समान-रूप से स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध हों जिससे लोग व्यापक रूप से सेवाओं से लाभ उठा सकें और अधिक सेवाओं का उपयोग भी कर सकें।

अध्याय ११

युद्धकालीन अर्थव्यवस्था

ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध ३ सितम्बर १९३९ और जापान के विरुद्ध ७ दिसम्बर १९४१ को युद्ध घोषित किया। जर्मनी ने मई और जापान ने अगस्त १९४५ को आत्म समर्पण किया। इन युद्धकालीन वर्षों ने ब्रिटिश वाणिज्य, कृषि और उद्योगों को अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होंने अर्थव्यवस्था को शान्तिकालीन स्तर से युद्ध-कालीन स्तर में बदला तथा साम्राज्य के सभी आर्थिक साधनों को युद्ध के सफल संचालन के लिए संगठित किया। यह सर्वांगींण युद्ध था अर्थात् युद्ध के सारे उपकरण व्यवहृत थे तथा ग्रेट ब्रिटेन किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा अधिक अन्तर्ग्रस्त था। उसके युद्ध प्रयासों और तैयारियों का प्रमाण संसार के इतिहास में अद्वितीय था। योरोप में जर्मनी के विरुद्ध प्रहार के लिए जो भी त्याग आवश्यक थे और देश की सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए जो उपयुक्त था वह सब किया गया। विदेशी पूँज पत्र बेचे गए। महिलाओं को अनिवार्यतः सैनिक सेवा में लगाया गया। पूँजी जं अत्यधिक घट गई थी, बढ़ न सकी। नागरिक उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं क निम्नतम किया गया और निर्यात घटाए गए। इसमें सन्देह नहीं कि इन सभी मामलों में संतुलन स्थापित किया गया। यदि विदेशी सम्पत्ति को एक दम बेच दिया जाता तो इनका मूल्य बहुत अधिक गिर गया होता। महिलाओं को सैनिक सेवाओं में भरती करने के सम्बन्ध में भी स्पष्ट सीमाएं थीं। कुछ लोगों का विचार था कि तम्बाकू, घुड़दौड़, सिनेमा, आइसक्रीम या पुष्पों से नीरस जीवन में सरसता नहीं आएगी, जो कि अच्छे युद्ध प्रयासों के लिए आवश्यक था। इसी कारणवश जीवन स्तर के ह्रास सम्बन्धी कदम, अनुभव और जन मानस (public psychology) की प्रतिक्रियाओं के आधार पर निश्चित किए गए। इसमें संदेह नहीं कि ये ह्रास निरन्तर हुए और बहुत दूरी तक हुए। वर्तमान आराम की वस्तुओं और भविष्य में आर्थिक सुरक्षा के विचारों को त्याग दिया गया। इससे अधिक और क्या युद्ध प्रयास हो सकते थे?

विकास के मुख्य लक्षण. इस काल के मुख्य विकास सम्बन्धित लक्षण निम्नांकित हैं:

(१) उत्पादन वृद्धि के लिए उद्योगों का नियंत्रण. युद्ध के लिए उत्पादन की दृष्टि से कुछ उद्योगों के उत्पादन में कमी की गयी तथा महत्वपूर्ण उद्योगों जैसे कृषि

फौलाद, धातु और इजीनियरिंग, में भारी विस्तार किया गया। कृषि ब्रिटेन का सबसे निर्बल अंग था। इसके अतिरिक्त युद्ध काल में बाहर से अन्न लाने वाले के लिए जहाजों की भी कमी थी। सीमित जहाजों का समुचित उपयोग करने की दृष्टि से आयात घटाना और देश में कृषि उत्पादन बढ़ाना आवश्यक था। आरम्भ में यह अनुभव किया गया कि ब्रिटेन के पास काफी जहाज हैं अतएव कृषि उत्पादन बढ़ाने का आन्दोलन तेजी से नहीं छेड़ा गया। १९४१ में स्थिति गम्भीर हो गयी। अतएव भूमि जोतने और गेहूँ उपजाने तथा ऊंचे भाव निर्धारण सम्बन्धी उपदानों (subsidy) से कृषि उत्पादन को बड़ा प्रोत्साहन मिला और १९४१ के अन्त तक उत्पादन बढ़ा तथा विदेशों से अन्न और कच्चे माल आयात सम्बन्धी कठिनाइयां भी बढ़ीं।

इंजीनियरिंग उद्योग युद्ध के लिए मुख्य आधार था। सभी क्षेत्रों में उत्पादन को प्रोत्साहन मिला। युद्ध सामग्री उत्पादन करने वाले विभागों में भी वृद्धि हुई। फौलाद, लोहा, कोयला और अन्य भारी सामग्री की मांग और पूर्ति काफी बढ़ गयी यद्यपि बढ़ती मांगों की पूर्ति करना बहुत कुछ कठिन था। उचित प्रकार के हथियारों, टैंकों और हवाई जहाजों को तैयार करने की समस्या थी। आरम्भ में युद्ध के उपयुक्त अस्त्रों के बारे में निर्णय करने में बहुत समय लगा। सभी प्रकार के कच्चे मालों की बार बार कमी हो जाती थी और कच्चे माल जैसे रबर, टिन, टंगसटन, विशेष सुतली के आयात का प्रबन्ध करने में ब्रिटिश सरकार को सावधानी दिखानी पड़ी। अधिकांश वस्तुओं की पूर्ति के लिए नए साधनों की खोज करना और उन्हें विकसित करना आवश्यक था। ब्रिटिश सरकार की इस बात के लिए प्रशंसा करनी होगी कि इस क्षेत्र में अनेक निर्बलताओं के होते हुए भी उसके उत्पादनों में कच्चे माल की कमी के कारण कमी या शिथिलता नहीं आने पाई जबकि सैनिक उपयोग से जहाजों को कच्चे माल लाने के लिए पाना कठिन था। श्रमिकों की उत्तरोत्तर कमी एक दूसरी भी बहुत महत्वपूर्ण समस्या थी। यह सत्य है कि यह कमी तुरन्त अनुभव नहीं हुई क्योंकि अप्रैल १९४० में लगभग १० लाख व्यक्ति बेकार थे। पर ज्यों ही युद्धोत्पादन बढ़ा यह समस्या कठिन होने लगी और श्रमिक सम्बन्धी योजनाओं को विधिवत संचालित करना कोई सरल कार्य नहीं रह गया था। १९४४ में जन-शक्ति की स्थिति कठिन हो गई। जनशक्ति की मांग और पूर्ति में सामंजस्य लाने के लिए यह सम्भव नहीं था कि मांग में कुछ कमी की जाय या पूर्ति बढ़ाई जाय। इसकी कोई गुँजाइश नहीं थी। देश की सम्पूर्ण जनशक्ति का पूरा उपयोग हो रहा था। केवल यह ही शेष था कि युद्ध नीति की आवश्यकताओं के अनुरूप जनशक्ति वितरण में परिवर्तन किया जाय।

युद्ध सामग्री को आवश्यकता वाले क्षेत्रों में तुरन्त पहुंचाना आवश्यक था। लड़ाकू और बमवर्षक जहाज, टैंक, भारी माल, खाद्यान्न, कपड़ा आदि सेना और सैनिकों के लिए अधिक से अधिक तैयार करना आवश्यक था और इसके लिए श्रमिकों और साधनों को कम महत्व के कामों से हटा कर अधिक महत्व के कामों में जुटाना था। युद्ध सामाग्री की पूर्ति के लिए असैनिक वस्तुओं का उत्पादन बहुत अधिक घटा दिया गया, जिसके फलस्वरूप निर्यात में भी बहुत कमी हो गई।

(२) उपभोग में कमी. चूँकि प्राप्त साधन युद्ध संचालन में लगने थे, अतएव विलास सामग्री का उत्पादन घटा दिया गया तथा आवश्यक वस्तुओं का वितरण नियंत्रित कर दिया गया। खाद्य, कपड़ा और ईंधन का वितरण राशन प्रणाली से कर दिया गया। इसका जनता के जीवन स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उपभोग वस्तुओं का उत्पादन सब से सूक्षम कारखानों के जिम्मे कर दिया गया तथा शेष श्रमिकों को युद्ध सामग्री उत्पादन में लगा दिया गया।

(३) निजी आय और क्रय शक्ति पर नियंत्रण. युद्धोत्पादन वृद्धि तथा यथासम्भव आर्थिक स्थिति को स्थिर रखने की दृष्टि से निजी आय और क्रय शक्ति करों को, सरकारी ऋणों आदि द्वारा प्रतिबन्धित किया गया तथा मूल्य, मजदूरी और लाभ की असाधारण वृद्धि पर नियंत्रण लगा दिया गया। कर बढ़ा दिए गए। १६३९ में अतिरिक्त लाभकर में ६० प्रतिशत, तथा १६४० में १०० प्रतिशत वृद्धि कर दी गयी। आयकर दर भी बढ़ा दी गयी। यह दर युद्ध आरम्भ के समय ७ शिलिंग ६ पेंस थी जो १६४१ में १० शिलिंग तक कर दी गयी। क्रय कर लागू किया गया और उसकी दरें बढ़ा दी गईं। सरकारी ऋण और राष्ट्रीय बचत आन्दोलन १६४१ में आरम्भ हुए और अल्पकाल में ही बहुत महत्वपूर्ण हो गए।

(४) निजी खर्च पर नियंत्रण. राशन प्रणाली अनुमतिपत्र (licence) प्रणाली, अतिरिक्त लाभों को सरकारी ऋणों में अनिवार्यतः लगाने की प्रणाली आदि से निजी व्यय पर नियंत्रण लगाए गए। १६३६ में मूल्य बढ़ने लगे। मजदूरी में वृद्धि के लिए तुरन्त दबाव बढ़ने लगा। कोयला खनिकों ने अक्टूबर १६३६ में मजदूरी बढ़ाने की मांग की और खान मालिकों ने उनकी मांगों को स्वीकार कर लिया। सितम्बर और दिसम्बर १६३६ के बीच लगभग १२ प्रतिशत मंहगाई बढ़ गई। १६४० में खाद्यान्नों के लिए उत्पादन देने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया। इसका फलितार्थ (implication) यह था कि मंहगाई के आधार पर मजदूरी बढ़ाने की मांग बहुत कुछ असंगत मालूम पड़ेगी। समूचे युद्ध काल में उत्पादन नीति सुदृढ़ और विस्तृत की गयी। उत्पादन की राशि १६४० में ७२० लाख पौंड थी। यह १६४४ में बढ़कर २१५० लाख पौंड हो गयी।

इन कार्रवाइयों के बावजूद जीवन स्तर मूल्य और मजदूरी बढ़ते ही गए। १९४१ में जीवन स्तर मूल्य १९३९ की स्तर से २६ प्रतिशत अधिक था और यह १९४५ में और भी बढ़ गया था। १९४१ में मजदूरी १९३९ की अपेक्षा २० प्रतिशत अधिक थी और यह १९४५ में लगभग ५० प्रतिशत अधिक हो गयी। आमदनी में भी तेजी से वृद्धि हुई। यंगसन ने लिखा: "श्री बेविन का कथन था कि जब तक वेतन श्रमिक उत्पादन के अनुरूप है तब तक मुझे इसकी चिन्ता नहीं है कि उसे कितना अधिक वेतन मिला।" ये सब परिवर्तन सम्भवतः होने वाले ही थे। युद्ध और शान्ति काल दोनों में कठोर कार्य के लिए अधिक वेतन से प्रेरणा मिलती है। जब मजदूरी की दरों में भेद बढ़ गया तो मजदूर सरलता से एक उद्योग से दूसरे में जाने लगे। जब किसी एक उद्योग में अधिक मजदूरी मिलती है तब दूसरे उद्योगों में भी मजदूरी बढ़ती ही है। कोयला खनिकों ने इस अवसर का लाभ उठाया तथा उन्होंने अपनी पुरानी मांगों और शिकायतों को फिर से उठाया। इनकी मांगें अधिकांश रूप में पूरी हुई जिससे श्रमिकों में धनी वर्ग बन गया। १९४२ में उन्हें राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन मिला। १९४४ में ईंधन मंत्रालय ने खदानों में मजदूरी के ढांचे में व्यापक हेर फेर कर दिए जिसका परिणाम यह हुआ कि वे खनिक जिन्हें १९४२ में सामान्य श्रमिकों से आधी मजदूरी मिलती थी, उन्हें १९४५ में देश के सामान्य श्रमिकों से अधिक मजदूरी मिलने लगी। यह मानना ही पड़ेगा कि हथियार बंद सैनिकों की संख्या दस गुना बढ़ना, असैनिक रोजगारी को पूर्ववत बनाए रखना, उत्पादन के समूचे ढांचे को पुनर्गठित करना, असैनिक उपभोग में १६ प्रतिशत की कमी करना और जीवन स्तर मूल्य में कम से कम ५० प्रतिशत वृद्धि करना, आदि ऐसी उपलब्धियां हैं जिन्हें असाधारण कहा जाएगा।

(५) विदेशी परिसम्पत्ति (assets) में कमी. युद्ध काल में विदेशी परिसम्पत्ति, घरेलू पूंजी तथा विदेशी बाजारों में उपार्जन क्षमता की ओर ध्यान नहीं दिया गया। घटते निर्यात और बढ़ते आयात के कारण ब्रिटेन को अनिवार्य युद्ध सामग्री आयात के भुगतान के लिए या तो विदेशों में लगी परिसम्पत्ति को बेचना पड़ा और या विदेशों में उधार प्राप्त करना पड़ा। युद्ध आरम्भ काल में ब्रिटेन की विदेशी परिसम्पत्ति ३०,००० लाख पौंड और स्वर्ण निधि ४५०० लाख पौंड के मूल्य की थी। मार्च १९४१ तक जब अमरीका में लैंडलीज एक्ट पास हुआ, संयुक्त राज्य अमरीका से आने वाली सभी वस्तुओं का भुगतान करना पड़ता था जिसके लिए ब्रिटेन को ११,००० लाख पौंड की पूंजी-परिसम्पत्ति बेचनी पड़ी, सोने और डालर के कोष को १५०० लाख पौंड करना पड़ा और विदेशी ऋण लगभग ३०,००० लाख पौंड बढ़ाना पड़ा। मार्च १९४१ तक ब्रिटिश निर्यात, १९३८ की तुलना में, आधा रह गया था

और १६४४ की तुलना में एक-तिहाई से भी कम रह गया था। जापान के विरुद्ध युद्ध की समाप्ति के समय यह केवल ४० प्रतिशत था। कुछ सेवाओं का संचालन बहुत गिर गया था। रेलों की दशा खराब थी और उन पर इतना अधिक भार था कि उनकी भारी मरम्मत और बदलाव की आवश्यकता जल्दी जल्दी पड़ती थी। आवास की स्थिति बहुत ही खराब थी।

निर्यात में कमी हुई। युद्ध में तेजी के कारण निर्यात उद्योगों पर ध्यान नहीं दिया गया। १६४४ में निर्यात १६३८ की तुलना में एक-तिहाई रह गया था। कुछ बाजार तो तुरन्त हाथ से निकल गए और यह हानि युद्ध के बाद अधिक अखरी। दक्षिणी अमरीका ब्रिटिश वस्तुओं के लिए एक बहुत ही अच्छा बाजार था, जिस पर संयुक्त राज्य अमरीका के उत्पादकों ने कब्जा कर लिया।

(६) केन्द्रीय नियोजन. युद्ध काल में राज्य का हस्तक्षेप काफी बढ़ गया था। योजना और नियंत्रण विभिन्न दिशाओं और विभिन्न तरीकों से सभी क्षेत्रों को प्रभावित कर रहे थे। राज्य नीति का उद्देश्य अलभ्य साधनों का वितरण इस प्रकार करना था जिससे युद्ध प्रयास अधिकतम बढ़ें। यह अनुभव किया गया कि कुछ मूलभूत उद्योग राज्य के हाथों में होने ही चाहिए; इसलिए नियंत्रण सम्बन्धी आदेशों का उपयोग किया गया। राज्य ने अनेक उद्योगों के स्वामित्व को खरीदने का निर्णय युद्धोत्तर काल के लिए टाल दिया पर उनके संचालन के सूत्र अपने हाथों में ले लिये। आरम्भ में कच्चे माल और अन्य वस्तुओं को केन्द्रीय स्तर पर खरीद कर सरकार द्वारा उनका वितरण कर उत्पादन को नियंत्रित किया गया। बाद में बोर्ड आफ ट्रेड ने निर्धारित कच्चे माल से निर्मित वस्तुओं के उत्पादन की सीमा बांध दी तथा सेना सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जो वस्तुएँ शेष बचीं उन्हें नागरिक उपयोग के लिए बेचा। अनेक मंत्रालय स्थापित हुए। सरकार ने आर्थिक व्यवस्था में आश्चर्य-जनक और दूरगामी परिवर्तन करने के लिए अनेक विधियों का उपयोग किया पर उन सबको केन्द्रीय योजना के अन्तर्गत माना जा सकता है।

संभरण मंत्रालय की स्थापना १६३६ में हुई। इसके बाद गृह संरक्षण, आर्थिक कल्याण, सूचना, खाद्य, जहाज और हवाई जहाज उत्पादन मंत्रालय बने। उन्हें व्यापक अधिकार प्राप्त हुए। जहाज मंत्रालय को १६४० के आरम्भ में ही प्रायः सभी जहाजों को हस्तगत करने के अधिकार प्राप्त हो गये थे। कच्चा माल, लोहे और फौलाद के यंत्र बोर्ड आफ ट्रेड या सरकारी लाइसेंस के द्वारा ही प्राप्त हो सकते थे। खाद्यान्न, कपड़ा और कुछ कच्चे मालों के लिए राशन प्रणाली लागू हो चुकी थी। जनशक्ति योजना में ही नियंत्रण शक्ति केन्द्रित थी। श्रम विभाग मंत्री को यह अधिकार था कि वह अपने राष्ट्रीय सेवा कर्मचारियों के द्वारा यूनाइटेड किंगडम में किसी भी

व्यक्ति से कोई सेवा किसी भी स्थान पर ले सकता था। वह इस प्रकार की सेवाओं की शर्तें और मजदूरी और काम के घंटे निर्धारित कर सकता था। वह लोगों से उनका विवरण प्राप्त कर सकता था। वह मालिकों को किसी भी प्रकार का लेखा रखने या दस्तावेजों को पेश करने का आदेश दे सकता था।

श्रमिकों, मजदूर संघों, उद्योगों, कृषि, एक विभाग से दूसरे विभाग में कच्चे माल का स्थानान्तरण, तथा कच्चे माल की बिक्री या वितरण पर नियंत्रण थे। श्रम विभाग मंत्री बेविन मजदूरी, श्रमिकों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर काम करना, आदि के बारे में स्वतंत्रता कायम रखना चाहते थे, पर साथ ही वे उद्योगों में अनिवार्यतः काम करने के लाभों को भी प्राप्त करना चाहते थे। युद्ध मंत्रिमंडल ने जनशक्ति लेखा तैयार किया। श्रमिकों सम्बन्धी मांग को श्रमिक पूर्ति सम्बन्धी स्थिति से संतुलित किया गया। इस सम्बन्ध में युद्ध के लिए पुरुषों की आवश्यकता और उनकी साज सामान (equipment) की आवश्यकताओं को श्रमिकों की संख्या में अनुमान लगाया गया। इसी प्रकार से निर्यात और अनिवार्य घरेलू आवश्यकताओं के लिए श्रम की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया। उपरोक्त दोनों अनुमानों को जोड़ कर उपलब्ध श्रमिकों की संख्या के साथ संतुलित कर दिया गया। युद्ध समाप्ति के समय जनशक्ति नियोजन (budgeting) अत्यधिक शक्तिशाली साधन के रूप में विकसित हुआ। युद्धकालीन मंत्रिमंडल के पास केवल यही एक प्रभावी साधन था जिसके द्वारा भौतिक साधनों का केन्द्रीय तथा प्रत्यक्ष बंटवारा विभिन्न क्षेत्रों में किया जा सकता था। युद्धकालीन अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने का यह साधन बहुत कारगर सिद्ध हुआ। युद्ध के अन्त में जनशक्ति नियोजन ही एक उपयोगी साधन था जिसके द्वारा युद्ध प्रयासों का अनुभान किया जा सका चाहे यह प्रयास जर्मनी पर उड़ते हुए बममार जहाज की संख्या से और चाहे कपड़े के राशन से सम्बन्धित हो।

(७) डालर की कमी. युद्ध काल में संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक सम्बन्ध बहुत जटिल थे, यद्यपि उनमें अत्यधिक निकट सम्बन्ध था। जर्मनी के विरुद्ध संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन का प्रमुख समर्थक था और वह खाद्यान्न, युद्ध उपकरण तथा हवाई जहाज सम्बन्धी ग्रेट ब्रिटेन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। आरम्भ में अमरीका का इंगलैंड को निर्यात विशाल मात्रा में होता था यद्यपि इन वस्तुओं का भुगतान ग्रेट ब्रिटेन डालरों में करता था और इस प्रकार ब्रिटेन का डालर कोष भी अधिक समाप्त हो गया। इससे ब्रिटेन को युद्धोपकरण उतना अधिक संतोषप्रद मात्रा में नहीं प्राप्त हुआ जितना कि अमरीका की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में सहायता मिली। इसके पश्चात संयुक्त राज्य अमरीका को यह लगा कि

ब्रिटेन केवल अपनी स्वतंत्रता के लिए ही युद्ध नहीं कर रहा है, वरन् इससे सभी देशों की स्वतंत्रता खतरे में थी। इसलिए "अमरीका की सुरक्षा के लिए ब्रिटेन की सहायता करो" का नारा लोक प्रिय हुआ। इसके पश्चात मार्च १९४१ में "लैंड लीज" का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। इसके द्वारा १९४३-४४ में ब्रिटेन को संयुक्त राज्य अमरीका से अत्यधिक सहायता मिली। संयुक्त राज्य अमरीका ने २७०,००० लाख डालर के मूल्य का फौलाद, लोहा, खाद्यान्न और कच्चा माल ब्रिटिश उद्योगों को भेजा और इसके बदले ब्रिटेन ने २०,००० लाख डालर का सामान अमरीका को पारस्परिक लैंडलीज सहायता के रूप में भेजा। इस लेन-देन का अन्तर काफी बड़ा था और इसका निपटारा (settelement) १६२० लाख पौंड या लगभग ८००० लाख डालर के अन्तिम भुगतान से तय पाया गया। यह राशि वास्तविक ऋण से बहुत कम थी।

आगे के वर्षों में दो कारणों से कठिनाई उत्पन्न हुई। (१) लैंड लीज के अन्तर्गत प्राप्त सामान को ब्रिटेन अपने निर्यात के रूप में उपयोग करता था और ब्रिटेन का सामान भी अमरीकी निर्यात माल की प्रतिस्पर्धा में बिकता था। इस स्थिति का सामना करने के लिए अमरीकी सरकार ने एक संगठन की स्थापना की जिसका काम यह देखना था कि लैंड लीज के अन्तर्गत दिए जाने वाले सामान से ब्रिटेन के निर्यात व्यापार पर कोई लाभप्रद प्रभाव न पड़े। युद्ध काल में इसका कोई उपयोगी प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि ब्रिटेन का ध्यान अपने निर्यात की ओर बिल्कुल नहीं था। परन्तु १९४३ में स्थिति बिल्कुल बदल गयी। (२) १९४३ में एक बात यह हुई कि सोने और डालर का वह कोष जो लगभग समाप्त सा हो गया था, बढ़ने लगा और अमरीकनों को इससे चिन्ता हुई। उनका दृष्टिकोण यह था कि अमरीकी खर्च के फलस्वरूप ब्रिटेन के लिए रक्षित कोष वृद्धि करना सम्भव है। भले ही यह कितनी ही मन्द गति से बढ़े पर अमरीका का उधार पट्टा लैंडलीज कार्यक्रम का उद्देश्य ब्रिटेन को रक्षित कोष वृद्धि करने देना नहीं था बल्कि उसकी युद्ध शक्ति बढ़ाना था। अतएव १९४३ में संयुक्त राज्य अमरीका ने घोषित किया कि औद्योगिक साज-सामान, मशीनी औजार, तथा तेल उद्योग सम्बन्धी साजसज्जा उधार पट्टे पर नहीं मिल सकते। इससे ब्रिटेन की स्थिति बिगड़ने लगी और वह पुनः डालरों को खर्च करने लगा।

(८) युद्धोत्तर-कालीन पुनर्रचना की चिन्ता. युद्ध के अन्तिम वर्षों में ब्रिटेन युद्धोत्तर पुनर्निमाण के बारे में बहुत चिन्तित था और उसने १९४२ में ही एक समिति की स्थापना की जो प्रथम महायुद्ध १९१८-१९ की युद्ध स्थिति से शान्ति स्थिति के परिवर्तन का अध्ययन करे जिससे प्रथम महायुद्ध के अनुभवों से आगे लाभ उठाया जा सकें। आगामी वर्ष एक पुनर्निमाण मंत्री की नियुक्ति हुई। उसी वर्ष नगर और

ग्राम योजना मंत्रालय की स्थापना हुई। १६४४ में शिक्षा में गुणात्मक और संख्यात्मक सुधार करने तथा इसके लिए आवश्यक कानून बनाने के कदम उठाए गए। कृषि के भविष्य पर विचार हुआ और सरकार ने एक व्यापक कार्यक्रम अपनाया। गारंटी सहित कीमतों की एक योजना लागू की गयी। १६४२ में तत्कालीन सामाजिक सुरक्षा प्रणाली पर विचार हुआ तथा सामाजिक बीमा सम्बन्धी व्यापक सिफारिशें की गई। १६४४ में रोजगार-नीति सम्बन्धी एक श्वेत पत्र भी प्रकाशित हुआ जिसके अन्तर्गत सरकार ने युद्धोत्तर काल में रोजगार की संतोषजनक स्थिति रखने का वचन दिया।

(९) भावी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति. भावी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति पर वार्त्ताएँ, विवाद और प्रस्तावों पर चर्चा आदि हुई। फरवरी १६४२ में यूनाइटेड किंगडम और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच पारस्परिक सहायता समझौता (mutual aid agreement) हुआ जिसमें उधार पट्टा के भुगतान की शर्तें दी थीं। ब्रेटनवुडस में १६४४ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निमाण और विकास बैंक (International Bank for Reconstruction & Development) विषयक प्रस्ताव स्वीकृत हुए। वस्तुओं के मूल्य स्थिर करने के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण में समीकरण भंडार (buffer stock) स्थापना का सुझाव स्वीकृत हुआ। भावी वाणिज्य नीति विषयक अनेक प्रश्नों का निर्णय भी हुआ। संरक्षणवादी तरीकों को सीमित करने और भेदमूलक कार्य प्रणाली से मुक्त होने के लिए बहुपक्षी संविदा व्यवस्था निश्चित हुई।

द्वितीय महायुद्ध के परिणाम. सरकार द्वारा योजनाबद्ध कार्यवाही के बहुत ही अच्छे परिणाम हुए। तत्कालीन श्रम विभाग मंत्री श्री बेविन ने घोषित किया कि १४ और ६५ वर्ष के बीच के २२० लाख लोग सेना, नागरिक सुरक्षा और उद्योगों में थे। यह भी कहा गया कि विश्व के इतिहास में किसी भी देश ने जनशक्ति साधनों का इस सीमा तक और इतनी सफलता के साथ संगठन नहीं किया। युद्ध प्रयासों के फलस्वरूप युद्ध सामग्री उत्पादन में काफी वृद्धि हुई और खाद्यान्न उत्पादन भी बढ़ा। प्रशासकीय, आर्थिक और वित्तीय नियंत्रणों की व्यापकता के कारण युद्धकालीन अर्थव्यवस्था स्थिति सुस्थिर हो गयी। कहा जाता है कि अन्य देशों की अपेक्षा यूनाइटेड किंगडम में नोटों के चलन में कम वृद्धि हुई तथा मुद्रा स्फीति विरोधी कार्यवाही बहुत सफल हुई। इसका श्रेय सरकार के सफल शासन को मिलेगा।

इस चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। युद्ध के कारण जहाजों का बमबारी से विध्वंस और औद्योगिक यंत्रों के ह्रास और बदलाव में क्षति के कारण ब्रिटेन की

घरेलू पूँजी में ३०,००० लाख पौंड का घाटा हुआ। इससे ब्रिटेन की वित्तीय और व्यावसायिक स्थिति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और ऐसी कठिन समस्याएँ उत्पन्न हुई जिनका युद्धोत्तर काल में तत्काल समाधान होना आवश्यक था। ऐसी कुछ समस्याओं का सारांश निम्नांकित है :

विदेशों में परिसम्पत्ति की हानि. युद्ध सामग्री के क्रय का मूल्य चुकाने के लिए १०,००० लाख पौंड की विदेशी परिसम्पत्ति बेची गयी। युद्ध के पूर्व ब्रिटेन इससे भारी आय प्राप्त करता था तथा अपने युद्ध पूर्व आयातों का अधिकांश भुगतान करता था।

नए विदेशी ऋण. विदेशी ३०,००० लाख पौंड के नए कर्ज हो गए और ब्रिटेन के सामने युद्धोत्तर काल में उनके भुगतान की समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं।

वाणिज्य की शर्तें. १९४८ तक कच्चे माल के आयात के मूल्य बहुत बढ़ गए और १९३८ की तुलना में पंचमांश अधिक वस्तुओं का निर्यात करना पड़ा जिससे कि पुराने (१९३८ के) आयात का संतुलन किया जा सके।

निर्यात में कमी. युद्ध समाप्ति के बाद निर्यात में बहुत कमी हो गयी क्योंकि ये युद्ध प्रयासों के ही अंग थे और १९३८ की तुलना में ये एक-तिहाई नीचे गिर गए।

संरक्षित कोष में कमी. ब्रिटिश संरक्षित कोष बहुत कुछ खर्च हो चुका था तथा स्वर्ण और डालर कोष युद्ध पूर्व की अपेक्षा आधा रह गया था।

डालरों में संसार व्यापी कमी. ब्रिटेन और पौंड क्षेत्र के अन्य देश सभी प्रकार की सामग्री खरीदने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका पर बहुत कुछ आश्रित थे, अतएव गैर डालर देशों के पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए डालरों की कमी थी। ब्रिटेन के लिए यह समस्या बड़ी कठिन थी और वह इसके समाधान के लिए युद्धोत्तर काल की प्रतीक्षा कर रहा था।

अध्याय १२

युद्धोत्तरकालीन अर्थव्यवस्था

युद्ध की समाप्ति तक ग्रेट ब्रिटेन एक लेनदार से देनदार देश हो गया। उसके निर्यात और आयात में भारी अन्तर था जिसके फलस्वरूप भुगतान शेष में घाटा हुआ जिसने एक गम्भीर आर्थिक संकट पैदा कर दिया। ग्रेट ब्रिटेन को भारी क्षति हुई थी और उसकी घरेलू पूंजी में ३०,००० लाख पौंड का घाटा हुआ था। विदेशों में उसकी परिसम्पत्ति को भारी हानि हुई। विदेशों में उसका ऋण बढ़ गया। निर्यात-आयात मूल्य अनुपात उसके पक्ष में न थे। उसके पास स्वर्ण और डालर संरक्षित कोष बहुत कम था। वर्तमान डालर अर्जन विदेशी आयात के भुगतान के लिए पर्याप्त नहीं था। युद्ध के उपरान्त तात्कालिक आवश्यकता निर्यात वृद्धि की थी। यूनाइटेड किंगडम के विरुद्ध निर्यात-आयात मूल्य अनुपात १९५१ तक रहे। अतएव १९४५-५१ का काल सरकारी नियंत्रणों और विनियमनों से वाणिज्य के पुनर्निमाण और पुनर्लाभ का था।

पुनरोत्थान काल (१९४५-५१)

युद्ध के बाद जूलाई १९४५ में आम चुनाव हुए जिनके फलस्वरूप प्रधानमंत्री सी० आर० एटली की अध्यक्षता में श्रमिक सरकार संगठित हुई। श्रमिक सरकार के समक्ष तात्कालिक प्रश्न देश के सामने प्रस्तुत कठिन समस्याओं को सुलझाना और राष्ट्र को सुदृढ़ शान्तिकालीन आधार पर आगे बढ़ाना था। राष्ट्रीयकरण का कार्यक्रम आरम्भ किया गया। उत्पादन और विदेशी व्यापार वृद्धि की महत्वाकांक्षी योजना लागू की गयी। सामाजिक सुरक्षा योजना कार्यान्वित की गयीं तथा युद्धकाल की राज्य द्वारा हस्तक्षेप और नियंत्रण की नीति जारी रखी गयी। अनेक कार्यवाहियाँ विवादात्मक थीं पर सरकार का दावा था कि वह कल्याणकारी राज्य का सफलता से संगठन और संचालन कर रही है।

विभिन्न उद्योगों का राष्ट्रीयकरण. एटली सरकार का १९४५ में यह मत था कि वे उद्योग जो युद्धकाल में नियंत्रित थे उन्हें युद्धपूर्व निजी उद्योग प्रणाली के अन्तर्गत फिर से लाना न तो व्यावहारिक था और न आवश्यक ही। अतएव ऐसे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना निश्चित हुआ। इस तरह युद्धोत्तर काल में ब्रिटिश

अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीयकरण एक महान् कदम था। कोयला, फौलाद, बिजली गैस, यांत्रिक यातायात, हवाई यातायात और बैंक आफ इंगलैंड का राष्ट्रीयकरण किया गया।

श्रमिक सरकार की राष्ट्रीयकरण नीति के कुछ स्पष्ट लक्ष्य थे। (१) वह समाजवाद की स्थापना करना चाहती थी और उसका मत था कि इसके लिए अर्थ-व्यवस्था के कुछ मुख्य क्षेत्रों में सार्वजनिक स्वामित्व की आवश्यकता है। (२) वह योजना के पक्ष में थी जिसके लिए मुख्य उद्योगों पर सार्वजनिक नियंत्रण आवश्यक था। योजना से पूरी रोजगारी, आर्थिक विकास और पुनर्निर्माण सम्भव था। (३) निजी एकाधिकार की अपेक्षा सार्वजनिक एकाधिकार अधिक अच्छा था। निजी एकाधिकार में निजी एकाधिकारी उपभोक्ताओं का शोषण करते थे। निजी एकाधिकार, साधनों के बहुत व्यर्थ जाने तथा दीवालियापन और अन्य कारणों से अनेक कारखानों के बन्द होने से, कायम होता था। राष्ट्रीयकरण तथा सार्वजनिक एकाधिकार से निजी लाभ तथा किरायाजीवी लाभ (rentier earnings) का अन्त होने की और समानता के उदय होने की सम्भावना थी। इससे सरकार (मालिक) और श्रमिकों के बीच मैत्रीपूर्ण श्रमिक सम्बन्ध भी स्थापित होता।

राष्ट्रीयकरण की योजनाओं के पीछे सामान्य प्रयोजनों (general motives) के अतिरिक्त प्रत्येक उद्योग में व्याप्त विशेष परिस्थितियों पर विचार भी था। बैंक आफ इंगलैंड का राष्ट्रीयकरण किया गया क्योंकि ऐसा समझा गया कि इससे बैंक और राज्य कोष के बीच निकटतम सहयोग बढ़ेगा, जो कि सूक्षम अर्थव्यवस्था संचालन के लिए आवश्यक था। कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया गया क्योंकि उसमें नेतृत्व हीन, प्रबन्ध दकियानूसी, यांत्रिक स्थिति पिछड़ी हुई और पूंजी अपर्याप्त थी। यातायात का राष्ट्रीयकरण किया गया क्योंकि जन हित के लिए यह आवश्यक था कि उसमें व्याप्त प्रतिस्पर्धाओं को दूर किया जाय तथा सार्वजनिक यातायात में एक सूत्रता स्थापित किया जाय। गैस उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया गया क्योंकि यह युद्ध के पूर्व म्यूनिसिपल कमेटियों या निजी क्षेत्र में थे तथा इनकी इकाइयाँ छोटी, विभा-जित और अलाभकारी थीं, अतएव उन्हें बड़े समूहों में संगठित करना आवश्यक था और इसके लिए राष्ट्रीयकरण ही एक मात्र रास्ता था। इसकी जनहित में भी आवश्यकता थी। लोहे और फौलाद उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया गया क्योंकि यह निजी बड़े एकाधिकारियों के हाथ में था और इसे मूल उद्योग माना जाता था जिस पर देश का भावी अर्थविकास निर्भर था। सरकार की सामान्य योजना यह थी कि एक केन्द्रीय समिति (Central Board) स्थापित की जाय जिसमें एक अध्यक्ष तथा सम्बद्ध मंत्रालय द्वारा नियुक्त सदस्य हों, जो राष्ट्रीयकृत उद्योग को

नियंत्रित करें। कुछ उद्योगों में केन्द्रीय समिति के अधीन समितियों की स्थापना की गयी जिससे वे अपने अपने क्षेत्र में तात्कालिक और उत्तम नियंत्रण कर सकें। समितियों के अलावा स्वतंत्र सलाहकार समितियों की भी स्थापना की गयी जिनमें विभिन्न हितों के प्रतिनिधि थे जिनसे मंत्रालय को समय समय पर विशेषज्ञ सलाह का लाभ प्राप्त हो सके। उदाहरणार्थ, यह योजना कोयला खानों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में अपनायी गयी। सलाहकार समितियों में कोयले के औद्योगिक उपभोक्ताओं और घरेलू उपभोक्ताओं के भी प्रतिनिधि थे। पूरा संगठन ईंधन और शक्ति मंत्रालय के अन्तर्गत कार्य करता था।

विद्युत उद्योग के राष्ट्रीयकरण के लिए ब्रिटिश इलेक्ट्रीसिटी अथारिटी की स्थापना की गयी जिसमें एक अध्यक्ष और ग्यारह सदस्य थे। चौदह क्षेत्रीय परिषदें स्थापित की गईं। यह भी ईंधन और शक्ति मंत्रालय के अन्तर्गत था।

१९४७ के ट्रांस्पोर्ट एक्ट के अन्तर्गत यातायात का राष्ट्रीयकरण किया गया। इसमें अध्यक्ष के अतिरिक्त चार सदस्य थे। इसके अधिकार में सब तरह के यातायात का प्रबन्ध करना था। यातायात मंत्रालय ने पांच कार्यपालिकाएं स्थापित कीं। इनका कार्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत कार्यों का तियंत्रण करना था। कार्यपालिकाओं के नाम निम्नलिखित हैं: रेलवेज इक्सीक्यूटिव, रोड ट्रांस्पोर्ट इक्सीक्यूटिव, डाक्स एड इंग्लैंड वाटरवेज इक्जीक्यूटिव, लंदन ट्रांसपोर्ट इक्जीक्यूटिव, होटल्स इक्जीक्यूटिव।

गैस एक्ट १९४५ में पारित हुआ। इस कानून के अनुसार ब्रिटिश गैस उद्योग सार्वजनिक नियंत्रण में आ गया। एक गैस परिषद की स्थापना की गई जिसका काम ईंधन और शक्ति मंत्रालय तथा क्षेत्रीय परिषदों को अपने कार्य पालन के विषय में सलाह देना था। बारह क्षेत्रीय परिषदें थीं। प्रत्येक परिषद में ७ से ९ तक सदस्य थे। इन सभी की नियुक्ति मंत्री करता था।

नागरिक उड्डयन के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में तीन केन्द्रीय संगठनों की स्थापना हुई: ब्रिटिश ओवरसीज एयरवेज कार्पोरेशन, ब्रिटिश यौरोपियन एयरवेज, तथा ब्रिटिश साउथ अमेरिकन एयरवेज। हवाई जहाजों के अड्डों का भी राष्ट्रीयकरण किया गया। एक सलाहकार समिति की स्थापना हुई, जिसका कार्य मंत्री को किराये, यातायात की सुविधाएं, तथा बचाव सम्बन्धी परामर्श देना था।

तीव्र विरोध होने पर भी लोहा और फौलाद उद्योग का भी राष्ट्रीयकरण किया गया। १९४९ के लोहा और फौलाद कानून के अन्तर्गत इस उद्योग का बहुत सा भाग १५ फरवरी १९५१ को सार्वजनिक नियंत्रण में आ गया। पर १९५३ में एक कानून द्वारा उपयुक्त कानून को निरस्त कर दिया गया। नए कानून के अनुसार लोहा और

फौलाद परिषद की स्थापना की गई, जिसका कार्य लोहा और फौलाद उद्योग का निरीक्षण करना था जिससे लोहा और फौलाद प्रतियोगात्मक दृष्टि से सुलभ हो सके। राष्ट्रीयकरण के अवसर पर करीब ९० कम्पनियों के पूंजी अंश आयरन और स्टील कार्पोरेशन के नाम कर दिए गये। इस कार्पोरेशन की स्थापना १९४९ के आयरन एंड स्टील एक्ट के अन्तर्गत की गई थी।[1] कार्पोरेशन के अन्तर्गत प्रत्येक कम्पनी का प्रबन्ध और नियंत्रण प्रथक रहा।

विभिन्न उद्योगों में कार्यवाहक दल (working parties). सरकार का ऐसा विचार था कि वह किसी न किसी तरह अनेक उद्योगों को नियंत्रित करे। इसलिए सरकार ने उन उद्योगों में जिनका राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया था विभिन्न हितों के प्रतिनिधियों के कार्यवाहक दल संगठित किये। ऐसे दल का अध्यक्ष सामान्यतः ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति होता था जिसने दल से सम्बद्ध उद्योग के अतिरिक्त क्षेत्र में प्रसिद्धि पाई थी। कार्यवाहक दल का कार्य उद्योग की दशाओं की जांच करना, योजनाओं की छानबीन करना और उत्पादन तथा वितरण की दृष्टि से उद्योग की कार्यविधियों में सुधार करना था। ऐसे दल सूत, मिट्टी के बर्तन, फर्नीचर, होजरी, लिनोलियम, कपड़े, कालीन, पटसन, ऊन, जूते, जेवर, फीते, कांच, घरेलू साज सामान और दूध उद्योगों में स्थापित किए गए।

कृषि, गृहनिर्माण, तथा अणुशक्ति के विकास विषयक नियंत्रण. राष्ट्रीयकृत आर्थिक क्षेत्र के बाहर तीन बहुत महत्वपूर्ण क्षेत्र थे जिनपर सरकार का प्रमुख प्रभाव या नियंत्रण था। वे निम्नलिखित हैं: कृषि, गृहनिर्माण और अणुशक्ति का विकास।

कृषि के सम्बन्ध में सरकार के समक्ष मुख्य समस्या देश में उत्पादन बढ़ाना था। युद्धोत्तर काल में खाद्यान्न की कमी थी। द्वितीय महायुद्ध के बाद खाद्यान्न विदेशों में उपलब्ध नहीं था। अतएव १९४७ में कृषि कानून लागू किया गया तथा अर्थव्यवस्था

---

[1] यह कानून, १९५३ के आयरन स्टील एक्ट के कारण निरस्त हो गया। नए कानून के अनुसार आयरन एंड स्टील होल्डिंग रियलाइजेशन एजेंसी की स्थापना की गई जिसका काम था कि कम्पनियों को निजी स्वामित्व को वापस कर दिया जाय। १९५४ तक इस कार्यक्रम का एक-तिहाई भाग पूरा हो गया था। इस प्रकार से उद्योग को पुनः निजी स्वामित्व को सौंप दिया गया।

१९५३ के कानून में यह भी व्यवस्था थी कि एक आयरन एंड स्टील बोर्ड की स्थापना की जाय जिसके अधीन सामान्य प्रबन्ध का काम था जिससे कि प्रतियोगात्मक परिस्थितियों में कुशल, लाभकर और पर्याप्त लोहे और फौलाद का उत्पादन किया जा सके।

में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। निश्चित मूल्य और निश्चित विक्रय की व्यवस्था की गयी। कृषि विषयक पंचवार्षिक योजना १६४७ में घोषित हुई। इसमें कृषि में २० प्रतिशत वृद्धि की मांग की गयी जिसका तात्पर्य यह हुआ कि युद्धपूर्व स्तर से १५०% अधिक उत्पादन बढ़ाया जाय। १६५१-५२ में उत्पादन युद्धपूर्व स्थिति से १४१ प्रतिशत अधिक था और उनका मूल्य स्थिर था। बाद में उत्पादन में और वृद्धि हुई। १६५३-५४ में यह १५५ प्रतिशत तथा १६५६-५७ में १६० प्रतिशत हो गया।

गृह निर्माण के सम्बन्ध में भी अधिक गृह निर्मित करने की मांग की गयी और इसमें सरकार ने सभी सम्भव तरीकों से प्रोत्साहन दिया। युद्धोत्तर काल में सरकार का पहला कदम जनशक्ति और अन्य साधनों को इस उद्योग की ओर मोड़ना था। १६४६ के अन्त में कम से कम १० लाख नए गृह बने या पुनर्निर्मित हुए। जीवन स्तर सुधरने के कारण घरों की कमी बढ़ती ही गयी पर अनुदानों के कारण मकान सस्ते पड़े। अच्छे और अधिक घरों की मांग बढ़ी। १६५१ के मध्य में १२·५ लाख घर बने जिससे ग्रेट ब्रिटेन में प्रति व्यक्ति अधिक आवास सुलभ हुआ। इसके अतिरिक्त युद्धोत्तर काल के घर पहिले से बड़े और सुविधाजनक थे। इनमें से अधिकांश घर स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं ने निर्मित कराए थे। यहां तक कि इस क्षेत्र में १६५१ में अनुदार दल (conservative party) सरकार ने भी अच्छा काम किया। यह सरकार यह दिखलाना चाहती थी कि इसका कार्य १६४५-५० की लेबर सरकार से भी अच्छा है।

अणु शक्ति का विकास भी राजकीय सहायता से हुआ। १६५४ में एटामिक एनर्जी अथारिटी की स्थापना हुई जिसने अपने अन्तर्गत उन प्रयोगशालाओं और यंत्रों को ले लिया जिनमें २०,००० से अधिक कर्मचारी थे। विकास कार्य तीव्र गति से किया गया। अणुशक्ति के विकास की आरम्भिक अवस्था में ब्रिटेन का विशेष योगदान रहा। यद्यपि संयुक्त राज्य अमरीका आजकल आणुविक शास्त्रों के निर्माण में अग्रणी है फिर भी ब्रिटेन के पास अणुशक्ति सम्बन्धी पर्याप्त कुशलता, साधन और ज्ञान उपलब्ध है।

समाज कल्याण योजनाएं. १६४८ में पूर्ण और संयुक्त सामाजिक बीमा योजना लागू की गयी। यद्यपि १६५१ में सरकार बदल गयी, पर इस योजना में परिवर्तन नहीं हुआ। यह महत्वपूर्ण है कि इसे दलगत विषय नहीं बनाया गया, तथा इसे जन कल्याणकारी राज्य की मुख्य योजनाओं में से एक प्रमुख योजना माना गया। इस प्रकार के राज्य का निर्माण बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से हो गया था। राज्य के प्रस्तुत निर्माण कार्य को दोनों दलों का समर्थन प्राप्त था।

आर्थिक नियोजन. सम्भवतः युद्धोत्तर काल की प्रमुख विशेषता अनेक आर्थिक गतिविधियों पर शासकीय नियंत्रण में वृद्धि थी। द्वितीय महायुद्ध में यह स्पष्ट हो गया कि बहुत कुछ केन्द्रीय नियोजन निजी उद्योग प्रणाली के अनुकूल है। और जब १९४५ में श्रमिक दल सरकार सत्तारूढ़ हुई तो इसके पास युद्ध कार्यों के सम्बन्ध में लागू आर्थिक नियंत्रणों सम्बन्धी व्यापक तंत्र था। आर्थिक नियोजन सम्बन्धी सिद्धान्तों में अटल विश्वास होने के कारण सरकार युद्धकालीन नियंत्रणों को दूर नहीं करना चाहती थी। अभावों और मंहगाई के कारण इन नियंत्रणों का विस्तार किया गया। साधनों के असन्तुलित वितरण में वृद्धि के कारण आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप और नियंत्रणों को कड़ा किया गया।

विभिन्न नियंत्रणों के उद्देश्यों के विषय में श्रमिक सरकार ने पुनर्घोषणाएं कीं। १९५४ की मिश्रित सरकार द्वारा प्रकाशित रोजगार नीति विषयक श्वेत पत्र तथा १९४७-१९५१ में प्रधानमंत्री द्वारा प्रस्तुत वार्षिक आर्थिक सर्वेक्षणों में नियोजन के व्यापक उद्देश्यों का समावेश था। ये व्यापक उद्देश्य निम्नांकित थे : अधिकतम उत्पादन, पूरी रोजगारी, आर्थिक स्थिरता, समान वितरण और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए समुचित व्यवस्था।

केन्द्रीय नियंत्रण मुद्रा सम्बन्धी और प्रशासकीय थे। ये वित्तीय और भौतिक दोनों प्रकार के थे। बोर्ड आफ ट्रेड द्वारा जारी लाइसेंस व्यवस्था के अन्तर्गत आयात प्रतिबन्ध थे। कई मामलों में सरकार सीधे ही वस्तुओं का आयात करती थी। उद्योगों के लिए अनावश्यक कच्चे माल के वितरण पर भी नियंत्रण थे। यह कार्य बोर्ड आफ ट्रेड, पूर्ति मंत्रालय और निर्माण मंत्रालय करते थे। जनशक्ति के वितरण के सम्बन्ध में भी नियंत्रण थे। इनका उद्देश्य आवश्यक उद्योगों में जनशक्ति रक्षित करना अथवा सुलभ करना था। युद्ध काल में इस तरह के नियंत्रण थे यद्यपि युद्धोपरांत अनिवार्य भर्ती जारी रही पर बहुत से इस प्रकार के नियंत्रण समाप्त कर दिए गए। १९४७ में कन्ट्रोल आफ एंगेजमेंट के आदेश के अन्तर्गत कुछ नियंत्रण फिर लागू कर दिए गए। राज्य अभीष्ट कार्यों के लिए जनशक्ति का संचालन करती रही। लाइसेंस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों में मशीनों, औजारों और अन्य औद्योगिक साज सामानों का वितरण होता रहा। उत्पादन पर भी नियंत्रण था। यह नियंत्रण प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरह का था। कुछ कम आवश्यक सामान जैसे विलास सामग्री आदि तो पूर्णतः तैयार नहीं हो सकती थी। कुछ प्रकार के सामानों के उत्पादन के सम्बन्ध में सरकार बार बार निर्देश देती थी। कर और पूँजी के द्वारा परोक्ष नियंत्रण रहता था। राज्य ने पूँजीगत और उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन को प्रभावित किया। कुछ प्रकार की उपभोक्ता सामग्री के वितरण पर मूल्य नियंत्रण और राशन प्रथा

द्वारा अंकुश था। खाद्यान्न और ईंधन पर इस प्रकार का विशेष नियंत्रण था। इस प्रकार की सामग्री के निर्यात पर भी नियंत्रण था। बजट, राज्य कोष और राष्ट्रीयकृत केन्द्रीय बैंक द्वारा अनेक प्रकार के वित्तीय नियंत्रण लागू थे। विभिन्न उद्योगों और धंधों में पूँजी लगाने विषयक अनेक नियंत्रण थे। नए उद्योगों की स्थापना के सम्बन्ध में सरकार को १६४५ के उद्योग वितरण कानून के अन्तर्गत अधिकार प्राप्त थे। राष्ट्रीयकरण योजना के अन्तर्गत एक सम्पूर्ण नियंत्रण प्रणाली लागू थी। ऐसा विचार था कि यदि उद्योगों का एक भाग सरकारी स्वामित्व में हो तो नियोजन और नियंत्रणों का संचालन सफलता पूर्वक किया जा सकता है। कल्याणकारी राज्य की स्थापना के क्षेत्र में नियोजन और नियंत्रण के आधार पर विस्तार की यही विशेषता थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से संगठित सामाजिक संरक्षण प्रणाली भी स्थापित की गयी थी।

ग्रेट ब्रिटेन ने नियोजन का उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किया। यह मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कार्यान्वित हुआ। कुछ उद्योगों और सार्वजनिक सेवाओं के राष्ट्रीयकरण के द्वारा नियोजन और नियंत्रण कार्यान्वित किए गए। एक सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना की गयी तथा शेष क्षेत्र कुछ वित्तीय मुद्रा सम्बन्धी और प्रशासकीय नियंत्रणों के साथ निजी उद्यम के लिए छोड़ दिए गए।

युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन में जो विकास कार्य हुए उनके सम्बन्ध में नियोजन शव्द के प्रयोग पर बहुत से लोगों को आपत्ति थी। इस सम्बन्ध में उनका मुख्य तर्क यह था कि योजना के रूप में कोई सामान्य ढांचा नहीं था। तथापि उन देशों में जहाँ आर्थिक योजना का क्षेत्र संकुचित है, जहां व्यापक नियंत्रण नहीं हैं तथा प्रतिस्पर्धा और व्यावसायिक स्वाधीनता है, वहां यह आवश्यक नहीं है कि समस्त राष्ट्र के लिए कोई विस्तृत योजना तैयार की जाय। इसका कारण यह है कि वहां नियोजन के उद्देश्य बहुत कुछ पूर्ण नहीं हैं तथा वे निश्चित योजना के ढांचे के बिना भी पूर्ण किए जा सकते हैं। जब श्रमिक दल सरकार ने विभिन्न योजनाओं के कार्यक्रमों का समावेश करने वाली आर्थिक योजना अपनाई तब ब्रिटेन की ऐसी ही स्थिति थी।

मार्शल योजना. यूनाइटेड किंगडम ने अपनी चार-वर्षीय योजना योरोपीय आर्थिक सहयोग कार्यक्रम के अन्तर्गत १ अक्टूबर १६४८ को प्रस्तुत की। इसलिए, संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता से तथा योरोपीय देशों के सहयोग से मार्शल योजना नामक योजना अपनायी गयी। सोलह राष्ट्रों का एक सम्मेलन पेरिस में जुलाई-सितम्बर १६४७ में हुआ। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित उद्देश्य के कार्यक्रम निश्चित किए गए : (१) प्रत्येक सहयोगी देश में खाद्यान्नों का उत्पादन युद्धपूर्व स्तर पर

लाया जाय, कोयले का उत्पादन युद्धपूर्व स्तर से एक-तिहाई अधिक बढ़ाया जाय, बिजली और फौलाद का उत्पादन युद्धपूर्व स्तर से दो-तिहाई अधिक बढ़ाया जाय; (२) आन्तरिक वित्तीय स्थिरता स्थापित की जाय; (३) सम्मिलित देशों में अधिकतम पारस्परिक सहयोग बढ़ाया जाय; और (४) अमरीकन देशों से योरोपीय देशों के घाटे की बाजार की समस्याएं सुलझाई जायँ। यूनाइटेड किंगडम के सामने असंतुलित भुगतान की समस्या सुलझाने, आवश्यक वस्तुओं की कमी दूर करने, देश में उत्पादन बढ़ाने, अनेक उद्योगों को विकसित करने, तथा देश में अधिक पूँजी लगाने के कार्यक्रम को अग्रसर करने के प्रश्न थे।

सुलभ मुद्रा नीति. युद्ध काल में मुद्रा आसानी से सुलभ की गयी। बैंक दर. २ प्रतिशत रखी गयी। यह नीति कई प्रकार के नियंत्रणों के सहयोग से बहुत सफल रही। लागत और मूल्य प्रारम्भ में बढ़ने के बाद बहुत कुछ नियंत्रित रहे। श्रमिक दल सरकार बनने पर डाल्टन वित्त विभाग के मंत्री थे जिन्होंने और भी सुलभ मुद्रा नीति अपनाई। ट्रेजरी डिपाजिटों पर ब्याज की दर १ प्रतिशत से घटा कर $\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दी गई और १९४६ में ग्यारह क्लियरिंग बैंकों की जमा पूँजी बढ़ा दी गई। साथ ही वर्तमान हिस्सों (securities) को खरीदने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था क्योंकि सरकार का विचार था कि उनके मूल्य और गिरेंगे। नए हिस्से और कम ब्याज पर जारी किये गये। क्योंकि अप्रतिदेय (irredeemable) सरकारी ऋण-पत्रों पर ब्याज़ की दर जो अगस्त १९४५ में तीन प्रतिशत से कम थी घटा कर जनवरी १९४७ में २$\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दी गयी। परिणामस्वरूप ९००० लाख पौंड का उधार विस्तार (credit expansion) हुआ। कीमतें बढ़ीं और निश्चित ब्याज दर वाले हिस्सों की कीमतें अत्यधिक बढ़ गईं। परन्तु कीमतों पर नियंत्रण व्यवस्था इतनी अच्छी और एकीकृत (unified) थी कि जीवनस्तर मूल्य नहीं बढ़ा।

निर्यात वृद्धि और वाणिज्य संविदा की नीति. हम देख चुके हैं कि संतुलित भुगतान की समस्या सबसे बड़ी उलझन थी और जब अगस्त १९४५ में अचानक उधार पट्टा समाप्त हो गया तो स्थिति और भी अधिक बिगड़ गयी। अतएव युद्धपूर्व स्तर से १५० प्रतिशत अधिक निर्यात करने के उद्देश्य से निर्यात आन्दोलन तीव्र किया गया। दूसरी समस्या डालर और पौंड क्षेत्र सम्बन्धी थी। अभी तक पौंड की स्थिति प्रतिकूल थी। जबतक संयुक्त राज्य सरकार से कोई समझौता न होता, तब तक डालर के प्रति भेदमूलक स्थिति अनिवार्य सी थी।

संयुक्त राज्य अमरीका से डालर ऋण संविदा हुआ जिसकी मुख्य बातें निम्न-लिखित हैं : (१) संयुक्त राज्य अमरीका ब्रिटेन को ४४,००० लाख डालर ऋण देगा

जिसमें से ६५०० लाख डालर उधार पट्टा के अन्तर्गत ऋण भुगतान के काम में आएंगे। (२) पांच वर्षों तक न ब्याज और न ह्रासमूल्य (sinking fund) चुकाया जायगा। इसके बाद ब्याज दर दो प्रतिशत वार्षिक होगी, तथा ऋण ५० वर्षों में चुकाया जा सकेगा। (३) यदि किसी वर्ष ब्रिटेन की अर्जित विदेशी मुद्रा युद्धपूर्व स्तर से नीजे गिरी तो ब्याज माफ कर दिया जायगा। (४) ब्रिटेन अन्य राज्यों जैसे अर्जनटाइना और भारत से ऋण समन्वयव (adjustment of debt) करेगा। (५) ब्रिटेन ब्रेटनवुड्स (Bretten Woods) संविदा की पुष्टि करे और इसके पूरे दायित्वों का निर्वाह करे जिनमें एक वर्ष में पौंड को पूर्णतः संपरिवर्तनीय (convertible) करने की शर्त भी सम्मिलित थी। ब्रेटनवुड्स की योजना का उद्देश्य अविराम व्यवसायिक सुविधाएं बढ़ाना था। निर्यात लक्ष्य तुरन्त १९३८ के स्तर से १७५% अधिक बढ़ा दिया गया और प्रेसीडेन्ट ट्रूमेन ने १९४६ में ऋण संविदा पर हस्ताक्षर कर दिया। अमरीकी ऋण संविदा के अतिरिक्त कनाडा से भी ऋण संविदा हुआ। यह समझौता अमरीकी संविदा के समान १२,५०० लाख डालर का हुआ।

१९४६ में निर्यातकों ने अनेक प्रकार की सामग्री अफ्रीका, भारत, पश्चिमी-योरोप और अन्य देशों को भारी मात्रा में निर्यात की। जुलाई १९४६ में संयुक्त राज्य अमरीका में अप्रत्याशित तेजी आरम्भ हुई इसलिए १९४७ में ऋण की राशि तेजी से प्राप्त की गई। आन्तरिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। कोयला उद्योग संकट-ग्रस्त हो गया था जिससे उद्योग अंशतः ठप हो गया था। इससे निर्यात में भारी कमी हुई। संयुक्त राज्य अमरीका से ऋण संविदा होने के एक वर्ष बाद पन्द्रह जुलाई को पौंड संपरिवर्तनीय हो गया और डालर की कमी तुरन्त बढ़ गयी जो कि पहले ही से काफी बढ़ी हुई थी। जुलाई १९४७ तक ब्रिटेन का घाटा १०,००० लाख डालर हो गया जिसका प्रभाव यह हुआ कि ब्रिटेन पश्चिमी गोलार्ध में जितना सामान बेचता था उससे तीनगुना अधिक सामान खरीदता था। ब्रिटेन ७०% से भी अधिक डालर ऋण का स्वयं ही उपयोग करता था इसलिए मुद्रा विनियम की स्थिति और भी कठिन हो गई। १० अगस्त को पौंड की संपरिवर्तनीयता रोक दी गयी।

देश के हर क्षेत्र में क्रियाशीलता बढ़ी। अधिक नियंत्रण, अधिक उत्पादन, उत्तम प्रशासन, और नियोजित उपाय अपनाए गए। भारत, पाकिस्तान और मिश्र से जिनके पास बड़ी मात्रा में पौंड पावना थे, समझौते किए गए कि भविष्य में किस दर से पौंडों को डालर में परिवर्तित किया जा सकता है।

स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर अमरीकी सहायता उपलब्ध थी। मार्शल योजना के अन्तर्गत निश्चित रूप से सहायता मिलने की सम्भावना थी। एक बिल के अनुसार

१७ अरब डालर अगले चार वर्ष में योरोप के विकास पर खर्च करने की योजना थी। स्पष्ट था कि ब्रिटेन अमरीका से और अधिक उपदान चाहता था। १९४७ में एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें ब्रिटेन की विदेशी मुद्रा की स्थिति अत्यधिक शोचनीय बतलायी गयी थी।

१९४८ में आयात सम्बन्धी कठिन अनुबन्ध (restrictions) लगाए गए। निर्यात बढ़ाने के प्रयत्न और तीव्र किए गए और यह प्रयत्न भी किया गया कि डालर क्षेत्रों के बदले गैर डालर क्षेत्र से आयात अधिक किया जाय। यह सब ऐसे समय हुआ जब कि अर्थव्यवस्था को अधिकाधिक नियंत्रित किया जा रहा था। लोग लगातार मुद्रास्फीति के दबाव में रहने के कारण १९४७ के अन्त तक थक गए थे। यद्यपि रोजगार बहुतायत से मिल सकता था, तथापि उन्हें बहुत मेहनत करना पड़ता था और बढ़ा हुआ वेतन मिलने पर भी न तो लोगों की रहन सहन की स्थिति ही अच्छी थी और न उपभोक्ता की वस्तुएं ही मिल पाती थीं। बार-बार संयुक्त राज्य अमरीका से ऋण लेने के कारण अपमान से भी लोग थक गए थे।

बचत के बजट. १९४७ में आर्थिक स्थिति संकटग्रस्त थी पर साथ ही विश्वव्यापी तेजी भी आरम्भ हो गई थी। इसलिए १९४८ में क्रिप्स ने ३० करोड़ पौंड का बचत का बजट बनाया। इसके साथ आयात पर कठोर नियंत्रण लगाए गए और सूद की दर थोड़ी बढ़ा दी गई। चान्सलर ने अपील की कि उत्पादन बढ़ाया जाय, लोग कम मजदूरी से संतुष्ट रहें। उन्होंने अनुरोध किया कि लोग सरकार के उत्पादन और निर्यात बढ़ाने के कार्यक्रम में सहयोग करें। इसके परिणाम संतोषजनक रहे। सम्भरण (supply) मांग से थोड़ा अधिक रहा। कुछ नियंत्रण कम कर दिए गए और कुछ लोगों को यह भरोसा हुआ कि मुद्रास्फीति में कमी होने के कारण स्थिति में सुधार होगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी सुधार हुए। १९५१ में भुगतान शेष की स्थिति असंतोषजनक रही पर बाद के वर्षों में बचत घाटे से अधिक रही। इस प्रकार विदेशों में पूंजी लगाने और निधि (reserve) को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध रहा। उपलब्ध धन का अधिकांश भाग ऋण देने में खर्च किया गया।

इन वर्षों में स्थिति सुधरने पर भी डालर की कमी की चिन्ता बराबर थी। इस कमी को सामान्य बचत से नहीं पूरा किया जा सकता था। इन वर्षों में निधि में वृद्धि के साथ साथ दायता (liabilities) भी बढ़ी। इस बचत को विदेशों में निवेश करने के लिए जोर देने पर निधि की स्थिति कमजोर हो गई।

अवमूल्यन. सितम्बर १९४९ में डालर की तुलना में पौंड की कीमत में ३०·५ प्रतिशत का अवमूल्यन (devaluation) किया गया। [illegible] का प्रभाव यह

हुआ कि ब्रिटेन के निर्यात डालर-क्षेत्र में सस्ते हो गए जबकि आयात बहुत मंहगा हो गया। वास्तव में अवमूल्यन इसलिए किया गया था कि निर्यात को प्रोत्साहन मिले और आयात निरुत्साहित हो जिससे कि भुगतान शेष का घाटा जो काफी बढ़ गया था कम किया जा सके।

सितम्बर १६४६ के पहले भुगतान शेष का घाटा अत्यधिक बढ़ जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सट्टेबाजों के पौंड की निधि का मूल्य डालरों में परिवर्तन करने पर कम हो जाता था जिससे कि वे अपने पौंड की निधि को डालर में परिवर्तित करने के लिए प्रोत्साहित हुए। १६४६ के अवमूल्यन के बाद पौंड के विरुद्ध सट्टेबाजी बन्द हो गई। ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था में इससे कोई लाभ नहीं हुआ। यह सही है कि संयुक्त राज्य अमरीका में अधिक निर्यात किया जाने लगा परन्तु यह वास्तव में वहां पर आर्थिक सुस्ती के कारण हुआ।

अवमूल्यन का एक हानिप्रद प्रभाव यह पड़ा कि ब्रिटेन में मुद्रास्फीति के कारण आयात अधिक मंहगा हो गया। इससे निर्वाह व्यय (cost of living) बढ़ गया और मजदूरी और जीवन स्तर ऊंचा करने की मांग बढ़ी। अवमूल्यन का प्रभाव आयात पर बहुत कम पड़ा क्योंकि आयात के ऊपर नियंत्रण होने के कारण वह पहले से ही कम था। कुछ समय तक स्थिति अच्छी रही पर बाद में कठिनाइयां बढ़ने लगीं और अवमूल्यन की अदूरदर्शिता प्रगट होने लगी।

मुद्रा सम्बन्धी नए नियंत्रण. उपरोक्त कठिन परिस्थितियों का सामना करने के लिए मुद्रा सम्बन्धी नियंत्रण लगाए गए। १६५१ के पहले सात महीनों में मजदूरी बढ़ी, और सोने और डालर की निधि में कमी हुई। इसलिए सरकार ने निम्नांकित मुद्रा परिवर्तन किए: (१) बैंक दर २ प्रतिशत से बढ़ा कर २½ प्रतिशत कर दी गई; (२) ट्रेजरी बिलों की ½ प्रतिशत बाजार भाव दर समाप्त कर दी गई; (३) बाजार का सारा कारोबार बैंकों के द्वारा करने की सम्भावना बढ़ाई गयी; (४) बकाया ट्रेजरी बिलों के बदले १० अरब पौंड के निधि ऋण (funding loan) की घोषणा की गयी; और (५) पब्लिक वर्क्स लोन बोर्ड का व्याज दर ३ से ३¾ प्रतिशत कर दिया गया। इन उपायों को नवम्बर १६५१ से लागू कर दिया गया।

आर्थिक गतिरोध का काल (१६५१-६५)

जैसे पहले कहा जा चुका है महायुद्ध के बाद ब्रिटेन को विदेशी विनिमय के संकट का सामना करना पड़ा। १६५१ के बाद यह संकट काबू में आ गया। इसी बीच अनुदार दल की सरकार बनी और आर्थिक विचारधारा में नया मोड़ आया। यह अनुभव किया जाने लगा कि विश्व बाजार के समस्त प्रतियोगी देशों में ब्रिटेन के

ार्थिक विकास की गति सबसे कम है। राष्ट्रीय आय, उत्पादन, और श्रम की त्पादकता पर किसी भी देश का आर्थिक विकास निर्भर है पर इनका विकास ब्रिटेन धीमी गति से हुआ। विकास की इस धीमी गति को ब्रिटेन के आर्थिक संकट का मूल ारण समझा गया।

योरोपीय साझा मण्डी के छः देशों के १९५२-५६ काल के आर्थिक विकास ो देखते हुए यह पता चलता है कि ब्रिटेन के विकास की दर नीदरलैंड के आधे से ुछ ही अधिक थी और जर्मनी के विकास के आधे से भी कम थी।

पोलिटिकल इकनामिक प्लानिंग[1] की रिपोर्ट (Growth in British Economy) से पता चलता है कि १९३८ को आधार मान कर बाजार भाव पर कुल राष्ट्रीय उत्पादन के परिमाण का सूचकांक १९५७ में सब से कम था। यह संयुक्त राज्य अमरीका में २२९ था, पश्चिमी जर्मनी में २२० था, आरगेनाइजेशन फार योरोपियन इकनामिक कोआपरेशन (OEEC) देशों में १५९ था और यूनाइटेड किंगडम में केवल १३५ था। औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक की भी यह दशा थी। १९५० को आधार वर्ष मान कर १९५८ में उत्पादन का सूचकांक संयुक्त राज्य अमरीका में ११९ था, पश्चिमी जर्मनी में २११, आरगेनाइजेशन फार योरोपियन इकनामिक कोआपरेशन देशों में १५५ था, जब कि यूनाइटेड किंगडम में १२१ था। जहां तक प्रति व्यक्ति उत्पादकता का प्रश्न है, यूनाइटेड किंगडम में (१९५३ को आधार वर्ष मान कर) सूचकांक ११० था, पश्चिमी जर्मनी में १३३, और फ्रांस में १४० था। उपर्युक्त रिपोर्ट का यह निष्कर्ष था कि अन्य देशों की तुलना में ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के विकास की गति अत्याधिक कम थी। यद्यपि ब्रिटेन अन्य देशों की तुलना में धनी देश था, तथापि १९६० के दशक में यदि आर्थिक विकास की यही गति रही तो कुछ ही वर्षों में ब्रिटेन में जीवन का स्तर बहुत कम हो जाएगा।

यहां राष्ट्रीय उत्पादन के आधे से थोड़ा ही कम अभौतिक वस्तुओं के रूप में है जैसे परिवहन, खुदरा व्यापार, चिकित्सा परिचर्या तथा राज्य के द्वारा दी जाने वाली अन्य सेवाएँ। इतने बड़े अनुपात में इन सेवाओं का उपलब्ध होना लोगों के ऊंचे जीवन स्तर होने का प्रमाण है। यदि हम केवल भौतिक वस्तुओं के सम्पूर्ण आंकड़ों को देखें तो हमें पता चलेगा कि स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है। परन्तु

---

[1] पोलीटिकल इक्नामिक प्लानिंग (PEP) एक स्वतंत्र, गैर-राजनीतिक संस्था है। इसकी स्थापना १९३१ में हुई थी और तब से इसने अन्वेषण के आधार पर नीति निर्धारण करने का बराबर सुझाव दिया है। इसके उद्देश्य व्यावहारिक हैं। यह संस्था सार्वजनिक महत्व की समस्याओं का अध्ययन करती है, तथ्यों का पता लगाती है, उनको निष्पक्ष भाव से प्रचारित करती है और सुझाव देती है।

विदेशों के औद्योगिक उत्पादन के आंकड़े देखने से पता चलेगा कि ब्रिटेन का आर्थिक विकास योरोप के अन्य देशों और विश्व के अन्य औद्योगिक देशों से अधिक पिछड़ा हुआ है। इस प्रकार इस परिणाम पर पहुंचने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि ब्रिटेन गतिहीन (undynamic) देश बन गया है। कुछ लोगों का कहना है कि यह निष्क्रिय (stagnant) देश हो गया है।

१९५१ के बाद ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में निष्क्रियता आ गयी है। इसका मुख्य कारण बढ़ती हुई मजदूरी और वस्तुओं के ऊँचे मूल्य हैं। अन्य देशों की तुलना में ब्रिटेन में मजदूरी की दरें कम बढ़ी हैं परन्तु यहाँ उत्पादन में वृद्धि मजदूरी की दरों की वृद्धि से कम हुई है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अन्य देशों की तुलना में यहां मूल्यों में अधिक वृद्धि हुई। सम्पूर्ण व्यय और बिक्री के लिए उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं के अन्तर पर मूल्य आश्रित होते हैं। यदि लोगों के पास व्यय करने के लिए अधिक धन है, तो मूल्यों को कम रखने का एक ही साधन है कि आयात बढ़ाया जाय। युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन में समय समय पर भुगतान शेष का संकट उत्पन्न होता रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि निवेश (investment) कम करना पड़ा जिससे कि औद्योगिक उत्पादन का विकास धीमा हुआ।

मंद गति के कारण

ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के विकास की मंद गति के अनेक कारण बतलाए जाते हैं। पोलिटिकल इक्नामिक प्लानिंग (PEP) के अध्ययन दल के प्रतिवेदन में इसके महत्वपूर्ण कारणों का उल्लेख है। उनका संक्षिप्त वर्णन निम्नांकित है:

राष्ट्रीय आय के अनुपात में निवेश. पश्चिमी देशों की तुलना में ब्रिटिश निवेश दर और सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन का अनुपात बहुत कम है। निवेश दर में कमी के कारण ही उत्पादन में वृद्धि कम हुई है। राष्ट्रीय उत्पादन की तुलना में निवेश की न्यून दर का यदि सम्पूर्ण जनसंख्या के प्रति व्यक्ति के हिसाब से ऊंचे निवेश दर से तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो यह पता चलता है कि निवेश की उत्पादकता उतनी ऊंची नहीं थी जितनी कि अन्य देशों में है।

सक्रिय जनसंख्या के समुचित विकास में कमी. १९५० के दशक में ब्रिटेन की तुलना में पश्चिमी जर्मनी और फ्रांस में सस्ते श्रमिक उपलब्ध होने के कारण उन्हें अधिक लाभ हुआ। जर्मनी में बड़ी संख्या में बेरोजगार लोग थे और फ्रांस के विशाल कृषि क्षेत्र की मंद विकास गति के कारण कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिकों का स्थानान्तरण करना सम्भव हुआ। ब्रिटेन में अब यह स्थिति है कि कृषि में लगी जनसंख्या सम्पूर्ण सक्रिय जन संख्या की केवल ४ प्रतिशत है और कृषि की उत्पादकता

औद्योगिक उत्पादकता के लगभग बराबर है। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात कृषि में लगे श्रमिकों का बड़ा भाग पिछले पन्द्रह वर्षों में उद्योगों में स्थानान्तरित हुआ है तथापि उनकी संख्या न तो इतनी अधिक है और न भविष्य में उसमें कोई विशेष वृद्धि होने की सम्भावना है जिससे कि कुल औद्योगिक जनशक्ति पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव पड़े।

यूनाइटेड किंगडम में रोजगार का स्तर बहुत ऊँचा रहा है। परन्तु सम्पूर्ण रोजगार की इस स्थिति तथा आर्थिक विकास की अनुकूलतम (optimum) दर में सामंजस्य नहीं है। श्रमिकों की अत्यधिक कमी और कार्य के अवसरों की अधिकता से उद्योगों के लचीलेपन में कमी आ गई है। इससे श्रमिकों के अपव्ययपूर्ण निसंचय (hoarding) तथा अकुशल उपयोग को प्रोत्साहन मिलता है। विशेष प्रकार के कुशल श्रमिकों की भारी कमी से उत्पादन में कमी हुई। कुछ उद्योगों की कार्यक्षमता बहुत अधिक थी जिससे यह पता चलता है कि उनमें इतनी अधिक पूँजी लगा दी गई है कि उसकी क्षमता के अनुरूप श्रमिक कभी उपलब्ध नहीं हो पाएँगे। यदि श्रमिक अच्छे औद्योगिक संस्थानों में कार्य करने के लिए तत्पर रहते तो पूँजी का इतना अधिक अपव्यय न होता।

सार्वजनिक क्षेत्रों में पूँजी का असंतुलित वितरण. युद्धोत्तर काल में सार्वजनिक क्षेत्रों में लगी पूँजी के अध्ययन से पता चलता है कि पूँजी का वितरण समान रूप से नहीं हुआ है। कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहां बहुत पूँजी और कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहां आवश्यकता से कम या बिल्कुल पूँजी नहीं लगी है। इससे पूँजी पर प्रतिलाभ (return) कम मिलता है। इससे यह भी पता चलता है कि जनसंख्या के आधार पर पूँजी लगाने की दर बहुत अधिक है, यद्यपि उत्पादन की तुलना में बहुत कम है।

सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि भवनों और सामाजिक सेवाओं में पूँजीगत खर्च सम्पूर्ण सार्वजनिक क्षेत्र में लगी कुल पूँजी का लगभग एक-तिहाई है। इसका बड़ा भाग आवास भवनों के निर्माण में लगा है। और उससे कहीं कम स्कूल, अस्पतालों तथा अन्य भवनों में लगा है। वैसे तो यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रिटेन में सामाजिक पूँजी खर्च में अपव्ययता की गई है पर कुछ अर्थशास्त्रियों का कथन है कि यह व्यय उत्पादक नहीं है, क्योंकि इससे उपभोग को प्रोत्साहन मिलता है। साथ ही इससे विकास में गतिरोध हुआ है।

उपरोक्त तर्क से भी सभी अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ सहमत नहीं हैं। पूँजी का बड़ा भाग परोक्ष रूप से उत्पादक है। शिक्षा, आवास, जन स्वास्थ्य, इत्यादि में लगी पूँजी से कार्यकुशलता और उत्पादकता में वृद्धि होती है। दूसरे, सामाजिक

सेवाओं के कारण स्वास्थ्य और चिकित्सा तथा अन्य सामाजिक सेवाओं से सम्बन्धित निजी उपभोग व्यय में कमी होती है। सामाजिक सेवाओं पर कुल सार्वजनिक तथा निजी व्यय १९३८-३९ की तुलना में १९५८-५९ में कम था। तीसरे, किसी भी दृष्टि से सामाजिक सेवाओं पर व्यय विश्व के किसी अन्य धनी देश से अधिक नहीं है। पोलिटिकल इक्नामिक प्लानिंग की रिपोर्ट के अनुसार मंद आर्थिक विकास के कारण कुछ और हैं तथा वास्तव में कल्याण सेवाओं पर व्यय "अत्यधिक" नहीं कहा जा सकता। यह व्यय तो केवल उतना ही है जितना किसी कल्याणकारी राज्य के लिए करना आवश्यक है।

सार्वजनिक पूँजी के आंकड़ों में राष्ट्रीयकृत उद्योगों में लगी पूँजी भी सम्मिलित है। कुछ उद्योगों में लगी पूँजी तो बहुत अधिक है। कोयला, बिजली, परिवहन आदि उद्योगों में पूँजी भविष्य की सम्भावित मांग के आधार पर लगायी गई है और उसमें व्यापारिक प्रतिफल (consideration) का विचार नहीं रखा गया है जैसा कि निजी उद्योगों में किया जाता है। अन्य अधिक प्रतिफल देने वाले उद्योगों की तुलना में कोयला खनन उद्योग में पूँजी को प्राथमिकता दी गयी। वर्तमान परिस्थितियों में कोयले की मांग अब अधिक नहीं है, इसलिए अब अन्य अधिक उत्पादक उद्योगों में पूँजी लगाना श्रेयस्कर होगा। रेल उद्योग में बहुत दिनों तक पूँजी की बहुत कमी रही क्योंकि अन्य कम उपयोगी क्षेत्रों में पूँजी को प्राथमिकता दी जाती थी।

राष्ट्रीयकृत उद्योगों में मूल्य नीति. सरकार के विरुद्ध प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि सार्वजनिक क्षेत्रों में उपभोक्ता पदार्थों की कीमतें इतनी कम रखी जाती हैं कि उद्योग और उद्यम के समुचित विकास को प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। सरकारी मूल्यनीति के कारण सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी लगाने में प्रायः सतर्कता बरतना सम्भव नहीं होता। किसी-किसी उद्योग में पूँजी आवश्यकता से कम है और कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक पूँजी लगा दी जाती है। इसका प्रभाव पूँजी की उत्पादकता और उद्यम की कुशलता पर पड़ता है। बिजली उद्योग में इतनी अधिक पूँजी लगाने की आवश्यकता नहीं थी यद्यपि भविष्य में प्रसार की दृष्टि से यह ठीक था: यदि कोई ऐसी विधि खोज निकाली गयी होती जिससे व्यस्ततम काल (peak period) के उपभोक्ताओं को मंहगे दर पर बिजली देना सम्भव होता तो इतनी अधिक पूँजी लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। व्यस्ततम काल में बिजली पर अधिक खर्च आता है और इस काल के उपभोक्ताओं को मंहगे दर पर बिजली देकर खर्चा निकल आता। यही तर्क न्यूक्लीय (nuclear) बिजली घरों के साथ भी लागू होती है। इन पर अन्य निदेशों (investment) से बहुत अधिक खर्च आता है। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि अब कोयले की बहुतायत है और कोयले से चलने वाले

बिजलीघरों के लिए कोयला आदर्श ईंधन होने के कारण अब अत्यधिक खर्चे से बनने वाले न्यूक्लीय बिजली घरों के निर्माण की आर्थिक तर्कसंगति नहीं रह गयी है। कई वर्षों तक इस बात पर जोर दिया जाता था कि उपभोक्ताओं के कोयले के मूल्य में वृद्धि की जाय जिससे सीमान्त मांग कम की जा सके। अनेक अनार्थिक इकाइयां हानि उठाते हुए भी कार्यरत हैं। उदाहरणार्थ मूल्य तथा प्रतिचालन (operating) नीति पर सरकारी प्रतिबन्ध के कारण, रेलों को बहुत हानि उठानी पड़ी है।

सरकारी मूल्य नीति के सम्बन्ध में कुछ बातें विचारणीय हैं। राष्ट्रीयकृत उद्योगों के उत्पादों तथा सेवाओं का मूल्य अन्य क्षेत्रों की तुलना में जानबूझ कर कम रखा गया है। इससे स्फीति-प्रवृत्ति अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में स्थानान्तरित करना सम्भव है क्योंकि उपभोक्ता इन वस्तुओं और सेवाओं के लिए ऊँचे मूल्य बिल्कुल नहीं देना चाहते। ऐसी स्थिति में कम ब्याज वाले सरकारी ऋणों के द्वारा पूँजी लगानी पड़ती है। इन उद्योगों में प्रचलित मूल्यों के कारण समुचित लाभ की गुँजाइश नहीं रह जाती। निजी क्षेत्र के मूल्यों की तुलना में इसका प्रभाव सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बुरा पड़ा। निजी क्षेत्रों के मूल्यों में बढ़ता हुआ लाभ सम्मिलित रहता है। सरकारी निवेश कार्यक्रमों (investment programmes) के कारण मुद्रास्फीति कम करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। किन्हीं विशेष उत्पादों के मूल्यों को कम रखने से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में स्फीति के कारण मूल्य वृद्धि रोकने में सहायता मिलती है, इसमें संदेह है। परन्तु यह निश्चित है कि सरकारी मूल्य नीति के कारण प्रत्येक वर्ष नए ऋणों के द्वारा निवेश प्राप्त करने से स्फीति रोकने में बड़ी कठिनाई होती है।

उद्योगों के आर्थिक प्रतिफलों को ध्यान में रखते हुए उपभोक्ता मूल्य जितना होना चाहिए उससे कहीं कम सार्वजनिक क्षेत्रों में निश्चित किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उद्योगों को घाटा होता है और उनकी लागत बढ़ती है। इससे एक ओर तो उद्योग को हानि उठानी पड़ती है और दूसरी ओर उपभोग को प्रोत्साहन मिलता है। यह स्थिति बिजली, रेल और गैस उद्योग में उत्पन्न हुई। उपभोक्ता मूल्य कम रखकर उद्योग की लागत बढ़ने से पूँजी प्रतिफल में कमी हुई। ऐसे उद्योगों में बड़ी मात्रा में पूँजी लगाने से उत्पादकता में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई।

सामाजिक सुरक्षा सेवाओं की वित्त व्यवस्था. उद्योगों द्वारा हानि उठाकर उपभोक्ताओं को लाभ पहुँचाने का एक अन्य उदाहरण सामाजिक सुरक्षा सेवाओं की वित्त व्यवस्था है। योरोपीय देशों में यह सेवाएँ बीमा के द्वारा उपलब्ध की जाती

है और इसकी लागत को मालिक, उपभोक्ता और सरकार बराबर बराबर वहन करते हैं। ब्रिटेन में कुल सामाजिक सुरक्षा लाभ के ½ भाग से अधिक सरकार वहन करती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी का कुछ भाग लाभ पर सामान्य कर के रूप में अदा किया जाता है जबकि यह श्रम सम्बन्धी व्ययों में सम्मिलित होना चाहिए। इस प्रकार एक विकृत रूप सामने आता है। इससे अधिक श्रमिकों को काम पर लगाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है और श्रमिक के स्थान पर पूँजी लगाना निरुत्साहित होता है। इससे उत्पादकता में भी कमी होती है और पूँजी लगाना अलाभप्रद हो जाता है।

अधिकाधिक कर. कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह आरोप लगाया है कि कर का स्तर इतना ऊँचा है कि उद्यम और उत्पादकता पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा है। इस सम्बन्ध में मतभेद है।

पोलिटिकल इक्नामिक प्लानिंग रिपोर्ट के अनुसार कराधान से आर्थिक विकास तथा विज्ञान एवं वाणिज्य के लिए धन उपलब्ध कराने में बड़ी सहायता मिलती है। कराधान के कारण अर्थव्यवस्था में उत्पन्न गड़बड़ियों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि व्यय कम करने का काफी अवसर है क्योंकि करों को समाप्त करने से अन्य अपव्ययों को प्रोत्साहन मिलेगा।

औद्योगिक करों में छूट देने के कारण पूँजीगत सम्पत्ति का मूल्य ह्रास उठाना पड़ा। ब्रिटेन में यह छूट, प्रतिस्थापन खर्च के आधार पर होने के स्थान पर ऐतिहासिक आधार पर आश्रित हैं। अतएव यह मूल्यों में वृद्धि होने पर अपर्याप्त हो जाता है। उसी तरह (अप्रैल १९५८ तक) लाभ कर तथा वितरित लाभ विषयक भेदमूलक कार्यवाही के फलस्वरूप पूँजी और निवेश की गतिशीलता में बाधा पड़ी। मृत्यु कर इतना अधिक बढ़ा दिया गया था कि इस कारण अनेक पारिवारिक व्यावसायिक संस्थाओं ने अनेक वर्षों तक अपनी निधि को बेकार रखा। क्रय कर के स्तर में हाल के हेर फेरों से भी अनेक उपभोक्ता सामग्री उत्पादक उद्योगों का उत्पादन प्रभावित हुआ। परन्तु पोलिटिकल इकनामिक रिपोर्ट का निष्कर्ष था कि जब इस तरह से कर आय के श्रोतों के बजाय सरकारी नीतियों के उपकरणों के रूप में प्रयोग किया जाता है, तब उन्हें अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। इन नीतियों के निर्णय के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि इनसे वे नीतिया प्रभावशाली ढंग से पूरी हुई अथवा नहीं।

अत्यधिक सुरक्षा व्यय. ब्रिटेन राष्ट्रीय सुरक्षा पर प्रतिशत और पूर्ण राशि दोनों की दृष्टि से अत्यधिक व्यय करता रहा है। १९५० और १९५३ के बीच

सुरक्षा व्यय लगभग दूना अर्थात १९५२-५३ में १४,००० लाख पौंड हो गया था। यह वृद्धि कोरिया युद्ध के कारण हुई। युद्ध के बाद भी आर्थिक-व्यवस्था पर बोझ भारी ही रहा। १९५३ में सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय आय के १० प्रतिशत की आवश्यकता थी जब कि यह १९५० में केवल ७ प्रतिशत थी। १९४६ में ९ प्रतिशत थी तथा श्रमयोग्य जनता के ७ प्रतिशत लोग या तो सैनिक सेवा में और या उसकी सहायक सेवा में लगे थे। धातु का उपयोग करने वाले उद्योगों के उत्पादन का लगभग आठवां भाग सेना में खर्च हो जाता था। १९५७ में ब्रिटेन में दूरवर्ती सुरक्षा योजना तैयार की और तब से समुद्र पार स्थित ब्रिटिश सेवाओं पर भारी व्यय हो रहा है। इसका उसकी सन्तुलित भुगतान सम्बन्धी स्थिति पर बहुत ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है।

यहां तक कि १९६१-६५ में सुरक्षा व्यय में कमी नहीं हुई है। आधुनिक शस्त्रों की जटिलता के कारण सुरक्षा व्यय भार घटाना कठिन हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि योरोप के अन्य देशों की तुलना में ब्रिटेन सुरक्षा पर अधिक व्यय कर रहा है, पर इसका उसके प्राकृतिक साधनों और अनेक वस्तुओं के भारी आयात के कारण प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में पूंजीगत कार्यक्रमों को घटाया जा रहा है।

संतुलित भुगतान की समस्या. हम यह तो नहीं कह सकते कि ब्रिटेन में संतुलित भुगतान की समस्या अभी भी कठिन है पर यह बहुत समय से जारी है तथा इसने युद्धोत्तर काल में ब्रिटिश व्यवस्था के विकास में बाधा डाली है। बहुत कुछ संकट पर नियंत्रण पाया जा चुका है पर इसका ब्रिटिश सरकार की अर्थव्यवस्था पर भार पड़ा है। समय समय पर निर्यात अपर्याप्त रहे हैं। निर्यात वृद्धि के उद्देश्य की पूर्ति के लिए घरेलू पूंजीगत कार्यक्रमों को संकुचित करना पड़ा है। साथ ही कच्चे माल के आयात पर रुकावटों के कारण वस्तु निर्माण करने वाले उद्योगों के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। अधिक उत्पादन के लिए अधिक आयात आवश्यक है क्योंकि ब्रिटेन के उद्योग बहुत कुछ कच्चे माल के आयात पर आश्रित हैं। यदि आयात पर प्रतिबन्ध लगाया जाय तो उत्पादन गिरेगा।

अत्यधिक उपभोग. अन्य देशों से तुलना करने पर प्रगट होता है कि ग्रेट ब्रिटेन अन्य योरोपीय देशों की अपेक्षा राष्ट्रीय उत्पादन का बहुत बड़ा हिस्सा स्वयं उपभोग में लाता है। यद्यपि १९३८ से उपभोग पर अनेक प्रतिबन्ध लगे हैं फिर भी कुल राष्ट्रीय उत्पादन का बहुत बड़ा भाग उपभोग में आता ही है।

सरकार मांग के भार को पर्याप्त मात्रा में नियंत्रित नहीं कर सकी है और यह बहुत बढ़ी-चढ़ी रही है। उत्पादन व्यय में भी निरन्तर वृद्धि हुई है। आर्थिक क्षेत्र

में मंद प्रगति का मुख्य कारण यह समझा जाता है कि जनता राष्ट्रीय आय का बहुत सा भाग अपने उपभोग में खर्च कर देती है।

श्रमिक संघों का दोषपूर्ण गठन. गतिहीन जीवन के लिए अंशतः ब्रिटिश श्रमिक संगठन उत्तरदायी है। यह सत्य है कि दूसरे देशों में भी जिनसे हम ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के विकास की तुलना करते हैं श्रमिक संगठनों की गतिविधियां बढ़ी हैं पर वे अन्य देशों की अपेक्षा इंगलैंड में अधिक प्रभावशाली और हानिकर हैं। प्रारम्भिक दिनों में श्रमिक संगठन पूर्णतः दस्तकारी के आधार पर संगठित थे। ये जड़ें अब भी हैं और ऐसा अनुभव किया जाता है कि दस्तकार बहुत कुछ प्रथकतावादी थे और हैं। वे समान व्यवसायों में भेदों पर जोर देते हैं और बड़े समूहों के स्थान पर छोटे समूह संगठित करते हैं। वे सामाजिक पदों और भेदों पर जोर देते हैं। फिर भी इस प्रकार की ईर्ष्या सहयोगी श्रमिकों के साथ एकता बढ़ाने और मालिकों के विरुद्ध संघर्ष करने में वाधक नहीं होती। ब्रिटिश श्रमिक संघ मुख्यतः अधिक वेतन, रहन सहन की अच्छी स्थितियों तथा जीवन स्तर व्यय के हिसाब से आर्थिक स्थितियों में, सहज ही सुधार के लिए यत्नशील रहे हैं। वे मालिकों पर इस प्रकार दबाव डालते हैं कि किसी भी श्रमिक को अलग किए बिना कारखाने में शिल्पिक परिवर्तन किए जायं, भले ही इसके फलस्वरूप कुछ लोगों को अलग करने की स्थिति पैदा हो जाय। इस तरह यह प्रबल संगठन हैं और वे वर्गीय स्वार्थों के शिकार हैं। ये हिंसावादी संगठन हैं और इनके सदस्य छोटे मोटे तर्कहीन और तोड़फोड़ के कार्यों में भी प्रायः जुट जाते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्तियां अमरीकी श्रम संगठनों में भी हैं पर उनकी एक विशेषता यह है कि वहां श्रमिक आन्दोलन में एक अग्रगामी शक्तिशाली वर्ग है जो इस प्रकार की प्रवृत्तियों के सर्वथा विरुद्ध है। शौनफील्ड ने लिखा है कि "दुर्भाग्यवश ब्रिटेन में दस्तकारी श्रमिक संगठन सम्बन्धी विचारों के विरुद्ध उस तरह का विद्रोह नहीं हुआ है। जब अकुशल श्रमिक आए और संगठित होने लगे तो वे परम्परावादी श्रमिक संगठनों के ढांचे में शीघ्रता से अपना लिए गए और समन्वित (integrated) कर दिए गए। उनका मान्य हल यही था कि नए संगठन के मध्य में कुशल कार्यकर्त्ताओं का विश्वसनीय संगठन हो जो अनेक छोटे श्रम संगठनों को संरक्षण प्रदान कर सामान्य श्रमिक संघ सुसंगठित करें।"

ब्रिटेन में श्रमिक संगठनों के नेतृत्व में राजनीतिक दायित्व की उच्च भावना है। भूतकाल में कुछ और आज भी, अनेक महत्वपूर्ण श्रमिक नेता, उत्तरदायित्व पूर्ण प्रशासकीय कार्य करते रहे हैं, तथा युग के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करते रहे हैं। उनकी योग्यता तथा बुद्धिमानी को देखते हुए ट्रेड यूनियन कांग्रेस के द्वारा कारखाना स्तर पर मूलभूत समस्याओं को ही हल करने में लगा रहना अनुपयुक्त

था। इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा गया है, "जब ये लोग ट्रेड यूनियन कांग्रेस के मंच से बोलते हैं तो उसमें प्रायः आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर बड़े आदर्शों की झलक मिलती है। स्वचलता (automation) जैसे विषय पर उनके विचार बड़े प्रबुद्ध (enlightened) है, वे सदैव ऊँची उत्पादिकता पर जोर देते हैं, उन्हें प्रतिबन्धक कार्यप्रणाली (restrictive practices) पर बड़ी चिन्ता होती है। लागत और मूल्यों पर उनके विचार पुष्ट हैं। परन्तु जब इन सिद्धान्तों के व्यवहार की बात आती है तो ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अपनी इन शाखाओं पर कोई प्रभावशाली नियंत्रण नहीं रहता। जो लोग जनरल कौंसिल के सदस्यों के रूप में तर्क सम्मत बात करते हैं वे ही जब अपने संघ की कार्यकारिणी समिति में पहुँचते हैं तो वर्गगत, स्वार्थों के रक्षक के रूप में हिंसावादी रुख ग्रहण कर लेते हैं। इस तरह श्रमिक संघों के मामलों को मुख्य रूप से प्रभावित करने वाले प्रबन्धकर्त्ताओं की संकीर्ण भावनाओं को नियंत्रित करने की कोई सम्भावना नहीं है।

ब्रिटिश श्रमिक संगठन के कार्यकर्त्ता उद्योगों के उत्पादन वृद्धि आन्दोलन में भाग लेने या राष्ट्र के औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने में सहायक नहीं होते। वे अपने जीवन स्तर के सूचकांक स्वयं तैयार नहीं करते और औद्योगिक उत्पादन की गति तथा राष्ट्रीय अन्य विषयक हिसाब नहीं लगाते, जैसा सामान्यतः अन्य देशों में आजकल होता है।

युद्धोत्तर काल में ब्रिटिश श्रमिक संघ आन्दोलन की निर्बलता का एक कारण यह रहा है कि इसके बहुत से योग्य कार्यकर्त्ता राष्ट्रीय राजनीति में अधिकतर उलझे रहे हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण अर्नेस्ट बेविन थे जिनकी सेवाएँ किसी न किसी मंत्री पद के लिए ली गईं। श्रमिक और व्यावसायिक क्षेत्र में व्यक्तिगत उत्साह और पहल (initiative) की कमी रही है। एक ब्रिटिश इंजीनियर ने अमरीकी इंजीनियरिंग उत्पादन के अध्ययन के आधार पर कहा है कि संयुक्त राज्य अमरीका में अधिक उत्पादन का एक मुख्य कारण यह है कि सामान्यतः वहाँ ऐसा वातावरण है कि कुछ भी असम्भव नहीं है और अधिकांश कार्यों को करने की चेष्टा में हर तरह का प्रोत्साहन मिलता है। इसके विपरीत ब्रिटेन में ऐसी भावना प्रतीत होती है कि अधिकांश काम असम्भव है और उनके लिए चेष्टा करना भी सम्भव नहीं है।

औद्योगिक प्रबन्ध में दोष. श्रमिक संगठनों के दोषों के विरुद्ध दूसरा दृष्टिकोण यह है कि औद्योगिक विकास में गड़बड़ी का मुख्य कारण दोषपूर्ण प्रबन्ध है। ब्रिटिश उद्योगों को चलाने वाले लोगों में व्यावसायिक विशेषज्ञता का अभाव है। वे नई और उपयोगी विधियों के प्रति उदासीन हैं और उत्पादन के पुराने तरीकों को जारी रखना चाहते हैं। ब्रिटिश कपड़ा उद्योग और जहाज निर्माण के ह्रास के

मुख्य कारण प्रबन्ध सम्बन्धी ही हैं। ब्रिटिश जहाज निर्माण उद्योग की जापानी जहाज निर्माण उद्योग से तुलना करने में यह स्पष्ट है कि जापानी जहाज निर्माताओं को एक जहाज तैयार करने में ९ महीने लगते हैं जब कि उसी तरह के जहाज निर्माण में ब्रिटिश निर्माताओं को १८ महीने लगते हैं। जापानी जहाज बनाने वाले कारखानों में उत्पादन तेजी से होता है। उसमें ठेके या व्यावसायिक कार्य विभाजन से कोई गड़बड़ी नहीं होती। इंजीनियरिंग के क्षेत्र में सभी नवीन प्रगतियों में गहरी दिलचस्पी ली जाती है। ब्रिटिश उद्योग तथा इसके संचालक योरोप के अन्य देशों की तुलना में मंद प्रगति से ही संतुष्ट मालूम पड़ते हैं। आर्थिक क्षेत्र की विभिन्न गतिविधियों में एक मनोवैज्ञानिक गतिहीनता है जिसके कारण अनेक उद्योगों में नवीन उत्पादन विकसित करने के लिए तकनीकी प्रगति नहीं हो रही है। यह सत्य है कि ब्रिटेन का एक लम्बा इतिहास है जब कि प्रबन्धकों ने कठिन परिश्रम और अग्रगामिता दिखाई है पर यह आश्चर्यजनक बात है कि ये गुण आज अचानक अदृश्य हो गए हैं। सम्भव है कि इस गतिहीनता का मुख्य कारण प्रबन्ध व्यवस्था में कार्य की पर्याप्त तीव्रता का अभाव हो।

मुद्रास्फीति. युद्धोत्तर काल में ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के सामने मुद्रास्फीति की मुख्य समस्या रही है। यह गतिहीन समाज का भी एक मुख्य कारण रहा है। १९४८ और १९५९ के बीच फुटकर वस्तुओं के दाम ८० प्रतिशत से भी अधिक बढ़ गए। इस कारण ब्रिटेन को मुद्रास्फीति से संसार के अन्य विकसित देशों की अपेक्षा अधिक क्षति हुई। मुद्रास्फीति को रोकने वाली कार्यवाही अप्रिय और कष्टदायक रही है क्योंकि लोग स्वभावतः पैसा खर्च करते और अपने जीवन स्तर को सुधारते हैं विशेषतः ऐसी स्थिति में जब कि सभी रोजगार में लगे हों और उनके पास पर्याप्त मात्रा में पैसा हो। ऐसे संसार में जहां अन्तर्राष्ट्रीय मुक्त व्यापार पूर्णतः प्रतियोगात्मक स्तर पर हो मूल्य प्रक्रिया के आधार पर मुद्रास्फीति और मंदी स्वयं नियंत्रित होनी चाहिए। पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। जब वस्तुओं की कमी हो तथा खरीदारों के पास पैसा अधिक हो तो मूल्य बढ़ते ही हैं। इस स्थिति में नियंत्रण सम्बन्धी ढील ढाल से मूल्यों का बढ़ना नहीं रुकता। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन ने बहुत कुछ सीमा तक मुद्रास्फीति का आयात किया। आयात-निर्यात मूल्य अनुपात में परिवर्तन के कारण आयात की गयी वस्तुओं की लागत तेजी से बढ़ गयी। इसके फलस्वरूप कच्चे माल की लागत बढ़ गयी। उद्योगपतियों ने इसे मंहगे मूल्यों के रूप में उपभोक्ताओं के ऊपर थोप दिया। श्रमिकों ने वेतन वृद्धि की मांग की। श्रमिक संगठनों ने इन मांगों को पूरा कराया। इस तरह श्रमिक संगठनों ने भी परोक्ष रूप से मुद्रास्फीति बढ़ायी। सरकार ने भी अनेक ऐसी कार्यवाहियां कीं जिनसे लागत बढ़ी।

क्षेत्रीय बेकारी. यूनाइटेड किंगडम में कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिन्हें समस्या-क्षेत्र (problem areas) कहा जाता है। उन्होंने भी राष्ट्रीय आर्थिक विकास की गति में रोड़े अटकाए। चूँकि सरकार मुद्रास्फीति विरोधी नीति का अनुसरण कर रही थी, कुछ क्षेत्रों में बेकारी बढ़ गई। देश के सामने उत्तरी क्षेत्र और दक्षिणी क्षेत्र की भिन्न सम्भावनाओं के रूप में गम्भीर समस्या है। कहा जाता है कि १९६० के बाद से ब्रिटेन के सामने सबसे कड़ी और सबसे खतरनाक घरेलू समस्या' उत्तरी और दक्षिणी क्षेत्र में सामाजिक और आर्थिक असंतुलन की है।

क्षेत्रीय रोजगारी के ताजे आंकड़े उत्तर इंगलैंड और स्काटलैंड के लिए संतोष-जनक नहीं हैं क्योंकि इन दोनों क्षेत्रों में ४½ प्रतिशत से भी अधिक लोग बेकार हैं। लन्दन और दक्षिणी पूर्वी क्षेत्र में १·५ प्रतिशत से कम बेकार नहीं है। उत्तरी आयरलैंड सबसे पिछड़ा क्षेत्र है और वहां लगभग ७·१ प्रतिशत बेकारी है।

विभिन्न कार्यक्रम तथा उपाय

ब्रिटिश राष्ट्रीय सम्पत्ति के धीमे विकास से अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हुईं। इसके लिए विभिन्न सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं ने अनेक उपायों का सहारा लिया।

पोलिटिकल इक्नामिक प्लानिंग (PEP) के उपाय. इस संस्था के अध्ययन दल ने विकास की गति बढ़ाने के लिए अनेक सुझाव दिए: (१) निवेश बढ़ाने से उत्पादकता में वृद्धि हो सकती है। (२) श्रम बचत करने वाले निवेशों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। (३) श्रम की गतिशीलता बढ़ाने के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए, विशेषतयः ह्रासोन्मुखी उद्योगों से बढ़ते हुए उद्योगों की ओर। (४) तकनीकी शिक्षा बढ़ाने के लिए प्राथमिकता दी जानी चाहिए। अध्यापकों की कमी भवनों की कमी से किसी प्रकार कम नहीं है क्योंकि उनकी पूर्ण आवश्यकता काफी धन व्यय करके भी नहीं पूरी की जा सकती है। कुशल कारीगरों और वैज्ञानिकों की संख्या तो धीरे-धीरे ही बढ़ाई जा सकती है चाहे टेकनिकल कालेजों से निकले विद्यार्थियों की संख्या बढ़ा ही क्यों न दी जाय। (५) आर्थिक विकास के लिए सामान्य शिक्षा का स्तर ऊँचा होना अनिवार्य है, इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि शिक्षा पर व्यय बढ़ाना चाहिए। उत्पादकता में वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिक शिक्षित और बुद्धिमान हों। (६) सरकार की मूल्य नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे निवेश के लिए धन प्राप्त करने की सम्भावना बढ़े। मूल्य सही तथा तर्क-पूर्ण सिद्धान्तों पर निर्धारित किया जाना चाहिए। अब तक मूल्य नीति ऐसी थी कि जिससे उपभोक्ताओं को तो लाभ होता था परन्तु इससे उद्योग को धक्का लगता था।

इसलिए सार्वजनिक क्षेत्रों में मूल्य वृद्धि के कारण उपभोक्ताओं के विरोध को बहुत महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। (७) कर लगाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उससे निवेश और उद्यम के विकास में उत्साह की कमी न हो। (८) श्रमिकों का योगदान सरकार द्वारा सामाजिक सुरक्षा योजनाओं पर व्यय से अधिक होना चाहिए। (९) सुरक्षा पर अत्यधिक व्यय के आर्थिक परिणामों को ध्यान में रखना चाहिए। जब देश दीवालिया हो रहा हो तो सुरक्षा पर अत्यधिक व्यय न्यायसंगत नहीं है। (१०) सामाजिक सुरक्षा के पूंजीगत व्ययों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, विशेषतया ऐसे क्षेत्रों में जहां अस्पताल के लिए भवन इत्यादि कम हैं। (११) यदि देश की अर्थव्यवस्था कमजोर होती हो तो अन्य देशों को आर्थिक सहायता देना व्यर्थ है। जबकि भुगतान शेष का संकट देश के सामने हो तो देश के बाहर पूँजी नहीं जाने देना चाहिए। (१२) अब तक नियंत्रणों तथा प्रतिबन्धों से मुद्रास्फीति को काबू में रखा गया था परन्तु इससे आर्थिक विकास में रुकावट पड़ी। भले ही विनियोग बराबर बढ़ता रहा फिर भी उत्पादन नहीं बढ़ा जिससे कि कई वर्षों से उद्योगों में लगी पूँजी आवश्यकता से अधिक है। सरकारी प्रतिबंधों तथा नियंत्रणों के साथ साथ उद्योगों में लगी पूँजी बढ़ती रही या उसी स्तर पर स्थिर रही। मुद्रास्फीति की समाप्ति के लिए इस प्रकार प्रयत्न किए जाने चाहिए जिससे आर्थिक विकास की गति संतोषप्रद रहे। यह तभी सम्भव है जब कि राजनीतिक तथा सामाजिक विचारधारा में मौलिक परिवर्तन हों और सरकारी तथा गैरसरकारी क्षेत्रों में आर्थिक संस्थाओं के संगठन में सुधार हों। सरकार तथा श्रमिकों, श्रमिक संघों और मिल मालिकों में सहयोग होना आवश्यक है। श्रमिकों से सम्बन्धित मजदूरी नीति ऐसी होनी चाहिए कि उत्पादन में रुकावट न पैदा हो और लागत भी न बढ़े। अब तक मुद्रास्फीति चलते रहने का यह कारण है कि सरकार, मालिकों और श्रमिक संघों में सहयोग की कमी है और अर्थव्यवस्था के इन साझेदारों के मिलजुल कर काम करने से ही मुद्रास्फीति कम करने में संतोषप्रद प्रगति होगी। (१३) तीव्र गति के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन का सहारा लिया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् (NEDC). जुलाई १९६१ में वित्त मंत्री श्री सेलविन लायड ने सबसे पहले शासकीय सुझाव दिया कि किसी न किसी प्रकार की नियोजन संस्था की स्थापना की जानी चाहिए। यह विचार फ्रांस से फैला होगा क्योंकि फ्रांस की जीन मोनेट (Jean Monnet) योजना के परिणामस्वरूप वहां उत्पादन स्तर और व्यापार का स्तर अच्छा रहा। इस सफलता के कारण अर्थ-शास्त्रियों ने फ्रांसीसी योजना विधियों में काफी रुचि ली। राष्ट्र की आर्थिक स्थिरता तथा लगातार विकास सुरक्षित रखने के लिए राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद्

(National Economic Development Council) फरवरी १९६२ में स्थापित की गयी। इसका स्थान आर्थिक नियोजन की प्रमुख संस्था के रूप में था। परिषद् ने अब तक यूनाइटेड किंगडम के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में अपने विचार तथा कार्य के ऊपर कई प्रतिवेदन प्रकाशित किए हैं। इसका आखिरी प्रतिवेदन मार्च १९६४ में प्रकाशित हुआ।

इस संस्था की प्रमुख विशेषता यह है कि यह पूर्णतया राजकीय विभाग नहीं है। इसके सदस्यों में छः श्रमिक संघ के कार्यकर्त्ता, छः उद्योगपति, राष्ट्रीयकृत उद्योगों के दो अध्यक्ष, वित्त मंत्री, व्यापार परिषद् के अध्यक्ष तथा श्रम मंत्री हैं। यह उद्योग तथा अर्थव्यवस्था की अन्य शाखाओं के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करते हैं। इस प्रकार परिषद् का एक विशिष्ट स्थान है। इसके सदस्य राजकीय कर्मचारी नहीं होते, पर सामान्य रूप से वे सार्वजनिक कर्मचारी हैं।

उद्देश्य. परिषद् के उद्देश्य निम्नांकित हैं। (१) राष्ट्र के आर्थिक निष्पादन (performance) की जांच करना। इस कार्य में उद्योग के निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों की भावी योजनाओं पर विशेष ध्यान देने की व्यवस्था है। (२) इस बात पर विचार करना कि आर्थिक विकास तीव्र गति से कैसे हो, इसमें क्या क्या बाधाएँ हैं, इनकी कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए क्या क्या किया जा सकता है और साधनों का अच्छा उपयोग किया जा रहा है या नहीं। (३) आर्थिक निष्पादन, प्रतियोगी शक्ति तथा कार्यकुशलता के बढ़ाने के उपायों के सम्बन्ध में लोकमत तैयार करने के लिए प्रयत्न करना, अथवा अन्य शब्दों में आर्थिक विकास को सुदृढ़ करना।

परिषद् के सबसे पहले प्रतिवेदन का नाम है, १९६६ तक यूनाइटेड किंगडम की अर्थव्यवस्था का विकास (Growth of the United Kingdom Economy to 1966)। यह प्रतिवेदन आर्थिक योजना के रूप में है। इसमें सत्रह उद्योगों के प्रारम्भिक जांच का वितरण है। कुछ मान्यताओं और पूर्वानुमानों के आधार पर १९६६ में सम्भावित कुल राष्ट्रीय आय के अनेक अनुमान इस प्रतिवेदन में हैं। इसमें उत्पादन के कारक (factors of production), पूर्ण रोजगारी, निदेश तथा शक्ति सम्बन्धित पूरक आय व्ययक (budget) और अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के मांग और उपभोग के पूर्वानुमान हैं। सत्रह बड़े उद्योगों की अनुमानित ४·८ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि में ४ प्रतिशत औसत वृद्धि की आशा की गई है। शेष आर्थिक क्षेत्र की प्रगति में ३·५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की आशा है। रोजगारी १९६१ में २४९ लाख से बढ़ कर १९६६ में २५९ लाख हो जाने का अनुमान है। इसमें से लगभग एक-तिहाई वृद्धि सत्रह उद्योगों से होगी। प्रति मजदूर उत्पादन करीब

४ प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ेगा। १९६१-६६ में उपभोग ३·५ प्रतिशत बढ़ेगा। निर्यात में ५ प्रतिशत और आयात में ४ प्रतिशत वृद्धि होगी।

तीव्र प्रगति के अनुरूप परिस्थितियां नामक दूसरी रिपोर्ट एक तरह से पहली रिपोर्ट की पूरक है। यह १९६३ में प्रकाशित हुई। इसमें अनेक समस्याओं के सम्बन्ध में विवरण था, जैसे (१) शिक्षा अर्थात् श्रमिक प्रशिक्षण केन्द्रों, वैज्ञानिकों विश्वविद्यालयों और उद्योगों में निकट सम्पर्क; (२) मजदूरों में गतिशीलता अर्थात् मजदूरों को बचत क्षेत्रों से नए उद्योग स्थानों में स्थानान्तरित करना; (३) क्षेत्रीय प्रश्न अर्थात् क्षेत्रीय विकास के कार्यक्रम चालू किए जाने चाहिए, जिससे जहां अधिक बेकारी हो वहां नए उद्योग केन्द्र खोले जायं; (४) मुद्रा भुगतान संतुलन विषयक नीतियां, जिनसे ब्रिटेन पर विदेशों में पूँजी लगाने पर रोक लगायी जाय; (५) कर जिससे करों में सुविधाएँ प्रदान कर विदेशी पूँजी आकर्षित की जाय; (६) मांगों की सीमाबन्दी जिससे जनता की मांगों को बढ़ने न दिया जाय; (७) मूल्य और आय सम्बन्धी ऐसे उपाय किए जाने चाहिए जिनसे वास्तविक आय तो बढ़े पर वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि न हो; (८) विदेशी व्यापार, ऋण और अग्रिम भुगतान, अर्थात् छोटे व्यापारिक संस्थानों को विदेशों में माल बेचने के लिए ऋण और पेशगी दी जानी चाहिए। जो उत्पादक विदेशी माल से प्रतिस्पर्द्धा करते हैं उन्हें सुविधाएँ दी जानी चाहिए तथा विदेशी वस्तुओं के आयात पर नियंत्रण लगाया जाना चाहिए।

१९६४ के प्रतिवेदन में राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् ने उल्लेख किया कि १९६३ में अनुमानित ३·२ प्रतिशत से अधिक वार्षिक उत्पादन हुआ। यह उत्पादन ६ प्रतिशत वार्षिक दर से हुआ। पर प्रतिवेदन में चेतावनी दी गई थी कि भूतकाल में ऐसे भी अवसर आए हैं जब आर्थिक उपलब्धि (recovery) के बाद वर्षों तक उत्पादन बहुत कुछ स्थिर रहा है। प्रतिवेदन में बड़ी सावधानी के साथ यह सुझाव दिया गया है कि यदि कुछ कठिनाइयों को हल किया जा सके तो विकास होता रहेगा। मुख्य कठिनाइयां ये हैं : (क) लागत और मूल्यों में स्थिरता की प्राप्ति; (ख) निर्यात वृद्धि; (ग) जनशक्ति का समुचित उपयोग।

राष्ट्रीय विकास परिषद् का मत था कि १९६४ में स्थिति अनुरूप चल रही है, पर आन्तरिक मांग इतनी बढ़ गयी है कि इसका भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगा है, अतएव कठिनाई निर्यात की है। गत दो वर्षों की अनुकूल परिस्थितियों के होने पर भी आयात निर्यात से बहुत बढ़ गया है। १९६६ तक ४ प्रतिशत वृद्धि दर उपलब्ध करना शायद ही सम्भव हो सके, क्योंकि निर्यात आवश्यकता से बहुत कम ही होगा। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान स्थिति में ब्रिटेन की प्रगति उतनी अच्छी नहीं है जितनी होनी चाहिए।

पहले प्रतिवेदन में निर्यात की जो दर निश्चित की गयी थी उससे अधिक निर्यात हो रहा है। इसमें ४ प्रतिशत के स्थान पर ४·७ प्रतिशत वृद्धि हुई है, पर पूर्ण निर्मित वस्तुओं के आयत में भी वृद्धि हुई है। अतएव ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि निर्यात के भुगतान में कठिनाई होगी। राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् ने सुझाव दिया है कि ग्रेट ब्रिटेन को निर्यात वृद्धि करने के साथ आयात में कटौती करने पर विचार करना चाहिए। उसने १९६६ के लिए नमूने के तौर पर सत्रह उद्योगों की वृद्धि के लक्ष्य निश्चित किए हैं।

इनमें से कोई भी प्रस्ताव नया नहीं है। समय समय पर अन्य संगठनों ने भी उन पर विचार किया है। अन्तर केवल यह है कि इनके सम्बन्ध में उच्चस्थ मंत्रियों, प्रमुख मजदूर संघ नेताओं और उद्योगपतियों ने परिषद् द्वारा प्रस्तुत उपायों को सरकारी तौर पर अंगीकार किया है, और उन पर गम्भीरता से विचार किया है। राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् की स्थापना ब्रिटिश अर्थनीति में एक स्वस्थ विकास का सूचक है जो आदर्श योजना बनाने के लिए उद्योगों, विशेषतः सत्रह उद्योगों, से सम्पर्क स्थापित कर भावी विकास के लिए उनके विचारों पर ध्यान देगा। परन्तु इसके विरुद्ध भी कई प्रकार की आलोचनाएँ हैं।

पहला, राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् के प्रतिवेदन सरकारी अर्थनीति अधिकारपूर्ण प्रलेख नहीं हैं। वे केवल अपनी राय देते हैं और कभी-कभी सरकारी नीति की आलोचना तक करते हैं। राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् में तीन मंत्री मंत्रिमंडल का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह विश्वास करना कठिन है कि वे परिषद् की वार्ताओं में सक्रिय भाग लेते हैं। इस प्रकार से राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् के प्रतिवेदन न तो सरकारी प्रलेख हैं और न मंत्रिमंडलीय स्मृतिपत्र ही। १९६६ की योजना के बारे में सामान्य मत यह है कि यह कागजी कार्यवाही मात्र रहेगी। इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है कि क्या परिषद् का लक्ष्य निर्धारित करने के अतिरिक्त और कोई कार्य रहेगा।

दूसरे, राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् तथा अन्य प्रशासकीय विभागों और संगठनों में समुचित समन्वय नहीं है। वित्त विभाग और राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् में प्रतिद्वंद्विता बढ़ सकती है। ऐसी स्थिति में वित्तमंत्री कठिन स्थिति में पड़ सकते हैं। वर्तमान वित्त मंत्री राष्ट्रीय विकास परिषद् के सामान्य उद्देश्यों को बहुत कुछ मानते हैं और उनकी पूर्ति के लिए उनमें और अपने विचारों में समन्वय स्थापित करना चाहते हैं। फिर भी यह जानना दिलचस्प होगा कि वित्त मंत्री राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् और वित्त मंत्रालय से समान रूप से सलाह लेते थे या वित्त मंत्रालय

से राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद की सलाह के बारे में विचार करते थे। यदि वित्त मंत्री राष्ट्रीय विकास परिषद् की सलाह के बारे में वित्त मंत्रालय की राय न लेते तो एक गैर सरकारी विभाग के विचारों के सम्वन्ध में ही अपने ही विभाग के अधिकारियों के पक्ष या विपक्ष में रहना पड़ता था जब कि कुछ अर्थों में राष्ट्रीय आर्थिक विकास सरकारी संगठन ही है। यदि वह राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् पर गम्भीरता पूर्वक ध्यान देते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह वित्तमंत्रालय का प्रतिद्वंदी है। यदि वह अपने विभाग की बातों को ही अधिक मानते हैं तो इसका फल यह हुआ कि वह अपने विभाग के मत को राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् द्वारा मनवाएं या राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् का मत अपने विभाग के अधिकारियों से मनवाएं। इस तरह की प्रतिद्वंद्विता सम्भव इस कारण भी है कि राष्ट्रीय आर्थिक विकास के समिति कर्मचारी मंडल और सरकारी कर्मचारियों में कोई औपचारिक सम्पर्क नहीं है। इसी तरह वित्त मंत्रालय, वाणिज्य मंत्रालय, शक्ति मंत्रालय, श्रम मंत्रालय और अन्य मंत्रालयों को भी प्रशासकीय निर्णय करने में कठिनाईयां होंगी क्योंकि परिषद् की सिफारिशें वस्तुतः सरकारी नीति नहीं है।

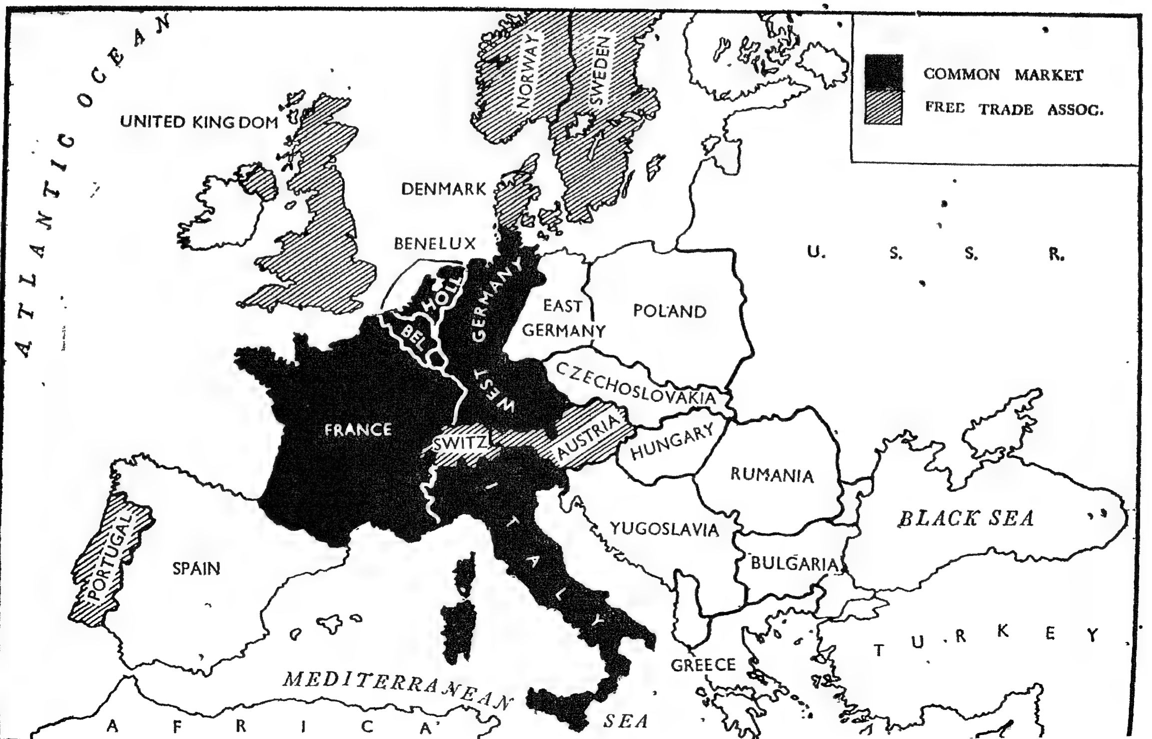
तीसरे, प्रतिवेदन में केवल सत्रह उद्योगों का ही समावेश है। कहा जाता है कि सरकारी योजना को अंगीकृत करने के फलस्वरूप और भी कई उद्योगों पर प्रभाव पड़ेगा। कुछ मामलों में अनुमानित मांग कम है तथा अतिरिक्त उत्पादन के लिए अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता पड़ेगी। जब कुछ ही उद्योगों का समावेश किया जायेगा तब पूर्ण आर्थिक स्थिति पर उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। अतएव एक राष्ट्रीय अर्थात् पूर्ण व्यापक आर्थिक योजना तैयार करने के विषय में सुझाव दिए गए हैं। कहा जाता है कि राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् अपने वर्तमान रूप में योजना कार्य करने के लिए उपयुक्त संगठन नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि इसने अभी तक जो कार्य किया है वह मूल्यवान है पर इसे आर्थिक नियोजन कहना भ्रामक होगा। यदि हम राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् के कार्य का पूरा उपयोग करना चाहते हैं तो योजना की आवश्यकता है जब कि इन्हें तैयार करने के लिए संख्यात्मक अनुमान और उनकी पूर्ति के लिए उत्साहपूर्ण कार्यवाही आवश्यक है। आर्थिक नियोजन का तंत्र (instrument) अभी स्थापित करना ही है। आर्थिक नीति निर्धारण के लिए आर्थिक नियोजन प्रणाली के प्रति श्रमिक सरकार के बाद भी सहानुभूति है। पर यह न समझना चाहिए कि इसके लिए उपयुक्त राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् के रूप में प्रस्तुत है और काम आरम्भ हो गया है। इस तरह की मान्यता का कोई आधार नहीं है। वास्तविकता यह है कि कुछ महत्वपूर्ण निर्णय करना शेष है।

चौथे, राष्ट्रीय आर्थिक परिषद का क्षेत्र आर्थिक विकास की अड़चनों का प्रभावपूर्ण हल खोज निकालना है। ये अड़चनें हैं : कर नीति, शिक्षा, अन्वेषण सम्बन्धी सुविधाएं, मालिक मजदूर सम्बन्ध, उद्योगों का वितरण, भुगतान शेष इत्यादि। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि आय की समस्या जो कि आर्थिक विकास का सब से बड़ा अवरोध है, परिषद् के कार्य क्षेत्र के बाहर है। यह अनुभव किया जा रहा है कि लोकतंत्रीय ढांचे में आर्थिक विकास की गति बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि आय को उत्पादकता के साथ साथ बढ़ना चाहिए।

राष्ट्रीय आय आयोग. जुलाई १९६२ में यूनाइटेड किंगडम सरकार ने राष्ट्रीय आय आयोग (National Incomes Commission) की घोषणा की और बाद में इसे स्थापित किया गया। इसके मुख्य काम सरकारी, गैर सरकारी और अन्य महत्वपूर्ण सेवाओं के मजदूरी और वेतन सम्बन्धी दावों की जांच करना है। इसके प्रतिवेदन नियमित रूप से प्रकाशित होंगे।

इस आयोग की स्थापना करने का प्रश्न तब उठा जब यह अनुभव किया गया कि आय नीति का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है तथा ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने यह शर्त तक लगा दी कि राष्ट्रीय आर्थिक विकास समिति इस पर विचार तक नहीं कर सकती। ऐसा मालूम पड़ता है कि मजदूर नेताओं को यह भय रहा कि यदि वे मजदूर संघों की ओर से मजदूरी विषयक नीति के बारे में किसी तरह वचन बद्ध हो जाएंगे तो वे अपने वचनों की पूर्ति नहीं कर सकेंगी। यह तो स्पष्ट है कि किसी भी दीर्घकालीन विकास नियोजन में आय के बारे में भी नियोजन करना ही पड़ेगा और इसका मजदूर संघों के ऊपर बहुत कुछ प्रभाव पड़ेगा। यह भी हो सकता है कि राष्ट्रीय आर्थिक विकास योजना परिषद् और राष्ट्रीय आय आयोग को एक कर दिया जाय तथा राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् को मार्ग दर्शन का कार्य सौंपा जाय।

योरोपीय साझा मंडी. विकास की गति बढ़ाने और वर्तमान आर्थिक गतिहीनता को हटाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम यह था कि ब्रिटेन योरोपीय साझा मंडी (European Common Market) में सम्मिलित हो। योरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community) सामान्यतः साझा मंडी के नाम से पुकारा जाता है। इसकी स्थापना २५ मार्च १९५७ की रोम संधि होने तथा इसकी छः सरकारों द्वारा पुष्टि होने के बाद हुई। इसमें बेल्जियम, फ्रांस, फेड्रल रिपब्लिक आफ जर्मनी, इटली, लक्जेमबर्ग और निदरलैंड सम्मिलित हैं। इसका कार्य १ जनवरी १९५८ को आरम्भ हुआ। इसका उद्देश्य छः सदस्य राज्यों में सन्तुलित आर्थिक विकास करना और जीवन स्तर ऊंचा करना था। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सदस्य


COMMON MARKET
FREE TRADE ASSOC.
ATLANTIC OCEAN
UNITED KINGDOM
NORWAY
SWEDEN
DENMARK
BENELUX
HOLL
BEL
WEST GERMANY
EAST GERMANY
POLAND
U. S. S. R.
CZECHOSLOVAKIA
AUSTRIA
HUNGARY
RUMANIA
FRANCE
SWITZ
ITALY
YUGOSLAVIA
BULGARIA
BLACK SEA
TURKEY
GREECE
PORTUGAL
SPAIN
MEDITERRANEAN SEA
AFRICA

राज्य निम्नलिखित कार्यवाही करेंगे : (१) सदस्य राज्यों के बीच आयात निर्यात पर संख्यात्मक रोक तथा समुद्री चुँगी (customs) समाप्त करना, व्यक्तियों, सेवाओं और पूँजी पर से रोकें हटाना। (२) कृषि और यातायात की समान नीतियां आरम्भ करना। (३) साझा मंडी में प्रतिद्वंद्विता प्रणाली लागू करना। (४) साझा मंडी के बाहर के देशों के साथ समान वाणिज्य नीति अपनाना।

इसके अनुसार एक योरोपियन इन्वेस्टमेंट बैंक स्थापित होना था। इस बैंक का काम सदस्य राज्यों में आर्थिक विकास करना था। इसलिए एक योरोपीय विशेष कोष की स्थापना भी की गई थी जिससे रोजगार और जीवन स्तर बढ़े। समय-समय पर भुगतान संतुलन में संकट उत्पन्न होने की स्थिति में सदस्य राज्यों की आर्थिक नीतियों में एक-सूत्रता स्थापित करने के तरीके निश्चित करना था। इस संधि के अन्तर्गत बारह वर्षों में चार-चार वर्षों की अवधि के कार्यक्रम पूरे करने थे।

आरम्भ में छः देश नए सदस्यों की भरती करने के लिए तैयार थे, पर यूनाइटेड किंगडम ने इसमें सम्मिलित होने से मना कर दिया, क्योंकि (१) इससे उन राज्यों के प्रति भेदभाव होता है जो इसके सदस्य नहीं थे। यदि ब्रिटेन साझा मंडी में सम्मिलित होता तो उसे राष्ट्रीय मंडलीय देशों के प्रति रियायती (preference) व्यवहार का परित्याग करना पड़ता। (२) वह मंडी में सम्मिलित हो कर राजनीतिक एकता के विचार को कार्यान्वित नहीं करना चाहता था। वास्तव में यूनाइटेड किंगडम ने तो एक प्रतिद्वन्दी दल भी खड़ा कर दिया। इसका नाम योरोपियन फ्री ट्रेड एसोसिएशन (योरोपीय मुक्त व्यापार संघ) था। इसमें योरोप के सात देश सदस्य थे—ब्रिटेन, स्वीडन, डेनमार्क, नार्वे, स्विटजरलैंड, आस्ट्रिया और पुर्तगाल। इस संगठन में हर देश को संसार के बाकी देशों के साथ अपनी स्वतंत्र तटकर नीति विकसित करने का अधिकार था। साझा मंडी के मामले में सदस्य राज्यों की गैर सदस्य राज्यों के सम्बन्ध में समान नीति थी। १९६१ तक ब्रिटेन साझा बाजार में पूर्ण सदस्य के रूप में सम्मिलित होने के लिए राजी नहीं था। ब्रिटिश सरकार के मंत्री अपनी सरकारी घोषणाओं में यह घोषित करते रहे कि योरोपीय साझा मंडी में ब्रिटेन के सम्मिलित होने के मार्ग में मुख्य कठिनाई उसकी राष्ट्रमंडल के प्रति चिन्ता थी। यदि उसे योरोप और राष्ट्र-मंडल के बीच में चुनाव करना है तो वह राष्ट्र मंडल को ही चुनेगी। पर १९६१-६२ में ब्रिटेन योरोपीय मुक्त व्यापार के तीन सदस्यों—आयरलैंड नार्वे और डेनमार्क—के साथ साझा मंडी का सदस्य भी बनने के लिए तैयार हो गया।

इसके सदस्यता प्रार्थनापत्र पर ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों में विवाद उत्पन्न हो गया कि क्या ब्रिटेन को साझा मंडी से लाभ होगा? उसे साझा मंडी से क्या

हानि होगी? इसका राष्ट्रमंडलीय देशों की आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

साझा मंडी के पक्ष में तर्क. साझा मंडी में ब्रिटेन की सदस्यता के पक्ष में अनेक राजनीतिक और आर्थिक तर्क थे। राजनीतिक कारणों में सबसे महत्वपूर्ण यह था कि पश्चिमी जर्मनी दिन पर दिन अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है और भविष्य में योरोप का भाग्य पश्चिमी जर्मनी पर आश्रित होने की आशंका थी। ब्रिटेन की परम्परागत विदेश नीति का मूल लक्ष्य यह रहा है कि योरोप पर किसी भी एक राज्य का प्रभुत्व स्थापित न होने दिया जाय, और योरोपियन साझा मंडी से बाहर रहने पर यह डर था कि धीरे-धीरे ब्रिटेन का महत्व कम हो जाएगा। एक अन्य पहलू यह भी है कि एक योरोपीय संयुक्त राज्य सुदृढ़ होरहा था। ब्रिटेन और साझामंडी के देशों में मतभेद होने पर यह स्पष्ट था कि योरोपीय संयुक्त राज्य छः देशों का पक्ष लेगा जो कि तर्क संगत है। उन छः देशों की जनसंख्या ब्रिटेन से साढ़े तीन गुनी अधिक है। उनकी आर्थिक क्षमता भी अधिक बढ़ी चढ़ी है। उनकी संयुक्त आर्थिक शक्ति संयुक्त राज्य अमरीका के टक्कर की है और रूस से बढ़ी चढ़ी है। मित्र के रूप में सामूहिक रूप से वे ब्रिटेन से अधिक महत्वपूर्ण हैं। दूसरे, साझामंडी निर्माताओं का मुख्य उद्देश्य छः देशों को राजनीतिक सूत्र में बांधना था।

साझा मंडी में ब्रिटेन के सम्मिलित होने के पक्ष में भी कई आर्थिक तर्क दिए जाते थे। पहला, साझा मंडी के देश जर्मनी से भी अधिक तीव्र गति से विकसित हुए हैं और वे वृद्धिशील बाजार और प्रवैगिक (dynamic) आर्थिक क्षेत्र हैं। दूसरी ओर आज के राष्ट्र मंडलीय देश हैं जिन से ब्रिटेन का सम्बन्ध है और जहां ब्रिटेन का अधिकांश निर्यात होता है। इन देशों के बाजार अपेक्षाकृत मंद और आर्थिक रूप से गतिशून्य हैं। यदि ब्रिटिश उद्योग को बिना किसी संरक्षण के जर्मन और फ्रांसीसी उद्योगों से स्पृद्धा करनी पड़े तो उसे गतिशील और कार्यकुशल रीतियों को अपनाना ही पड़ेगा। कहा जाता है कि योरोपीय साझा मंडी का वास्तविक मूल्य इस बात में है कि यहां सफल लोगों के लिए बहुत अच्छे अवसर हैं। यहां पर अकुशलता की हानियों की अपेक्षा कुशलता का पुरस्कार अधिक मिलेगा। साझा मंडी में सम्मिलित होने वाले देशों की सम्पत्ति बढ़ रही थी और वस्तुओं की मांग भी बढ़ रही थी। यह अनुभव किया गया कि ब्रिटेन के पूंजीगत साजसामान, मोटरों, टिकाऊ उपभोग सामग्री आदि के निर्यात के लिए कम से कम आगामी दस वर्ष तक साझा मंडी ही उपयुक्त है यदि तटकरों के द्वारा यूनाइटेड किंगडम को उससे दूर न रखा जाय।

दूसरे, ब्रिटेन उस आर्थिक नियम के प्रति सजग था जिसपर कि साझा मंडी आश्रित थी। जितना बड़ा बाजार होगा उतना ही अधिक कुशलता से उद्योग संचालन

होगा। जैसे-जैसे औद्योगिक यंत्रों का विकास होगा, वैसे वैसे सामान्य उद्योग अधिक अच्छी तरह चलेंगे। यही कारण है कि संयुक्त राज्य अमरीका के उद्योग बहुत सफल हैं। रूस में उद्योग को हाल में जो सफलताएं मिली हैं उसका कारण रूसी बाजार का असाधारण विस्तृत क्षेत्र है। योरोपीय साझा मंडी स्थापित करने का यही सबसे बड़ा कारण था। जो संस्थान जितने बड़े बाजार की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा वह उतना ही अधिक समक्ष होगा और उसका विकास भी होगा। अतएव साझा मंडी सदस्यता के ब्रिटिश उद्योग पर दो तात्कालिक प्रभाव पड़ेंगे : यह उन्हें उन कार्यों को करने में प्रेरणा देगा जो वह अच्छी तरह कर सकते हैं और यह उन्हें अपने अन्य कामों को अधिक कुशलतापूर्वक करने में सहायक होगा। अतएव इससे अधिक लाभ होगा। उन्हें आर्थिक दृष्टि से लाभ होगा या हानि यह दो बातों पर निर्भर है : पहला, पूरी साझा मंडी में वस्तुओं की मांग किस दर से बढ़ती है और दूसरा, योरोप के अन्य देशों की तुलना में उनके उद्योगों का संचालन कितनी कुशलता से होता है। साझा मंडी में सम्मिलित होने का यह तो अर्थ नहीं है कि इससे आन्तरिक सुधार अपने आप हो जायेंगे। परन्तु इन सुधारों की आवश्यकता और भी तात्कालिक हो जाएंगी। साझा मंडी में सम्मिलित होने से कुछ हानि और कुछ लाभ हैं, पर इसमें सम्मिलित न होने से केवल हानि ही है।

साझा मंडी में सम्मिलित होने के विरुद्ध तर्क. ब्रिटेन के साझा मंडी में सम्मिलित होने के विरुद्ध दो तरह के तर्क थे। अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने यह सिद्ध करने के लिए विभिन्न तर्क प्रस्तुत किए कि मंडी में सम्मिलित होने से कोई विशेष लाभ नहीं हैं और उन्हें तो साझा मंडी का सदस्य बने बिना ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि ब्रिटेन साझा मंडी में सम्मिलित हुआ तो उसके लिए कुछ नवीन समस्याएं उत्पन्न हो जाएंगी।

यदि साझा मंडी के सदस्य तेजी से प्रगति कर रहे हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह समान चुँगी संघ (common customs union) के फल स्वरूप हैं। उनकी तीव्र गति से प्रगति तो साझा मंडी की स्थापना के पहले से ही थी। यदि ब्रिटेन साझा मंडी में सम्मिलित न हो तो भी उसका व्यापार तो बढ़ेगा ही और यदि ब्रिटिश व्यापार के विस्तार के लिए साझा मंडी में सम्मिलित होना आवश्यक ही हो तो यह इसके बिना भी किया जा सकता है। प्रतिस्पर्धा का सिद्धान्त यथार्थ वस्तुतः लागू नहीं किया जा सकेगा क्योंकि साझा मंडी एकाधिकार तथा समामेलन के सिद्धान्त पर निर्मित है। कुछ लोगों का कहना था कि बड़े पैमाने पर उत्पादन करने विषयक लाभ ब्रिटेन के लिए सम्भव नहीं है क्योंकि उसे यह लाभ पहले से ही प्राप्त

हैं तथा किसी उद्योग के आकार को निर्धारित करने के लिए केवल बाजार का बड़ा आकार मुख्य कसौटी नहीं है।

ब्रिटेन के प्रमुख अर्थशास्त्रियों का मत था कि यदि ब्रिटेन साझा मंडी में सम्मिलित न हो तो इसके घातक परिणाम नहीं होंगे। आक्सफोर्ड के जी० डी० ए० मैक्डूगल ने लिखा कि साझा मंडी में ब्रिटेन के सम्मिलित होने के लिए जो भी तर्क प्रस्तुत किए गए हैं वे सबल नहीं हैं। उनके मतानुसार यह भी सम्भव था कि ब्रिटेन का प्रवेश उसकी आर्थिक कठिनाइयों में वृद्धि करदे। जहां तक बड़े पैमाने पर उत्पादन की अर्थनीतियों और साझा मंडी के व्यापक बाजार का प्रश्न है वह ५०० लाख व्यक्तियों के घरेलू और उच्च स्तर के बाजार और संसार के दूसरे बाजारों में निर्यात द्वारा पूरा किया जा सकता है। ब्रिटिश सरकार को उद्योगों के उत्पादन खर्च में कमी करने के लिए प्रमाणीकरण अपनाना चाहिए। ब्रिटेन जिन सस्ते बाजारों से आयात कर रहा है यदि उसके बदले योरोप के मंहगे बाजारों से आयात करेगा तो इससे उसे हानि होगी। मैक्डूगल का विश्वास था कि ब्रिटेन को साझा बाजार में प्रवेश करने से अपनी राष्ट्रीय आय का १ प्रतिशत लाभ भी नहीं होगा।

दूसरे तरह के तर्क नयी समस्या से सम्बन्धित थे। उनका मुख्यतः सम्पर्क कृषि, राष्ट्रमण्डलीय देश और आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों से था।

कृषि के सम्बन्ध में अनुभव किया जाता था कि चूँकि ग्रेट ब्रिटेन राष्ट्रमण्डलीय देशों से सस्ता अनाज आयात करता था, उसके बदले साझा मंडी से उसे अपेक्षाकृत अधिक दरों पर खाद्य और कच्चा सामान खरीदना पड़ेगा। आयात किए हुए खाद्य पदार्थों का मूल्य वार्षिक कई करोड़ पौंड अधिक बढ़ जायगा। इससे भुगतान संतुलन की समस्या उत्पन्न हो जाएगी। इंगलैंड में खाद्य की मूल्य वृद्धि से जीवन स्तर व्यय बढ़ जाएगा। इससे मजदूरी और उत्पादन व्यय बढ़ेंगे और वे निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव डालेंगे। साझा मंडी में सम्मिलित होने से कृषकों को भी कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि वर्तमान काल में किसानों को अनुदान और उपदान तथा अन्य संरक्षण प्राप्त हैं जो ब्रिटेन के साझा मंडी सदस्य बन जाने के बाद नहीं रहेंगे।

अविकसित देशों तथा राष्ट्रमण्डलीय देशों के हितों की दृष्टि से यह कहा गया कि साझा मंडी में सम्मिलित होने से राष्ट्रमण्डलीय देशों पर बोझ बढ़ जाएगा। ब्रिटिश बाजार उनकी पहुंच से बाहर हो जाएगा। १९६२ के राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मंत्री सम्मेलन में कई देशों के प्रतिनिधियों ने ब्रिटेन का साझा बाजार में सम्मिलित होने का विरोध किया। आक्सफोर्ड के आर० एफ० हैरोड ने लिखा कि यदि ब्रिटेन साझा मंडी में सम्मिलित हुआ तो इससे अविकसित देशों को बड़ी हानि होगी। उन्हें आशंका

थी कि साझा मंडी के चारों ओर तटकरों की ऊंची दीवाल खड़ी हो जाएगी जो सम्भवतः राष्ट्रमण्डलीय देशों और अन्य विकासशील देशों के निर्यात को रोक देगा जिसके परिणाम उनकी विकास योजनाओं के लिए घातक होंगे। यदि रोम संधि की शर्तों को ब्रिटेन पर लादा गया तो ब्रिटेन के लिए उचित यह होगा कि वह प्रवेश के लिए उन्हें स्वीकार करने के स्थान पर प्रतीक्षा करे। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रिटेन को रोम संधि की शर्तों में संशोधन कराना चाहिए जिससे कि विकासशील देशों को कुछ आवश्यक सुविधाएँ मिलें। यदि ऐसा नहीं होता तो उसे प्रतीक्षा करनी चाहिए।

हर देश यह मानता था कि यदि ब्रिटेन साझा मंडी में सम्मिलित हो तो राष्ट्रमण्डलीय देश के लिए विशेष व्यवस्था होनी चाहिए। सही तरीका तो यह होगा कि इस समस्या का समाधान देश-देश और वस्तु-वस्तु को ध्यान में रख कर किया जाय।

विभिन्न आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में यह माना जाता था कि ग्रेट ब्रिटेन ऐसी सामाजिक नीति का अनुसरण कर रहा है जो बहुत प्रगतिशील है। उसकी मूलनीति उसकी अर्थव्यवस्था के अनुरूप है। उसकी भौतिक नीति भी प्रगतिशील है। उसकी मुद्रा नीति की कुछ मुख्य विशेषताएं हैं। ब्रिटिश सामाजिक सुरक्षा व्यय पर ५० प्रतिशत से भी अधिक अंश सरकार उठाती है जबकि फ्रांस में यह केवल ५ प्रतिशत और पश्चिमी जर्मनी में १८-१९ प्रतिशत से अधिक नहीं है। ब्रिटिश कर प्रणाली अधिक प्रगतिशील है। साझा मन्डी में प्रवेश करने के बाद ब्रिटेन परिस्थिति के अनुरूप कितने परिवर्तन कर सकेगा, इसमें बहुत संदेह है। अतएव विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस योजना का या तो विरोध किया या साझा मंडी के सदस्य राज्यों से विशेष सुविधाओं की मांग की। यदि ब्रिटेन साझा मन्डी में सम्मिलित होता तो ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकृत अनेक प्रगतिशील योजनाओं को खतरा उपस्थित हो सकता था।

अन्तिम निर्णय. पूरा विषय बहुत ही विवाद ग्रस्त था तथा साझा मन्डी में ब्रिटेन के प्रवेश के सम्बन्ध में विभिन्न प्रश्न और उलझने थीं। अन्त में फ्रांस ने ब्रिटेन के प्रवेश का विरोध किया। उसने यह मूलभूत प्रश्न उठाया कि रोम की संधि विभिन्न देशों के बीच संतुलित समझौता थी। चूंकि ब्रिटेन इसमें अनेक संशोधन चाहता है जिनसे सन्धि की जड़ों पर ही आधात पहुंचता अतएव उसे बाहर रहना चाहिए। अन्त में ब्रिटेन योरोपीय आर्थिक समुदाय में सम्मिलित नहीं हुआ। उसकी बुनियादी समस्याएं और नीतियां वैसी ही हैं जैसी वे साझा मन्डी वार्ताएं आरम्भ होने के पहले थीं।

नई श्रमिक सरकार, १९६४. तेरह वर्षों के अनुदार दल के शासन के बाद श्रमिक दल ने अक्टूबर १९६४ में सत्ता ग्रहण की। अनुदार दल सरकार का कार्य काल न तो कुशासन का था और न इसपर कोई राष्ट्रीय संकट का प्रभाव पड़ा था। यद्यपि अर्थव्यवस्था मंदगामी थी फिर भी राष्ट्र में समृद्धि थी। यदि अर्थव्यवस्था मंदगामी थी तो इसके कारण अनुदार सरकार की नीतियों और व्यवहार में आसानी से नहीं खोजे जा सकते। फिर भी लोग अनुदार शासन से ऊब गए थे और इस बीच ब्रिटेन को समयं के साथ लाने की बहुत चर्चा हो रही थी। जनता ने श्रमिक दल के पक्ष में मतदान किया। इसका अर्थ यह नहीं था कि बहुमत कठोर समाजवाद चाहता था वरन् वह ब्रिटेन को गतिशील बनाना चाहता था। इस सम्बन्ध में विख्यात समालोचक बर्नार्ड लेविन ने लिखा कि मैं ऐसे आधुनिक औद्योगिक समाज की रचना चाहता हूं कि जिसमें नई विधियों, नए साज सामान, नए विचार की लोगों को तब तक प्रतीक्षा न करनी पड़े जब तक कि संसार उन्हें पिछड़े हुए समझ कर त्याग चुका हो और ब्रिटेन उन्हें ग्रहण करने की आशा में हो। स्पष्ट है कि अनुदार सरकार के अन्तर्गत जनता को ऐसा लगा कि जीवन में घुन लग गया है।

नवीन श्रमिक सरकार के सामने अनेक समस्याए हैं, उदाहरणार्थ गतिहीनता और मुद्रास्फीति अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डाल रहे हैं। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अन्तर्गत और भी ऊंचे स्तर की सेवा की मांग की जा रही है जब कि वार्षिक व्यय १०,००० लाख पौंड हो चुका है और इसमें वृद्धि करना बहुत कुछ कठिन है। राष्ट्रीयकृत उद्योग धंधों का लाभांश कम है। विज्ञान और यंत्रों के क्षेत्र में कार्यशीलता अपेक्षित नहीं है और सरकार से यह आशा की जाती है कि वह उन्हें प्रतिस्पर्धात्मक स्थितियों के अनुरूप आधुनिक बनाने के लिए गतिशीलता प्रदान करे। कुछ लोगों की धारणा है कि अनेक आर्थिक समस्याओं की जड़ निर्यात की कमी ही है। ये सब समस्याएं गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न किए हुए हैं।

श्रमिक सरकार ने पदग्रहण करने के ग्यारह दिन बाद ही आयात पर अंकुश लगाए तथा सभी प्रकार के आयात कर १५ प्रतिशत बढ़ा दिए गए। यह कर धीरे-धीरे घटाए गए हैं। सरकार ने यह कदम संकट कालीन आर्थिक नीति के अंक के रूप में उठाया। इसका उद्देश्य मुद्रास्फीति को घटाना और भुगतान संतुलन की स्थिति को सुधारना था। सरकार ने नवीन प्रशासकीय निर्णय के पक्ष में तीन तर्क प्रस्तुत किये। पहला, नियंत्रण अल्पकालीन थे और वे घाटे की पूर्ति के लिए थे जो कि १९६४ में ८,००० लाख पौंड हो जाता। दूसरे, १५ प्रतिशत कर वृद्धि सब देशों के लिए थी और इसमें किसी विशेष बाजार के प्रति भेदभाव नहीं किया गया। तीसरे, इसका उद्देश्य आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करना था जिससे कि सम्पूर्ण पश्चिमी मित्र

[दे]शों को लाभ होगा। बहुत देशों ने इस मत का विरोध किया और इसपर रोष प्रगट [कि]या। बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने इसके अन्तर्गत संरक्षणात्मक वृत्ति का विरोध किया।

निर्यात बढ़ाने के उपाय भी किए गए हैं। ये उपाय निर्यात के लिए अनेक रियायतों के रूप में हैं। फरवरी १९६५ में ब्रिटेन में नेश्नल इक्सपोर्ट कौन्सिल के उद्योगपतियों और नेताओं की सलाह से कुछ नवीन उपाय निश्चित किए गए। वित्त विभाग और आर्थिक कार्य विभाग ने बहुत सी नीतियों और सुविधाओं को प्रस्तुत किया है जिनमें ये भी सम्मिलित हैं : चुने हुए व्यवसायों के लिए विदेशों को दीर्घ-कालीन सरकारी ऋण दिए जायें; एक्सपोर्ट क्रेडिट गारंटी डिपार्टमेंट ने बैंकों के खाते से अधिक राशि निकालने विषयक जो प्रतिबन्ध लगाया है उसे ढीला किया जाय जिससे निर्यात करने वालों को सुविधा मिले; निर्यात परिषदों द्वारा बाजारों के सम्बन्ध में किए जाने वाले अनुसंधान कार्यों के लिए सरकारी आर्थिक सहायता दी जाए, व्यावसायिक दलों को देश में आने और विदेशों में जाने के लिए भी आर्थिक सहायता दी जाए। सरकार यह अच्छी तरह जानती है कि यदि मुक्त उद्योग प्रणाली के अन्तर्गत जितना उत्पादन हो रहा है उससे अधिक उत्पादन बढ़ाना है तो उसे इसके लिए भरसक सहायता देनी चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि वह इस उद्देश्य की पूर्ति उत्पादन के सभी साधनों के समाजीकरण के बिना कर सकती है। उसे निजी उद्योगों को बिना अनेक अवरोधों के संचालित होने देना चाहिए जिससे वे अधिक पूंजी लगाएं। साथ ही इस बात को मना नहीं किया जा सकता कि श्रमिक दल का उद्देश्य सम्पत्ति का पुनः बंटवारा करना भी है। पर श्रमिक दल वर्तमान स्थिति में उन समाजवादी विचारों की ओर नहीं मुड़ेगा जो सम्पत्ति के फिर से बंटवारे को आर्थिक नीति का मुख्य साधन समझते हैं। सभी जानते हैं कि श्री विल्सन सम्भवतः ऐसा नहीं करेंगे। श्री शौनफील्ड ने हाल ही में लिखा है कि विल्सन की विचारधारा की मूल भावना मोटे तौर से वर्त्तमान सम्पति का फिर से बंटवारा नहीं बल्कि उसमें न्याय निहित है। यह आर्थिक विकास पर पहले से भी अधिक दृढ़ता के साथ जोर देती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो मुख्य नीति सम्बन्धी साधन हैं : पहला उत्पादन साधनों का विकास और दूसरा, अपने साधनों का जनशक्ति, यंत्रों और पूंजी में प्रभावशाली उपयोग।

निजी औद्योगिक अर्थव्यवस्था के व्यापक क्षेत्र में श्रमिक दल यथासम्भव विशाल राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत आर्थिक हस्तक्षेप की नीति अपनाएगा। इस प्रकार के नियोजन का समाजवाद के उग्ररूप से विशेष साम्य नहीं होगा। शायद यह फ्रांस या अन्य दक्षिणपंथी सरकारों द्वारा अंगीकृत सफल नियोजन के समान होगा। सरकार